हिन्दू, ईसाई एवं इस्लाम धर्म में ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी.फिल्.
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध
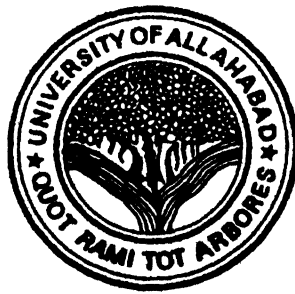
निर्देशिका :
डॉ0 गौरी चट्टोपाध्याय
रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्ता :
अवनीश कुमार पाण्डेय
शोध छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

2003

प्रमाण-पत्र

मै सहर्ष प्रमाणित करती हूँ कि **श्री अवनीश कुमार पाण्डेय** ने डी०फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, जिसका विषय **''हिन्दू,, ईसाई एवं इस्लाम धर्म में ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन''** है, मे मेरे निर्देशो का निष्ठा से पालन किया है। इनकी उपस्थिति भी निर्धारित नियमो के अनुकूल है।

शोधार्थी द्वारा जिन निष्कर्षों और मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है, वे अधिकाशत मौलिक है। मुझे **श्री अवनीश कुमार पाण्डेय** के इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे डी०फिल० उपाधि हेतु शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने में कोई आपत्ति नही है।

दिनांक : 10.5.03

शोध निर्देशिका

G Chattopadhyay

डा० गौरी चट्टोपाध्याय
रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठम् अध्याय

प्राक्कथन

बचपन से ही मेरे मन में परमेश्वर एवं धर्म के प्रति सहज आदरपूर्ण जिज्ञासा रही है सम्भवत: बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा मिले धार्मिक संस्कारों ने धर्म के प्रति मुझे गहरी आस्था दी। घर मे सदैव धार्मिक आयोजन, धर्म गुरुओ का सत्संग तथा माता-पिता का धर्म के प्रति लगाव और सम्मान की भावना ने मेरे हृदय मे बचपन से ही परमपिता के प्रति दृढ आस्था उत्पन्न कर दी। तब से मुझे सत्सग मे, धर्म सभाओ मे, महात्माओ के वचनो मे आनन्द आने लगा, उम्र के साथ इस ओर लगन और जिज्ञासा निरन्तर बढती रही। जब भी अवसर मिला धर्म सभाओ, धर्म सम्मेलनो, तथा सतो के सत्सग ने मुझे सदैव आकर्षित किया। ऐसे आयोजनो मे सदा आत्मिक आनन्द की अनुभूति हुई। अनेक प्रकार की व्यस्तताओ को छोडकर ऐसे आयोजनो मे भाग लेने की रुचि निरन्तर बढती रही। अपने धर्म के साथ ही अन्य धर्मो को भी जानने समझने की जिज्ञासा मन मे उत्पन्न हुई। जब परमसत्ता एक है, तब धर्म अलग-अलग क्यो है? उनमे मतभेद क्यो है? विरोध क्यो है? ऐसे प्रश्न उठे। विभिन्न धर्मो का अध्ययन करने पर पाया कि मूलत परमशक्ति को मानने मे कही मतभेद या विरोध नहीं है, बल्कि परमशक्ति की अवधारणा की व्याख्याये भिन्न-भिन्न है। परमसत्ता को स्वीकार सभी करते है, उसको जानने, उसके स्वरूप को मानने, उस तक पहुँचने अथवा उसकी आराधना करने की पद्धति भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार जैसे मजिल एक हो, लेकिन उस तक पहुँचने के मार्ग अलग-अलग हों। पथ अलग-अलग लेकिन लक्ष्य एक है। मूल चीज तो लक्ष्य ही है। उस तक पहुँचने के पथ तो अनेक हो सकते है, अत मूल में देखे तो भेद दिखाई नहीं देता। सुप्रसिद्ध सन्त कवि गुरुनानक ने इस बात को एक ही पक्ति मे बहुत सहजता और सम्पूर्णता से कहा है- 'एक नूर ते सब जग बणिया" (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पीछे एक ही अलौकिक आलोक है)।

सभी धर्मो का मूल एक ही शक्ति है, एक ही सत्ता है, इस मत को स्थापित करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य हुए है, किन्तु अभी भी इसके अनेक पक्षो पर गम्भीर चिन्तन एव शोध की आवश्यकता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी दिशा मे एक लघु प्रयास है। शोध प्रबन्ध का विषय है- 'हिन्दू, ईसाई एव इस्लाम धर्म मे ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन। हिन्दू, ईसाई एव इस्लाम धर्म ईश्वरवादी धर्म है। ये तीनो धर्म आज भी विश्व के जीवित धर्मो मे विशेष स्थान रखते है और इनके अनुयायियो की सख्या दिनो-दिन बढती ही जा रही है।

शोध-प्रबन्ध को पूरा करने मे जिन व्यक्तियो तथा विद्वत-मनीषियो ने अपना बहुमूल्य योगदान तथा सुझाव दिया है, उन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना मै अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।

इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम मै सुयोग्य निर्देशिका डा० गौरी चट्टोपाध्याय के प्रति आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिन्होने मेरी शोध-प्रवृति को जागृत कर, मुझे वह दिव्य शक्ति भी प्रदान की जिसके अभाव मे मेरे लिए यह कार्य

असम्भव था। उनके वहुमूल्य विचारा एव सुझावो से पग-पग पर मेरा मार्गदर्शन होता रहा है। वस्तुत यह शोध-कार्य उन्ही के प्रोत्साहन, आशीर्वाद एव अनुग्रह का प्रतिफल है। अत इसके लिए मै उनका हृदय से कृतज्ञ एव श्रद्धावनत् हूँ।

मै दर्शन विभाग इलाहावाद विश्वविद्यालय इलाहावाद के समस्त अध्यापको एव अध्यापिकाओ का भी चिर ऋणी हूँ, जिन्होने मुझे अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है। इस क्रम मे स्व० प्रो० सगम लाल पाण्डेय एव स्व० डा० छोटेलाल त्रिपाठी को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। प्रो० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, प्रो० रामलाल सिह, प्रो० डी० एन० द्विवेदी (पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन शास्त्र विभाग ई० वि० वि०) एव डा० आर० एस० भटनागर के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनका सहयोग एव मार्गदर्शन मुझे मिला है। डॉ० मृदुला श्रीवास्तव, डा० नरेन्द्र सिह, डा० जटाशकर त्रिपाठी, डा० हरिशकर उपाध्याय, डा० आशालाल डा०एस०के०सेठ एव डा० श्रीकान्त मिश्र के प्रति भी विशेष रूप से आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त अपने समस्त सहपाठि जिनमे श्री सतीशचन्द्र तिवारी, श्री राजेश पाण्डेय (डिप्टी कलक्टर) श्री रामसागर गुप्ता, श्री कोशलपति पाण्डेय (सहायक अभियोजन अधिकारी) श्री शिवकृपा मिश्र (उपसपादक दैनिक जागरण) श्री सिद्धार्थशकर तिवारी को साधूवाद अर्पित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।

तथ्यो के सकलन एव विषय की दुरुहता को दूर करने मे जिन विद्वानो ने सहयोग दिया है, उनके प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। तथ्य सकलन एव विषय की दुरुहता दूर करने मे- प्रो० उमेशचन्द्र दुबे (दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी), डा० शैल पाण्डेय (हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद), डा० श्री प्रकाश पाण्डेय (विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, सतीशचन्द कालेज, बलिया), डा० यमुनाप्रसाद पाण्डेय (राजनीति शास्त्र विभाग, सी०एम०पी० कालेज इलाहाबाद) डा० मधु गौतम (हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद) ने अपना अमूल्य योगदान दिया है।

सर्वश्री विनोद कुमार पाण्डेय (एडवोकेट, हाईकोर्ट इलाहाबाद), श्री प्रशान्त कुमार पाण्डेय (सीनियर फोरमैन, हिण्डाल्को) श्री अतुल तिवारी (शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, जे० एन० यू०) श्री दीपनारायण दुबे (पूर्व ग्राम विकास अधिकारी), डा० फेकू त्रिपाठी (आयुर्वेदाचार्य), श्री अखिलेश कुमार दुबे (आर०ई०एस०, उ०प्र०), श्री विधान चन्द्र शुक्ला (सहायक अध्यापक), श्री अजय सिह, श्री अरविन्द कुमार मिश्र, श्री सोमेन्द्र सिंह वैस, श्री अनिल कुमार तिवारी (उपसंपादक, हिन्दुस्तान टाइम्स), श्री इन्द्रजीत कुमार पाण्डेय, श्री अनूप कुमार मिश्र, श्री अविनाश शुक्ला, श्री विवेक त्रिपाठी, श्री अशोक कुमार तिवारी एवं गोनू का विशेष आभारी हूँ, जिन्होने शोध-कार्य की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अन्तिम चरण तक सहयोग एवं साहस प्रदान किया है तथा शोध-कार्य में आने वाली कठिनाइयों के निवारण हेतु हरसभव प्रयास किया है। मै आप लोगो के इस अदम्य उत्साह-वर्धन के लिए मात्र आभार प्रदर्शित कर मधुर सम्बन्धो से हल्का नही होना चाहता हूँ।

मैं अपने पूज्य पिता प० जवाहर लाल पाण्डेय एव पूजनीया जननी श्रीमती विन्द्रावती पाण्डेय का आजन्म ऋणी हूँ, जिन्होने प्रतिकूल परिस्थितियो के उपरान्त भी मुझे शोध-कार्य पूर्ण करने के लिए प्रेरणा ही नही अपितु ऐसी परिस्थितियो मे धैर्यपूर्वक कार्य करने का अदम्य साहस एवं आर्थिक सहायता प्रदान की है।

अपने ज्येष्ठ पिता श्री राजकिशोर पाण्डेय, श्री विजयशंकर पाण्डेय (पूर्व मुख्य गाडी नियन्त्रक, एन० ई० रेलवे, वाराणसी) एव श्री अवधशकर पाण्डेय (पूर्व वारण्ट आफिसर, वायुसेना) का भी आभारी हूँ, जिन्होने समय-समय से गृहकार्य मे सहयोग प्रदान किया, जिसका ही यह प्रतिफल है कि मै यह शोध-कार्य कर सका। इसी क्रम में कु० माया पाण्डेय, कु० प्रवीण पाण्डेय एव श्रीमती प्रतिभा तिवारी का भी हृदय से आभारी हूँ, जिनका सहयोग समय-समय पर मुझे मिला है।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध के प्रणयन मे हमे जो सहयोग अपनी सहधर्मिणी श्रीमती नीलम पाण्डेय (शोध-छात्रा हिन्दी विभाग, इलाहावाद विश्वविद्यालय इला०) से प्राप्त हुआ है, इसके लिए उनके प्रति हमारे हृदय मे विशेष स्थान सुरक्षित है। वस्तुत उन्होने जिस तत्परता एव सतर्कता से प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से जो सहायता करती रही है, वह उनके प्रेम की ही अभिव्यक्ति है। यदि वह मुझे सहयोग न देती तो शायद मैं अपना शोध-प्रबन्ध पूरा न कर पाता। अत कृतज्ञता ज्ञापन के इस अवसर पर उन्हे किसी प्रकार भूलना मेरे लिए सम्भव नही है।

अन्त मे मै श्री सुदीप कुमार श्रीवास्तव के प्रति भी धन्यवाद प्रकट करता हूँ, जिन्होने सूक्ष्मातिसूक्ष्म ढग से प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध का कम्प्यूटर कम्पोजिग कार्य सम्पन्न करने मे विशेष रुचि एवं तत्परता दिखाई।

अवनीश कुमार पाण्डेय

इलाहाबाद

21 फरवरी, 2003

भूमिका

मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह किसी अज्ञात परमसत्ता के प्रति शरणागत होना चाहता है, शायद इसलिए कि उसका जीवन सुख मे कम, दुख से ज्यादा परिपूर्ण है। जब कोई नीति-नियम, शासन-व्यवस्था और विश्वास उसके भौतिक एव मानसिक दु खो को कम नही कर पाते तो किसी अदृश्य एव इन्द्रियातीत सत्ता को तरह-तरह से सम्बोधित कर वह इन दु खो से त्राण पाना चाहता है।

आम आदमी दार्शनिक तो नही बन सकता, जो इस परमसत्ता के पक्ष या विपक्ष में चिन्तन करे, तर्क-वितर्क मे जीवन बिताये। आम आदमी के लिए सबसे बडी समस्या अपना अस्तित्व बनाये रखने की होती है। उसके जीवन में सुख आकाश-कुसुम की भॉति होता है। अपने धर्म के प्रति आस्था, परमात्मा के प्रति अटूट विश्वास उसे जीवन मे आगे बढने का सम्बल प्रदान करते है, उसे टूटने नही देते। यही कारण है कि साम्यवादी देशो मे समानता, समान अवसर, भौतिक सुख-समृद्धि के वचन के बाद भी जब बहुसंख्यक जनता का जीवन पूर्ववत् दुखी ही रहा तो धर्म मे विश्वास, ईश्वर मे अगाध आस्था उन्हे सम्बल प्रदान करती रही। सत्ता के अंकुश के कारण भले ही उन्होने सार्वजनिक आराधना स्थलो मे जाना छोड दिया लेकिन अपने घरो में और अपने दिलो मे वे ईश्वर का स्मरण कर ऊर्जा पाते रहे।

यह एक सुखद आश्चर्य है कि एक ओर जहॉ मनुष्य भौतिक उन्नति के नये-नये शिखरो को छू रहा है, अतरिक्ष मे चन्द्रमा के वाद अव मगल पर उतरने की तैयारी मे है, वही दूसरी ओर वह आध्यात्मिकता की ओर भी अधिकाधिक उन्मुख हो रहा है। चन्द्रमा पर मनुष्य का उतरना बीसवीं शती की ही नही, मनुष्य के इतिहास की सबसे बड़ी घटना थी। यद्यपि कि इस विजय ने अनेक पुरानी मान्यतायें, अनेक विश्वास ध्वस्त किये, लेकिन आश्चर्य की वात है कि जो अंतरिक्ष यात्री चन्द्रमा पर उतरकर या उसकी परिक्रमा कर धरती पर लौटे, वे निरीश्वरवादी नही हुए। वे पहले से और अधिक आध्यात्मिक हो गये। चन्द्रमा पर उतरने वाले प्रथम मनुष्य नील आर्मस्ट्राग तथा उनके सहयोगी एलेन ग्लेन जैसे अन्य अन्तरीक्ष यात्रियो मे चन्द्रयात्रा के बाद आया परिवर्तन इसी तथ्य का साक्षी है। एक अर्थ मे भौतिक उन्नति, विज्ञान की नित-नूतन उपलब्धियॉ हमें आध्यात्मिकता के, किसी परमसत्ता के अस्तित्व के प्रति आस्था के और पास ले जा रही है। भारत मे आज युवा पीढी का अस्सी से नब्बे प्रतिशत भाग धार्मिकता की ओर उन्मुख है।

एक पश्चिमी लेखक ने कहा था- ईश्वर मनुष्य का सबसे बडा आविष्कार है। महापडित राहुल सांकृत्यायन ईश्वर को मनुष्य का मानस पुत्र कहा करते थे।

आज के प्राय सभी समुन्नत एव कबीलाई धर्म किसी परमसत्ता या परब्रह्म के अस्तित्व मे विश्वास रखते है, चाहे वह अमेरिका और यूरोप जैसे भौतिकता सम्पन्न देश हो अथवा अफ्रीका, आस्ट्रेलिया के आदिम जनजातियो का वर्ग। सभी को इस परम सत्तापर आस्था है। सामान्यत' इस परमसत्ता को हमारे देश मे ईश्वर कहकर सम्बोधित किया जाता

है।

यह सच है कि ईश्वर को किसी ने देखा नही है। ईश्वर को इन्द्रियातीत माना गया है। जैसे शरीर मे चेतना होते हुए भी दिखती नही है, किन्तु उसकी सत्ता पर संदेह नही किया जा सकता, उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता ब्रह्माण्ड से पृथक नही है। ईश्वर की अवधारणा मनुष्य की इस आदिम जिज्ञासा से जुडी है कि इस दृश्य जगत की उत्पत्ति कहॉ से होती है और यह कहॉ विलीन हो जाता है। यही से तत्वचितन या ईश्वर चितन प्रारम्भ होता है।

धर्म एव दर्शन के क्षेत्र मे आदिकाल से ही ईश्वर के सम्बन्ध मे विचार होता रहा है। परन्तु इस ईश्वर विचार मे परस्पर विरोधी मत देखने को मिलता है। जहॉ एक ओर कुछ धार्मिक या दर्शनिक विचारक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है वही दूसरी तरफ ईश्वर की सत्ता का विरोध भी अनेक विचारकों द्वारा किया गया है। लेकिन सच पूछा जाय तो ईश्वर तर्क का विपय न होकर आस्था और श्रद्धा का विषय है। ईश्वर मे आस्था रखने वालो के लिए ईश्वर स्वय सिद्ध है।

ईश्वर की मान्यता का मानवीय जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। ईश्वर-विहीन जगत मनुष्य के लिए संतोषजनक नही हो सकता है। यह देखा जाता है कि विश्व में विपत्तियों एवं संकटो से घिर जाने के बाद मनुष्य का जब कोई सहारा नही रह जाता तो वह ईश्वर की शरण लेता है। ईश्वरीयविश्वास मे उसे शान्ति और संतोष मिलता है और वह अपने अन्दर शक्ति और पूर्णता का अनुभव करता है। अत· मनुष्य केवल हाड-मांस का पुतला नही है, उसके भीतर अध्यात्म की चिनगारी है जो उसे बिना ईश्वरोन्मुख हुए शान्त नही रहने देती।

इस प्रकार हम कह सकते है कि इस वैज्ञानिक युग में भी, विज्ञान की प्रगति मे लोगों की आस्था बढने और परिणाम स्वरूप ईश्वरीय विचार की उपेक्षा होने के बावजूद न तो धर्म का ह्रास हुआ है और न ही लोगो का ईश्वर मे से विश्वास उठा है। अत ईश्वर-विचार चिन्तन की पृष्ठभूमि पर आज भी है। दूसरे शब्दो मे, ईश्वर की मान्यता तथा ईश्वर मे आस्था की व्याख्या, विश्लेषण, विवेचन का द्वार बन्द नही हुआ है, बल्कि सदा की भाति आज भी खुला हे।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे तीन ऐसे धर्मो के ईश्वर विचार का विवेचन किया गया है, जिनकी पृष्ठभूमि और परिवेश परस्पर भिन्न-भिन्न है और जो भिन्न सभ्यता और सस्कृति मे विकसित हुए है। इन तीनो धर्मो की किसी मान्यता का विवेचन करना आधुनिक जगत के लिए नया न होकर भी महत्वपूर्ण है।

उक्त शोध-प्रबन्ध- "हिन्दू, ईसाई एव इस्लाम धर्म मे ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन", छ·अध्यायो मे विभक्त है। इन अध्यायो के अतिरिक्त प्रारम्भ मे भूमिका एव अन्त मे निष्कर्ष है। शोध-प्रबन्ध के दूसरे से छठे अध्याय तक प्रत्येक के तीन भाग है। प्रथम भाग मे ईश्वर -स्वरूप से सम्बन्धित हिन्दू धर्म का विचार, दूसरे भाग मे ईसाई धर्म से सम्बन्धित विचार तथा तीसरे भाग में इस्लाम धर्म के ईश्वर विचार का निरूपण किया गया है।

प्रथम अध्याय मे धर्म का अर्थ तथा धर्म की आवश्यकता के महत्व का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत सदर्भित धर्मों का परिचय, उनके पवित्र धर्मग्रथ, धर्म प्रतीक, एवं पूजा स्थल का निरुपण किया गया है।

तृतीय अध्याय मे ईश्वर के स्वरूप से सम्बन्धित विभिन्न पक्षो का विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय मे ईश्वर एवं जीवात्मा के बीच सम्बन्ध आदि का विश्लेषण किया गया है।

पचम अध्याय मे ईश्वर-जगत सम्बन्ध एव अशुभ आदि की समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

छठे अध्याय मे मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष प्राप्ति के मार्ग आदि को प्रस्तुत किया गया है।

निष्कर्ष मे तीनो धर्मो मे उपलब्ध समता की खोज एव मूल्याकन प्रस्तुत किया गया है।

शोध-प्रबन्ध मे ईश्वर के स्वरूप के प्रतिपादन हेतु हिन्दूधर्म मे, वेदों, उपनिषदों, गीता, एवं षडदर्शन समुच्चय को, ईसाई धर्म मे बाइबिल, ऑगस्टाइन, अन्सेल्म आदि के विचारों को तथा इस्लाम धर्म में मुख्य रूप से कुरान एवं हदीसो का सहयोग लिया गया है।

अन्त मे हम यह कहना चाहेगे कि हिन्दू, ईसाई, एवं इस्लाम तीन भिन्न धर्मो के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर स्वरूप का यह तथ्यात्मक अध्ययन है, आस्थात्मक नही। क्योकि ईश्वर-विचार तथ्य है, जबकि ईश्वर आस्था का विषय होता है। ईश्वर विचार, चिन्तन, मनन, विश्लेषण एव समीक्षा का विषय है। आस्था का विवेचन, विश्लेषण, मूल्यांकन प्रस्तुत करना शोध का विषय नही है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मात्र ईश्वर स्वरूप के विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उक्त धर्मो के अनुयायियो की किसी आस्था पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी करना इस शोध के विषय क्षेत्र मे किसी प्रकार सम्मिलित नही है। फिर भी इस शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त किसी शब्द या वाक्य से यदि किसी की भावना आहत होती है तो उसके लिए अनुसंधानकर्ता पहले से ही क्षमाप्रार्थी है।

प्रथम अध्याय

धर्म की अवधारणा
एवं
उसके स्वरूप का विकास

धर्म का अर्थ

धर्म उतना ही पुराना है, जितना मानव मन। वह व्यक्तियों की बौद्धिक, शैक्षणिक, सामाजिक तथा चारित्रिक उपलब्धियों के कारण विभिन्न रूपों तथा रगो मे ढल जाता है। धर्म के अनेक रूप हैं। इसमें से किसी भी रुप को व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार स्वीकार करता रहा है। जिस प्रकार सोना एक कैरेट का भी हो सकता है और विशुद्ध भी। इसी तरह धर्म के साथ भी हुआ हैं अपनी विशुद्ध स्थिति मे धर्म एक चिरतन सर्जनात्मक शक्ति है, किन्तु व्यक्तियों ने अपने वैयक्तिक अविकास के कारण हमेशा धर्म के अशुद्ध स्वरूप को ही उसका एकमात्र शुद्ध स्वरूप मानकर संतुष्टि का अनुभव किया है। जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति का अपना दर्शन होता है, आवश्यकता केवल उसके विशुद्धि-करण की होती है, इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति का धर्म होता है, आवश्यकता है उसे चिंतन के पावक में कुन्दन बनाकर ढालने की, जिससे उसका शुद्ध रूप व्यक्ति के जीवन का सच्चा श्रृगाार बन सके।[1]

धर्म के सच्चे स्वरूप को न समझ पाने के कारण ही आधुनिक जगत में धर्म के प्रति एक प्रकार से अवहेलना तथा तिरस्कार का वातावरण बन गया है। आम आदमी धर्म के सम्बन्ध में न तो कोई अत्यन्त विचारशील मनोवृत्ति बना पाता है और न ही उसे इस तरह की कोई आवश्यकता ही अनुभव होती है। धर्म उसके लिए महज रिवाजों का परिपालन है, शास्त्रों की आज्ञाओं का अनुशीलन है, कुछ निश्चित विधानों का अनुसरण मात्र है। न्यूमेन ने सही लिखा है कि धर्म का सार इस बात में है कि किसी वस्तु को प्रामाणिक माना जाय तथा उसका पूरी तरह अनुसरण किया जाय।[2]

रूढियों का निर्माण धार्मिक ग्रथों तथा धर्म पुरूषों के आदेशों का अन्धानुकरण करने से होता है। ये आदेश पीढ़ी दर पीढी चलते जाते हैं और उनके प्रारम्भिक स्वरूप में विचार को स्फूर्त करने की जो भी क्षमता होती है, वह धीरे-धीरे मृतप्राय होती जाती है। कभी-कभी तो स्थिति यहॉ तक आ जाती है कि इन रूढियों के अन्तर मे छिपे विचार न तो धर्म गुरूओ को प्रोत्साहित कर पाते हैं न उनके अनुयायियों को । फिर भी अंधविश्वासों का सम्बल इन्हें शक्तिशाली बनाये रखता है। और आज स्थिति यह है कि विश्व का प्रत्येक धर्म इन रूढ़ियों के शिकंजे में ही जी रहा है। हिन्दू धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म, पारसी धर्म, किसी भी धर्म को ले लिया जाय तो उसमें रूढिवादी अंश अवश्य मिलेगा। धर्मो में जो अनेकतायें तथा विविधतायें हैं उनकी जड़ में यही रूढिवादी प्रवृत्ति है।

भागवत में लिखा है कि वेद में जो कुछ कहा गया है वह धर्म है उसके विपरीत सब अधर्म है।[3] जैमिनी सूत्र भी चोदनालक्षणोड्र्थो धर्मः (वेद जिसकी घोषणा करे धर्म है) कहकर वेदानुकूल आचरण को ही धर्म का प्रधान लक्षण बनाने का प्रयास करता है।[4]

---

1 डॉ० राम नारायण ब्यास - धर्म दर्शन - पृष्ठ - 41

2 डॉ० राम नारायण ब्यास - धर्म दर्शन - पृष्ठ - 14

3 डॉ० राम नारायण ब्यास - धर्म दर्शन - पृष्ठ - 14

4 मीमांसा सूत्र - जैमिनी - 1/1/2

मनुस्मृति मे भी वेदों को ही धर्म का मूल कहा गया है।[1] मनु का तो यह भी कथन है कि माता-पिता आदि के आचरण के चरण चिन्हों पर आचरण को ढालना ही धर्म है।

धर्म के इस परम्परावादी स्वरूप का स्पष्ट कथन देवल ने किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक देश के देवों तथा द्विजो द्वारा जो आचरणीय कर्म निर्धारित किये जायें, वे ही उस देश के धर्म समझे जाने चाहिए।[2]

सामान्य जन समाज में धर्म का वही परम्परावादी रूप प्रमुख रूप से मान्यता प्राप्त कर लेता है और इसी आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण को निर्धारित करने का प्रयास करता है। धर्म का यह परम्परावादी रूप अन्ततोगत्वा रूढ़ियों का रूप धारण कर लेता है। धर्म के इस रूढिवादी रूप के ही कारण राजनैतिक नेतागण भी सामान्य जनता को भडकाने और अविचारशील उपद्रव तथा सघर्ष करने के लिए तत्पर ही नहीं कर पाते, सफल भी हो जाते हैं। स्वयं पाकिस्तान का जन्म भी इसी तरह हुआ है।

यह हमारे दैनिक अनुभव की वस्तु है कि कभी-कभी कुछ लोग अपनी वस्तुओं का गलत उपयोग जाने, अनजाने रूप से करने लगते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे लोगों के विषय में हम कभी-कभी पढ़ते हैं, जिन्होंने चाकू या कैंची से किसी व्यक्ति का खून कर दिया। ऐसे व्यक्तियों के विषय में भी कभी-कभी पढ़ने को मिल जाता है जिन्होंने अपनी ही धोती से अपना गला घोंट डाला। यहॉ वह बात स्पष्ट है कि चाकू का निर्माण उसके सर्जनात्मक उपयोग के लिए किया गया है। उसका उपयोग सब्जी या फल काटने के लिए या ऐसे ही अच्छे उपयोग के लिए किया जाना चाहिए। यही बात धोती और कैंची के विषय में भी कही जा सकती है। यदि मानव समाज चाकू, कैंची या धोती जैसी दृश्य एव ठोस वस्तुओं का गलत उपयोग कर सकता है, तो धर्म जैसी सूक्ष्म वस्तु का यदि कोई दुरुपयोग करे तो आश्चर्य ही क्या है? जिस प्रकार चाकू, कैंची एवं धोती का दुरूपयोग उनकी प्रकृति के नितान्त प्रतिकूल है, उसी प्रकार धर्म का दुरूपयोग भी उसकी वास्तविक प्रकृति के नितात प्रतिकूल कहा जा सकता है। व्यक्तियों द्वारा किये गये धर्म के दुरूपयोग के कारण धर्म की आलोचना करने वाले कुछ विद्वानों ने इसको नितांत अग्रहरणीय मान लिया है। वाल्टेयर ने चर्च और पादरियों का मखौल उडाया। मार्क्स ने इसे निजी पूंजी को पवित्र करने का शैतानी प्रयास माना।[3] किन्तु धर्म को गलत इसलिए ही मान लिया जाना विवेकहीनता कहलायेगी कि धर्म के अधिकांश मतावलम्बियों ने इसका दुरूपयोग किया और इसकी ऑच में अपने गलत अरमानों की खिचड़ी पकाई।

धर्म के क्षेत्र मे जो गडबडी हुई उसका एक कारण यह भी है कि साधारण व्यक्ति उसके सही रूप को समझ नहीं पाया है। उसे समझने का या तो अवसर ही नहीं मिला या तथाकथित गुरूओं ने स्वयं उसे नहीं समझा तथा उसके रूढिवादी स्वरूप को ही सच्चा स्वरूप समझने की प्रेरणा दी। ऐसी स्थिति में धर्म का सच्चा स्वरूप मनुष्य भूलता ही गया। उसने अपनी आस्था गलत जगह जमा दी। इससे एक गलत धार्मिक वातावरण का जन्म हुआ जिसके कारण धर्म के सम्बन्ध में गलत धारणाएं पुश्त

---

1 'वेदोऽखिलो धर्ममूल' ' मनु स्मृति

2 डॉ० रामनारायन व्यास - धर्म दर्शन - पृष्ठ- 15

3 डॉ० दुर्गादत्त पाण्डेय - धर्म दर्शन का सर्वेक्षण - पृष्ठ - 87

दर पुश्त चलती रहीं और चलती जा रही हैं।

धर्म के इस पुश्तैनी रूप को समझना सरल है। हम व्यक्तिगत रूप से न हिन्दू हैं, न मुसलमान, न क्रिस्तान या अन्य कोई मतावलम्बी। क्योंकि प्रकृति तो मनुष्य को केवल इसान बनाकर इस दुनिया में लाती है, किन्तु आस-पास का वातावरण हमे एक निश्चित पुश्तैनी धर्म के अनुयायी के रूप में ढाल देता है। ऐसे कितने लोग है जो सोच समझकर किसी धर्म को स्वीकार किया है ? जिस प्रकार व्यक्ति घर की भाषा सीख जाता है, उसी प्रकार वह घर का धर्म भी स्वाभाविक रूप से ग्रहण कर लेता है। किन्तु जिस धर्म को वह ग्रहण करता है, वह स्वाभाविक रूप से केवल रूढ़िवादी धर्म ही हो सकता है क्योंकि वास्तविक धर्म केवल मानसिक और बौद्धिक प्रयासों के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी क्षमता व्यक्ति के जीवन के प्रारम्भिक काल में विकसित नहीं हो पाती।

कभी-कभी धर्म को लेकर या धर्म के सम्प्रत्यय को लेकर जो झगडे भडक उठते हैं, यदि उनकी हम मीमासा करे तो हमे दिखाई देगा कि वे झगडे कुछ इसी ढंग के होते हैं जिस ढग के झगड़े हमारी जमीन या हमारी किसी भौतिक सम्पत्ति को लेकर होते है, जिनके हम अपने आप को वारिस मानते हैं। फर्क इतना ही होता है कि सम्पत्ति साधारणतया वैयक्तिक दायरे में ही रहती है जबकि धर्म की सम्पत्ति एक सीमा तक एक वर्ग के दायरे में आ जाती है। इस लिए एक पूरा वर्ग उसके विषय में भावुकता से सोचता तथा व्यवहार करता है। ऐसी स्थिति में तथाकथित धर्म के झगडे वास्तव में धर्म के झगडे होते ही नहीं है। काश, हम यह समझ लें, तो हमारा व्यवहार ही नहीं, हमारी सारी प्रतिक्रिया ही बदल जाय। इसलिए धर्म पर जितने भी लांछन मार्क्स जैसे लोगों ने लगायें है, वे धर्म पर टिकते ही नहीं।

वास्तविक बात तो यह है कि मानव जीवन की समस्त बुराईयों की जड में व्यक्ति की विवेकहीनता काम करती है। धर्म इस विवेकहीनता को भस्मसात् करना चाहता है, एक दृढ रागात्मक प्रयास के द्वारा जिसमें परिसीमायें नहीं होती, जो गगन की तरह व्यक्ति को अनन्त तथा उदार बनाना चाहता है। धर्म अपने वास्तविक रूप में अनन्त से, निस्सीम से, विराट से सम्बन्ध स्थापित करना ही नहीं, उससे इतना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है कि व्यक्ति फिर व्यक्ति रह ही नहीं सकता। इसी बात को भागवत् ने, जो भक्ति धर्म का ओजस्वी ग्रंथ कहा जा सकता है, यह कहकर प्रकट किया है कि गोपियां अपने प्रिय का ध्यान करते-करते प्रिय रूप ही बन गयी।[1] धर्म इस तरह व्यक्ति द्वारा विराट से आन्तरिक सम्बन्ध स्थापन ही है, और यह सम्बन्ध इस तरह दृढ हो जाता है कि व्यक्ति की सीमायें अपने आप गिर जाती है, और वह आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

धर्म का नाम लेते ही हम मदिरों, मस्जिदों, गुरूद्वारों, गिरजाघरों, प्रार्थनाओं, पोथियों, रूढियों आदि का स्मरण करने लगते है।[2] किन्तु इन्हें धर्म नहीं माना जा सकता है। ऐसे धर्म हैं जिनमें इनके लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसे भी व्यक्ति है जिनके लिए धर्म का अर्थ है ईश्वर में या आत्माओं तथा अतिमानवीय शक्तियों में विश्वास; किन्तु ऐसे भी धर्म हैं जिनमें यह

---

1 भागवत् - 'प्रियस्यप्रतिरूढ मूर्तय'
डॉ० रामनारायण व्यास- धर्म दर्शन, पृष्ठ-16

2 जी०टी० डब्ल्यू पैट्रिक - इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉस्फी, पृष्ठ- 97

सब पाया ही नहीं जाता। कुछ लोगों के मतानुसार पवित्र विचारों, पवित्र पोथियों, पवित्र स्थानों या पवित्र दिनों में विश्वास का नाम ही धर्म है। किन्तु वास्तविक रूप से देखा जाय तो धर्म के लिए इस तरह का विश्वास कत्तई जरूरी नहीं है। धर्म की व्युत्पत्ति को इसी दिशा मे समझनें का प्रयास किया जाना चाहिए, क्योंकि सामान्य रूप से किसी वस्तु का प्रारम्भिक निर्मल तथा वास्तविक रूप समझना आसान है।

पहले हम अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द की व्युत्पत्ति देखें, क्योंकि सामान्य रूप से धर्म की आत्मा को समझने के लिए भी पाश्चात्य साहित्य की ओर देखना अधिकाश लोगों की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के पीछे या तो उनके सोचने का ढग या अंग्रेंजी शासन की विरासत है। यह भी हो सकता है कि अग्रेजी साहित्य की विशालता तथा प्रगतिशीलता इसके लिए उत्तरदायी मानी जाय।

'रिलीजन' लेटिन भाषा के शब्द (RELIGARE) 'रेलिगरे' से बना है, जिसका अर्थ होता है बॉधना।[1] यदि इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'रिलीजन' को समझा जाये तो वह एक ऐसी वस्तु है जो आराध्य तथा आराधक, उपासक एवं उपास्य, व्यक्ति तथा समाज को बॉधती है। अपने मूल रूप मे धर्म का यही सर्जनात्मक स्वरूप रहा है। भारतीय दृष्टि से भी धर्म का यही स्वरूप माना गया है। महाभारत में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' (धारण करना) नामक धातु से सम्बद्ध है। इसलिए धर्म का अर्थ है वह वस्तु जो समस्त विश्व को धारण कर रही है अर्थात् जो सभी वस्तुओं का मूल आधार है और समाज की एकता को मूर्तिमान करती है।[2] कणाद ने भी धर्म को उन्नति एव उत्कर्ष का कारक माना है।[3] धर्म के स्वरूप को जनसाधारण की दृष्टि से बोधगम्य बनाने के लिए महाभारत तथा श्रीमद्भागवत् पुराण में धर्म की पत्नियों की संख्या भी बतायी गयी है। महाभारत के अनुसार-कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा तथा मति इनके नाम है।[4] भागवत् के अनुसार इन पत्नियों के नाम हैं- श्रद्धा, मैत्री, दया, शांति, तुष्टि, पुष्टि क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री तथा मूर्ति।[5]

पत्नियों के नाम गिनाने के पीछे भाव यह है कि इनके बिना धर्म अपूर्ण है। जब तक श्रद्धा न हो, हृदय में समस्त विश्व के प्रति मैत्री भाव न हो, समस्त जीवों के लिए दया न हो, मन में अविचल शांति न हो, अपने पास विद्यमान आवश्यक वस्तुओं में ही सतुष्ट रहने की प्रवृत्ति न हो, ईश्वर के अनुग्रह की अनुभूति न हो, कर्मशीलता न हो, प्रगति के चरण चिन्ह न हों, विवेचन की क्षमता न हो, परमसत्य को समझने की सामर्थ्य न हो, सहनशीलता न हो, अपने आप की प्रशंसा करने की प्रवृत्ति का अभाव न हो और सद्गुणों का मूर्तिमान स्वरूप न हो, तब तक व्यक्ति के जीवन मे धर्म का पूर्णतया आगमन ही कैसे हो सकता है?

---

1 डॉ० दुर्गादत्त पाण्डेय - धर्मदर्शन का सर्वेक्षण - पृष्ठ-5

2 महाभारत - कर्णपर्व - 69/59

3 'यतोभ्युदय नि श्रेयससिद्धि स धर्म ' - जैमिनी-मीमासा सूत्र

4 महाभारत आदिपर्व - 66/14

5 'श्रद्धा मैत्री दयाश्यान्ति स्तुष्टि पुष्टि क्रियोति।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्री मूर्ति धर्मस्य पत्नयः।' - भागवत - 4/1/49

यह दृष्टव्य है कि धर्म के अनुशीलन के लिए बुद्धि तथा मेधा को भी आवश्यक माना गया है, क्योंकि इनके अभाव में धर्म को महज कर्मकाण्ड का रूप समझ लिया जाता है। निरर्थक रीति रिवाजों का पुंज मान लिया जाता है भागवत मे धर्म के पुत्रों का भी कथन है। उसके अनुसार धर्म के पुत्र हैं- शुभ, प्रसाद, अभय, सुख, मुद, स्मय, योग, दर्प, अर्थ, स्मृति, क्षेम,औय, प्रश्रय। इन्हें पुत्र कहने का अर्थ यह है कि धर्म के आचरण से व्यक्ति को इन सबकी अनुभूति होती है।

धर्म को एक धारक तत्व मान लेने पर इसकी महत्ता अपने आप स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि धर्म एक ऐसी वस्तु बन जाता है जो सम्पूर्ण विश्व का प्राण माना जा सकता है, सम्पूर्ण जगत को परिचालित करने वाला सिद्धान्त समझा जा सकता है। बौद्ध भिक्षु यू० थित्तिल ने धर्म की व्याख्या इसी ढंग से करना पसंद किया है। सूर्य, चन्द्र, पुष्प, पवन, पर्वत, सरिता, पावक, अन्न सभी अपना-अपना धर्म निभा रहे हैं। इसलिए जीवन चल रहा है। जगत स्थित है। जिस दिन सूर्य अपना कार्य न करेगा, अग्नि अपना दाहक धर्म खो देगी, उस दिन विश्व का अस्तित्व रह ही नहीं सकेगा।[1]

धर्म के पीछे निहित नैतिक प्रेरणा को भी हम एक जैसा नहीं पाते। शाश्वत यंत्रणा का डर, सनातन आनन्द, जिसमें यौन सुख की भावना कहीं-कहीं स्पष्ट दिखाई देती है, शरीर को कष्ट देना, व्यामिचार एवं पवित्रता, अन्य धर्मानुयायियों को खत्म करने के लिए युद्ध, लोगो को येन केन प्रकारेण अपने धर्म में दीक्षित करना, परोपकार करने का उत्साह धर्म विश्वासों का अन्धानुकरण, न्याय की स्थापना, भाईचारे की भावना इत्यादि विभिन्न वस्तुयें प्रेरणा के रूप में दिखाई देती है। जॉन डिवी ने लिखा है कि ऐतिहासिक धर्म लोगों की सामाजिक संस्कृति की स्थितियों से, जिसमें वे पैदा होते हैं एवं रहते हैं, सम्बद्ध रहा है। इस तर्क के अनुसार आधुनिक काल में पाये जाने वाले धर्म के विश्वास तथा आचार आधुनिक स्थिति से सम्बद्ध हैं। यदि यदृश्य शक्ति की तह में भूतकाल में धर्म इतना लचीला रहा तो हम इस प्रकार की मान्यताओं को क्यों ग्रहण करें कि धारणा तथा क्रिया में अब परिवर्तन का रग आ ही नहीं सकता।[2]

एरिक फ्रोम ने इसलिए धर्म को निरंकुश धर्म तथा मानवीय धर्म इन दो रूपों में विभक्त किया है। मानवेतर शक्ति के सामने समर्पण निरंकुश धर्म की विशेषता है। इसमें ईश्वर शक्ति तथा सत्ता का प्रतीक है। इसके विपरीत मानवीय धर्म मनुष्य तथा उस की शक्ति पर आधारित होता है। इसके अनुसार धार्मिक अनुभूति का अर्थ होता है सबके प्रति एकता का भाव और सबसे बड़ी सद्वृत्ति है आत्म लाभ, न कि आत्म समर्पण। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म, ताओ धर्म तथा ईसा, साक्रेटिज आदि का धर्म मानवीय धर्म का उदाहरण है।[3] पॉल टिलिच ने लिखा है कि हम सभी धर्म के जुएँ के नीचे चल रहे हैं।[4]

धर्म की उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के पश्चात हम कह सकते हैं कि धर्म एक प्रकार के जीवन की स्वीकृति है जो अपने से परे स्रोत को (जो सामान्य रूप से, किन्तु अनिवार्य रूप से नहीं, ईश्वर कहलाता है) मान्यता प्रदान करता है, जो मानवीय आचरण (जैसे- कानून, नीति), सस्कृति (जैसे- कला) तथा चिन्तन (जैसे - दर्शन) के रूपों में पल्लवित होता है।

---

1 यू थिथिला- दी पॉथ ऑफ बुद्धा, पृष्ठ- 17

2 जॉन डिवी- ए कॉमन फैथ, पृष्ठ- 195

3 एरिक फ्रोम- साइको एनालिसिस एण्ड रिलिजन पृष्ठ- 89

4 पॉल तिलिख- दी शेकिंग ऑफ दी फाउण्डेशन, पृष्ठ- 87

निश्चय ही यह परिभाषा धर्म की एकमात्र और अतिम परिभाषा नहीं है, किन्तु सामान्य रूप से इसे स्वीकार किया जा सकता है। आधुनिक काल में धर्म का एक वैज्ञानिक रूप भी प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रारम्भ आगस्त काम्ते ने किया था। उसने मानवीय धर्म की बात सुझाई और धर्म को एक वैज्ञानिक अर्थ में ईश्वर-विश्वास से पृथक कर डाला। किन्तु फिर भी अधिकाश लोगों के लिए धर्मपरलोक सम्बन्धी दृष्टिकोण मात्र है।

धर्म का मार्ग भावना का है, क्योकि यदि धर्म को महज सत्य को जानने का प्रयास माना जायेगा, तो धर्म और दर्शन मे अन्तर ही नहीं रह जायेगा। धर्म को जो वस्तु एक विशिष्टता प्रदान करती है वह है सत्य की भावनात्मक एव रागात्मक आराधना। चूँकि धर्म का रागात्मक आधार उसका प्राण है, इसलिए हम धर्म में एक ऐसी वस्तु की आराधना पाते हैं जो आराधक की दृष्टि से महत्वपूर्ण है तथा अधिकतम् मूल्यवान है। धर्म का इस तरह का दृष्टिकोण धर्म को आमतौर से प्रचलित धारणा-सम्मत धर्म की अपेक्षा अधिक विराट बना देता है। दरअसल पूछा जाय तो धर्म को विराटतम् होना ही चाहिए, क्योंकि जो सभी वस्तुओ का मूलाधार है उससे अधिक विराट वस्तु की कल्पना भी हम नहीं कर सकते। इस तरह की धर्म की भावना की परिधि में हम निरीश्वरवादी धर्म जैसे- जैन, बौद्ध, मीमासक आदि को सम्मिलित ही नहीं कर सकते, वरन्, आधुनिक काल के मार्क्सवादी तथा मानवतावादी विचारधाराओं को भी इसकी परिधि में ला सकते हैं। धर्म के साथ ईश्वर को जोडना जरूरी नहीं है। ईश्वर ऐसे तत्व का बोधक है जो आराधक की दृष्टि में सबसे वरेण्य महत्तम है। वह सबका साध्य है तथा प्रत्येक वस्तु उस पर अवलम्बित है। ईश्वर एक महानतम् मूल्य है। धर्म की अनुभूति केवल एक भावना है, भावुकता का ज्वार नहीं। धर्म की अनुभूति का आधार है प्रज्ञा और यह प्रज्ञा भावुकता नहीं है। इसका तर्क होता है। इसलिए हमें धर्म को एक बेसुध भावुकता मानने की त्रुटि किसी भी हालत में नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि हम धर्म को इस तरह वैयक्तिक भावुकता मान लेंगे, तो उसकी सार्वजनीनता एव सार्वलौकिकता पर अनजाने ही प्रहार होने लगेंगे।

एक अविकसित धर्म, धर्म नहीं है, जिस तरह अधखिली कली, फूल नहीं है। अधूरी धर्म परायणता व्यक्तियों को गुमराह करती रही है और समाज को कष्टों तथा युद्धों में झोकती रही है। हम धर्म से दूर नहीं जा सकते हैं; क्योंकि उसके बिना हमारा जीवन ही असम्भव है। यदि हम नितान्त विकसित धर्म को प्राप्त कर लें तो हम अमर हो सकते हैं और वैयक्तिक समृद्धि तथा सामाजिक प्रगति के सूत्रधार बन सकते हैं। धर्म के इस विकसित रूप को ही लक्ष्य करके महर्षि वेद व्यास ने लिखा है कि धर्म से ही सम्पत्ति तथा कामनाओं की प्राप्ति सम्भव है।

भारतीय परम्परा में धर्म की अवधारणा का विकास

भारतीय विचारधारा एव जीवन विधि में धर्म का विशेष महत्व रहा है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत-धातु 'धृ' से है जिसका प्रयोग धारण के अर्थ मे किया जाता है।[1] ऋगवेद में धर्म और 'धर्मन' का उल्लेख मिलता है।[2] परन्तु इस ग्रथ में ऋत का विशेष महत्व दृष्टिगत होता है, जिसका कालान्तर में धर्म की अवधारणा के विकास में विशेष योगदान रहा है।

ऋगवेद में प्रयुक्त ऋत के समानार्थक शब्दों का प्रयोग ईरानी धर्मग्रंथ अवेस्ता में भी मिलता है।[3] डा० लारेन्स मिल्स का मत है, अबेस्ता में अर्श शब्द का प्रयोग ऋत की भांति सृष्टि सम्बन्धी अपरिवर्तनीय व्यवस्था एवं दैवी नियमों के लिए किया गया है।[4] एम० हिरियन्ना आदि कतिपय विद्वानों का मत है कि आदि काल में ऋगवैदिक ऋत का तात्पर्य प्रकृति में निहित शाश्वत नियमों से था।[5] कालान्तर में यज्ञों से सम्बन्धित नियमों को भी इसके अन्तर्गत स्वीकार किया गया। समय की गति के साथ इसका क्षेत्र व्यापक होता गया और कालान्तर में ऋत में नैतिक नियमों का भी समावेश कर लिया गया।

ऋगवेद में ऋत को ब्रहमाण्ड व्यवस्था से सम्बन्धित एवं प्राकृतिक घटनाओं को सुसंचालित करने वाला एक शाश्वत आधार के रूप में मान्यता दी गयी है। ऐसा विचार मिलता है कि ऋत के पद् चिन्हों में उषायें प्रातः काल उदित होती है, इसी के अनुसार पितंरों ने सूर्य को स्वर्ग में स्तम्भित किया है, सूर्य ऋत का भ्राजमान प्रतीक है और वर्ष इसका ही द्वादश अरों वाला चक्र है।[6]

जल और पौधों में अन्तर्निहित तत्वाग्नि जिसे जलती हुई अरणियों से मनुष्य के लिए उत्पन्न किया जाता है, ऋतजात होकर ऋत गर्भ बन जाती है।[7] ऋत जड एवं चेतन सबमें परिव्याप्त रहता है। ऐसा भी उल्लेख है जिसकी अखण्डता देश और काल से परे है, दूरी और समय का कोई भी व्यवधान ऋत के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकता है।[8] इससे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि ऋगवेद में विश्व के अनन्त रूपों को एक सूत्र में पिरो देने वाले तत्व को ऋत की संज्ञा दी गयी है।[9] वरूण ऋत के गोप्ता माने जाते हैं, किन्तु इस विशेषण का प्रयोग अग्नि और सोम के लिए भी मिलता है।[10]

ऋग्वेद मे धर्म और धर्मन शब्द भी मिलते हैं। वैदिक इडेक्स के लेखकों के अनुसार इनमें से प्रथम इस वेद में और दोनो ही बाद में विधान अथवा प्रचलन के लिए व्यवहृत शब्द हैं।[11]

---

1 डॉ० राधाकृष्णन - द हिन्दू व्यू आफ लाइफ, पृष्ठ - 56
2 वैदिक इन्डेक्स (हिन्दी सस्करण), भाग-1, पृष्ठ - 437
3 अवेस्ता, यस्न, 9/6/1
4 डॉ० लारेन्स मिल्स द्वारा सम्पादित, अवेस्ता, यस्न-1
5 एम० हिरियन्ना, आउट लाइन्स आफ इण्डियन फिलोसफी, पृष्ठ-33
6 ऋगवेद - 1/164/11
7 ऋग्वेद - 1/68/5
8 डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल- वेद विद्या, पृष्ठ- 186-187
9 जी०एच मीज - धर्म एण्ड सोसायटी, पृष्ठ-39
10. ऋग्वेद - 9/48/4
11 वैदिक इण्डेक्स (हिन्दी संस्करण) भाग-1,पृष्ठ- 437

ऋग्वेद मे कहीं-कहीं व्रत और यज्ञ धर्म के लिए प्रयुक्त हुए है।[1] यज्ञ सम्बन्धी कृत्य पूर्वकाल में धर्म के रूप में था। इसलिए देवताओ ने यज्ञ सम्पादित कर धर्म किया था, ऐसा ऋग्वेद मे उल्लेख मिलता है।[2] डॉ० राजेन्द्र चन्द्र हाजरा तथा डा० पाण्डुरग वामन काणे के अनुसार ऋग्वेद मे धर्मन् शब्द का प्रयोग प्राय नपुंसक लिग में किया गया है जिसका अर्थ पहले तो आदेश और धार्मिक कृत्यो से है किन्तु पुलिग मे प्रयोग किये जाने पर इस शब्द को अवधारक के अर्थ में ग्रहण किया जाता है।[3] इसके विपरीत डा० हाजरा का कथन है कि पुलिग का प्रयोग ऋग्वेद की अपेक्षा बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में अधिक मिलता है।[4] डा० काणे का मत है कि यह शब्द चाहे पुलिग में हो या नपुंसक लिंग किन्तु इसका प्रयोग अवधारक के अर्थ में किया गया है।[5] ए०बी० कीथ के अनुसार 'नियम का बोधक शब्द धर्मन है जिसका अर्थ धारक और धार्य दोनों है, ऋत की तरह यह भी सृष्टि के सभी पक्षों के लिए प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में बताया गया है कि देवताओं ने यज्ञ के द्वारा धर्म किया और यही प्रथम आदेश धर्म थे। धर्मन के ही अनुसार यज्ञाग्नि को प्रज्वलित किया जाता है और धार्मिक नर-नारी अपत्यों के द्वारा अपनी वृद्धि करते हैं।[6]

ऋग्वेद में धर्म[7] , धर्मणा[8] ,धर्मणाम[9] , और धर्माणि[10] रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त धर्मन[11] , धर्मा[12] धर्माण[13], धर्मा[14] , धर्माणम्[15] तथा धर्माणि[16] रूप भी हैं। इसी वेद में धर्माऽय[17] और धर्मेच्छु के लिए धर्मङ्वन्ता[18] शब्द भी मिलता है।

ऋग्वेद की भांति यजुर्वेद में भी धर्म[19], धर्मण[20], धर्मणा[21], और धर्माय[22], रूप प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में भी धर्म का

---

1 ऋग्वेद - 1/101/3
2 ऋग्वेद - 1/164/43
3 ऋग्वेद - 1/18/1
4 आवर हेरिटेज भाग-7, खण्ड-1, पृष्ठ- 16-17 पर डॉ० आर सी हाजरा का धर्मइन इट्स अर्ली फार्म एण्ड स्कोप, नामक लेख।
5 डा० काणे-धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ-1-2, जिल्द-1
6 ए०बी० कीथ- रिलीजन एण्ड फिला० आफ द वेद एण्ड उपनिषद-पृष्ठ-249
7 ऋग्वेद - 3/17/1
8 ऋग्वेद - 1/134/5
9 ऋग्वेद - 3/38/2
10 ऋग्वेद - 10/167/3
11 ऋग्वेद - 5/15/2
12 ऋग्वेद - 9/97/12
13 ऋग्वेद - 10/21/3
14 ऋग्वेद - 9/97/23
15 ऋग्वेद - 1/187/1
16 ऋग्वेद - 1/22/18
17 ऋग्वेद - 3/60/6
18 ऋग्वेद - 9/107/24
19 यजुर्वेद - 18/30
20. यजुर्वेद - 10/29
21 यजुर्वेद - 5/27
22 यजुर्वेद - 30/6

प्रयोग धारण के अर्थ में किया गया है।[1] इस वेद में धर्म[2], धर्म[3], धर्मणा[4], धर्माणि[5], धर्मस[6], धर्मऽधृत[7], धर्मऽिम[8], धर्मऽकृते[9], आदि रूप मिलते हैं। इसमें भी परम्परा से प्राप्त आचार को धर्म बाताया गया है। मृतक पति की चिता पर आरूढ़ स्त्री के लिए कहा गया है कि वह प्राचीन धर्म का पालन कर रही है।[10] इससे स्पष्ट है कि इस वेद में भी ऋग्वैदिक धर्म की अवधारणा को ही मान्यता प्रदान की गयी है।

ब्राह्मण ग्रथो मे धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक अनुष्ठान तथा व्यवहार के लिए किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ करना ही धर्म है।[11] यहॉ पर भी ऋग्वैदिक विचार- धारा का पालन दृष्टिगोचर होता है। भाष्यकार आचार्य सायण का मत है कि इसमें वर्णित, ज्योतिष्टोमादि, यज्ञो का तात्पर्य धर्म से है। बार्थ के मतानुसार - 'ब्राह्मणकालीन धर्म भी ऋग्वैदिक यज्ञ यज्ञादि कार्यो से सम्बन्धित था।'' किन्तु इन ग्रथो मे यज्ञ को ही सभी वस्तुओं का उत्पत्ति केन्द्र कहा गया है। यज्ञ प्रकृति सम्बन्धी कार्यो का उत्पत्ति क्षेत्र तथा प्रतीकों की प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु हो गया था। ''यागी कृत्यों को ऋत से सम्बन्धित कर देवताओं को ससार सम्बधी भौतिक कार्यो का सरक्षक एवं निरीक्षक स्वीकार किया गया है।''[12] वाजसनेय संहिता और तैतरीय ब्राह्मण में पुरूषमेध के प्रसग में उपहारों और देवताओं का विवेचन मिलता है। इनमें समाचार को धर्म के लिए बलि होते हुए प्रदर्शित किया गया है।[13]

ऐतरेय ब्राह्मण में राजा धर्मरक्षक और धर्माध्यक्ष के रूप में वर्णित है।[14] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजाधर्मज्ञाता, धारणकर्ता तथा धर्म का पालन कराने वाला है। इसमें वरूण देवता को राजधर्म का नियामक बतलाया गया है।[15] किन्तु राजा धर्म से श्रेष्ठ नहीं है। इन ब्राह्मणों में निरूपित धर्म का तात्पर्य विधि से है। हम पहले देख चुके हैं कि वरूण ऋत के देवता हैं और धर्म तथा ऋत के अन्योन्याश्रित होने के कारण वे धर्म के भी देवता स्वीकार किये जा सकते है। ऋत की भावना में सत्य परक नैतिकता का भी समावेश होता है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी नैतिक भावना का आभास प्राप्त होता है।[16] अतः इससे यह स्पष्ट होता

---

1 अथर्ववेद -12/1/7
2 अथर्ववेद - 6/51/3
3 अथर्ववेद - 11/9/17
4 अथर्ववेद - 6/132/1
5 अथर्ववेद - 5/1/2
6 अथर्ववेद - 18/3/1
7 अथर्ववेद - 1/25/1
8 अथर्ववेद - 18/2/7
9 अथर्ववेद - 20/62/5
10 अथर्ववेद - 18/3/1
11 ऐतरेय ब्राह्मण - 3/5
12 बार्थ-ए० - रिलिजन्स आफ इण्डिया पृष्ठ- 377
13 वाजसनेय सहिता - 30/6
14 ऐतरेय ब्राह्मण - 38/1
15 शतपथ ब्राह्मण - 5/3/3/11
16 बी० के० सरकार - हिन्दु पोलिटिकल इन्स्टीच्यूशन्स, पृष्ठ- 208

है कि इन ग्रथो के समय में धर्म यज्ञ-यागादि रूप में प्रचलित था। इसके अतिरिक्त अब धर्म का सम्बन्ध राज्य से भी हो गया था।

तैत्तिरीय आरण्यक में सत्य, तपस्, यज्ञ और सम्पूर्ण न्यास के द्वारा अमृततत्व प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इसी आरण्यक में यह भी सकेत है कि धर्म जगत प्रतिष्ठा एवं स्थायित्व का कारण है, सभी कुछ धर्म में स्थित है इसीलिए धर्म को सभी से श्रेष्ठ बताया गया है।[1] इन पर सायण ने भाष्य करते हुए यह मत प्रकट किया है कि यहॉ धर्म का तात्पर्य सद्कार्यो तथा दानपरक कार्यों से है। इस प्रकार के कार्यो के अन्तर्गत, कुएं, सरोवर, एवं उद्यानादि का निर्माण और आरोपण समाविष्ट है, जिनका अपेक्षाकृत अधिक विशद् विवेचन परवर्ती पौराणिक साहित्य में प्राप्त होता है।[2] पर सायण की यह व्याख्या धर्म के पूर्ण रूप को स्पष्ट नहीं करती।

धर्म का वैदिक अर्थ प्राय शीलपरक था।[3] कुछ स्थलों पर शील के शाश्वत आधार को धर्म कहा गया है, जैसे वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार 'जहॉ से सूर्य उदित होता है और जहॉ अस्त होता है उसे देवताओं ने धर्म बताया है। वही आज है, वही कल। उसने कल्याण रूप धर्म को बनाया, धर्म ही राजा का राजा कहा गया है। धर्म के उपर अन्य कोई सत्ता नहीं, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई व्यक्ति राजा की सहायता से किसी को पराभूत कर सकता है, वैसे ही धर्म के माध्यम से कोई निर्बल व्यक्ति बलवान को अभिभूत करने की आशा करता है। इन संदर्भो में धर्म को शाश्वत नियामक माना गया है, जिस पर प्रकृति के व्यापार तथा सामाजिक कल्याण एवं न्याय आश्रित है।[4]

अन्य उपनिषदों में भी धर्म के नैतिक स्वरूप पर विशेष बल दिया गया है। ईश उपनिषद में सत्य को धर्म बतलाते हुए उसके माध्यम से ब्रह्म की प्राप्ति होना बतलाया गया है।[5] तैतरीय उपनिषद के अनुसार सत्य भाषण ही धर्म है।[6] श्वेताश्वेतर उपनिषद में धर्म से ब्रह्म प्राप्ति सम्भव बतायी गयी है।[7] छांदोग्य उपनिषद में धर्म की तीन शाखाओं का उल्लेख मिलता है, यज्ञ, अध्ययन और दान को प्रथम शाखा, तपस्या द्वितीय तथा आचार को तृतीय शाखा के अन्तर्गत रखा गया है। इनमें से तृतीय शाखा आचार को अधिक महत्व दिया गया है।[8]

गृह्य सूत्रों में भी धर्म का विवेचन मिलता है, किन्तु इनमें संस्कारों और गृह्ययज्ञों की व्याख्या की गयी है। जैसे संख्यायनगृह्यसूत्र में ब्राह्मण भोजन, कन्यालक्षण विवाह एवं जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म आदि संस्कारों की गणना की गयी है।[9] इसी प्रकार

---

1 तैतरीय आरण्यक - 10/63/1
2 तैतरीय आरण्यक-10/62/1 पर सायण का भाष्य
3 डॉ० राधाकृष्णन- द प्रिसिन्पल्स ऑफ उपनिषदस्य, पृष्ठ-170
4 डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ- 70
5 ईश उपनिषद - 1/15
6 तैतरीय उपनिषद - 1/11/1
7 श्वेताश्वर उपनिषद - 66
8 छांदोग्य उपनिषद - 4/5/5
9 सांख्यायन गृहसूत्र, अध्याय-1, 2 एवं 5

पारस्कर गृहय सूत्र और मानव गृह्य सूत्रों में भी समस्त सस्कारों, श्राद्ध और तर्पण क्रिया का वर्णन है।[1] इसके अतिरिक्त इन गृह्यसूत्रों में पंचमहायज्ञों, वृक्षारोपण, जलाशय, गृह एवं कूप निर्माण आदि नैमित्तिक विधि-विधानों का वर्णन मिलता है। हिरण्यकेशी गृह्य सूत्र में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] यहाँ पर विचारणीय है कि गृह्यसूत्रों में चतुर्वर्ग का उल्लेख नहीं मिलता है। गृह्यसूत्रों के वर्ण-विषय से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनका मुख्य उद्देश्य मानव के लौकिक जीवन को नियमों एवं विधि विधानों के माध्यम से सुखी तथा शांतिपूर्ण बनाना था।

धर्मसूत्रों में गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, बिष्णु आदि के धर्मसूत्र प्रमुख हैं, जिनमें गौतम धर्मसूत्र सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। वर्णाश्रम धर्म, राजधर्म, स्त्रीधर्म, जातिधर्म एव कुलधर्म, प्रयश्चित तथा दायभाग इनके वर्ण्य विषय हैं।[3] इन सूत्रों में यद्यपि श्रेणी, युग तथा गणधर्म का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि दस्तकार व्यापारी और अन्य वर्गो के कर्तव्यों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इनमें सत्य, अहिसा तथा श्राद्ध आदि नैतिक सद्गुणों के पालन का भी आदेश मिलता है। गौतम धर्मसूत्र में दया, शान्ति अनसूया, शौच, मगल, अकामण्य एवं अस्पृहा (दूसरों से सुखभोग की इच्छा न होना), आत्मा के गुण बताये गये हैं। इन गुणों से युक्त ब्यक्ति ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाला कहा गया है, चाहे वह सस्कारों से रहित क्यों न हो। इसके विपरीत व्यक्ति भले ही सस्कारों से युक्त रहे, किन्तु उपर्युक्त गुणों से रहित हो तब वह ब्रह्मलोक के अधिकारी के रूप में नहीं वर्णित हैं।[4] यहॉ पर भी नैतिक गुणों के पालन पर विशेष बल दिया गया है। वशिष्ठ धर्मसूत्र में आया है कि ईर्ष्या, गर्व, अज्ञान, अविश्वास, आत्म प्रशंसा, माया, क्रोध आदि का त्याग सभी आश्रमों के सदस्यों के अनुपालनीय धर्म है।[5] इसी धर्मसूत्र में धर्म और सत्य के अनुकूल आचरण करने का आदेश मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इन धर्मसूत्रों में यज्ञ यागादिक तथा अन्य धार्मिक कृत्यों की अपेक्षा नैतिक सद्गुणों को अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है।

धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम धर्म का सर्वप्रथम क्रमबद्ध विवेचन मिलता है। इनमें धर्म की भावना न्यायिक रूप में भी प्राप्त होती है, जिसका सम्बन्ध मानव के विस्तृत कर्तव्यों से है। इस प्रकार हमें विधि के साथ धर्म का सम्बन्ध भी स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम इन्हीं ग्रंथों में प्राप्त होता है। वैदिक ग्रथों में राजा को न्यायिक अधिकार नहीं था, यद्यपि राजा का सम्ब्न्ध दण्ड से था।[6]

धर्मसूत्रों में हमें विधि के रूप में धर्म का विवरण मिलता है।[7] इन धर्मसूत्रों में कुछ सामाजिक और धार्मिक कार्यो का भी समावेश किया गया है जो आधुनिक विधि के अन्तर्गत नहीं माने जाते हैं। प्रायश्चित तथा जाति-बहिष्करण दण्ड के रूप में माने गये हैं। चोरी, मनुष्य वध, तथा परस्त्रीगमन आदि जघन्य अपराध स्वीकार किये गये हैं।[8]

---

1. मानव गृहसूत्र, अध्याय- 1 एव 2
2 हिरण्यकेशीगृह्यसूत्र - 2/18/16
3 गौतम धर्मसूत्र, अध्याय- 1 से 28 तक
4 गौतम धर्मसूत्र- 8/24-26
5 वशिष्ठ धर्मसूत्र- 10/309
6 आर०सी० मजमूदार (सपादक)- स्टडीज इन कल्चरल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ-65
7. वैदिक इण्डेक्स - (हिन्दी संस्करण) भाग-1, पृष्ठ- 437
8 गौतम धर्मसूत्र - 8/13

कुछ विद्वानो के मतानुसार अर्थशास्त्र में नीति सम्बन्धी व्यवहारिक विषयों का विवेचन किया गया है, जिसका विशेष सम्बन्ध राजाओं एव पुरोहितों से था।[1] नीति सम्बन्धी व्यवहारिक विषयों के अलावा अर्थशास्त्र मे धर्म का भी उल्लेख मिलता है। इसमे वर्णाश्रम धर्म, साधारण धर्म तथा श्रुति विहित नियमों के द्वारा संसार के सुखी होने का आदर्श मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रशासकीय विधि पर विशेष बल देते हुए उसका सम्बन्ध राजा और उसकी शक्ति दण्ड से बताया गया है। अतएव इसमें राजा के धर्म परायण होने का आदर्श प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि वह धर्म का रक्षक है। धर्म की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है।[2]

धर्म सूत्रों में निरूपित धर्म की विशद्व्याख्या स्मृतियों में की गयी है। स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे प्राचीन मानी जाती है। इसमें चारो वर्णों के धर्म और उनके आचार, आश्रमधर्म, विवाह तथा अन्य संस्कार, पंच महायज्ञ, श्राद्ध, भक्ष्याभक्ष्य विचार, द्रव्य शुद्धि, स्त्रीधर्म, राजधर्म, आपदधर्म, प्रायश्चित, विधि एव कर्मो के गुण दोष आदि का विवेचन मिलता है। इसके अतिरिक्त इसमे देश, जाति, श्रेणी, कुलगण और पाखण्डियों के धर्मों का भी उल्लेख मिलता है।[3] याज्ञवल्क्य स्मृति में मनुस्मृति की अपेक्षा वैधानिक विषयों पर आधिक ध्यान दिया गया है। इसमें पुरूषों की भांति स्त्रियों को भी दाय-सम्बन्धी अधिकार दिये गये हैं।[4] इनके अतिरिक्त स्मृतियों में पूर्वकालीन साहित्य में वर्णित नैतिक सद्गुणों का समेकन करके उनको सामाजिक, साधारण एवं सामान्य धर्म की सज्ञा प्रदान की गयी है।

डॉ० पाण्डुरगवामन काणे के मतानुसार धर्म-शास्त्रों में धर्म का तात्पर्य किसी सम्प्रदाय अथवा मत से नहीं, अपितु जीवन की विशिष्ट आचार पद्धति से है, जिसके द्वारा मनुष्य, वैयक्तिक एवं समाज के सदस्य के रूप में अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ अभिप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सके।[5] स्मृतियों में भी नि·श्रेयस धर्म को कहीं-कहीं प्रधानता दी गयी है।

विधि रूप में धर्म के विस्तार के साथ क्रमबद्ध विवेचन भी हमें स्मृतियों में प्राप्त होता है। गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, और वशिष्ठ के धर्मसूत्रों में व्यवहार के अन्तर्गत बहुत ही कम विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु मनुस्मृति जिसे सबसे अधिक प्राचीन स्मृतिग्रथ होने का गौरव प्राप्त है, सर्वप्रथम हमें वाद सम्बन्धी विषयों का अठारह वर्गो के अन्तर्गत क्रमबद्ध विवेचन मिलता है- ऋण, अनाधिकृत, क्रय-विक्रय, साझेदारी या भागिता, दान, उपहार, सेवा-वृत्ति की मजदूरी, श्रेणी आदि के प्रति हिसक कार्य, क्रय-विक्रय सम्बन्धी चरवाहों तथा अन्य वादों, अपशब्द, हिंसा, साहस, स्त्रीसग्रहण, स्तेय, मातृक सम्बन्ध विभाग, दायाधिकार तथा घूतक्रीडा।[6]

---

1 आर०पी० कागले, कौटिल्य अर्थशास्त्र, जिल्द-3
2 कौटिल्य अर्थशास्त्र - 1/3/3
3 मनुस्मृति - 1/107-118
4 ई०डब्ल्यू हॉफकिस - कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द-1, पृष्ठ- 249
5 डॉ० काणे - हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द-2, भाग-1, पृष्ठ-7
6 मनुस्मृति - 7/3-7
पी०एन० सेन- हिन्दू ज्यूरिप्रुडेन्स, पृष्ठ- 32

जैसा कि हापकिस महोदय का मत है यहाँ पर नागरिक या व्यवहारिक और अपराधिक विधियों मे कोई स्पष्ट विभाजन नहीं किया गया है, परन्तु परवर्ती स्मृतियों में इनमें स्पष्ट विभाजन मिलता है। आपराधिक विधि के अन्तर्गत उपर्युक्त ग्यारह से पन्द्रह तक और अठारहवाँ विषय आ सकता है। ये अठारहवों विषय काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि इनमें हम विभिन्न प्रकार के वादो का पूर्णत· पृथक वर्गीकरण का प्रथम प्रयास पाते हैं।[1] नारदप्रथम स्मृतिकार हैं, जिन्होंने कुछ सीमा तक धर्म के विशुद्ध व्यवाहरिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है।

रामायण और महाभारत में भी धर्म का निरूपण है, जिनकी तिथि के विषय में मतभेद है। रामायण में धर्म का निरूपण सक्षेप मे पात्रों के सम्वादों के द्वारा प्रस्तुत है। इसमें हमें धर्म का फलवादी रूप प्राप्त होता है। रामायण में वर्णाश्रम और राजधर्म का निरूपण है।[2] रामायण के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य का स्वधर्म के पालन द्वारा मानव कल्याण करना ही उसका आदर्श बताया गया है। इसमें भी धर्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो में प्राप्त होता है। नैतिक गुणों के पालन पर भी विशेष बल दिया गया है।[3] नियतिवाद की आलोचना करते हुए मनुष्य को स्वय उसके भाग्य का निर्माता कहा गया है, नियतिवाद के स्थान पर रामायण में कर्मवाद की स्थापना की गयी है। लक्ष्मण के व्यक्तित्व में बाल्मिकी ने यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।[4] परम्परानुगत धर्म के पालन का आदर्श हमें यहाँ भी प्राप्त होता है। रामयण में स्त्री[5], भ्रातृ, पुत्र[6] और मित्र के धर्म का निरूपण है। इसमें धर्म साक्षात देवता रूप में वर्णित है। राम को शरीरधारी धर्म कहा गया है।[7]

महाभारत में धर्म के स्वरूप की विवेचना के लिए अनेक विचारक उत्तरदायी रहें हैं, जिनमें महर्षि, व्यास, धर्मपुत्र युधिष्ठिर, कृष्ण, भीष्म पितामह एव अनेक ऋषियों की गणना की जा सकती है। वास्तव में इसमें इन मनीषियों द्वारा अभिव्यजित धर्म का एक समन्वित स्वरूप उभर सका है जो न केवल भारत का वरन् मानव मात्र का आदर्श होने के लिए स्वपर्याप्त है। महाभारत का यह मूल वाक्य है - "यतोकृष्णस्ततो धर्मः यतोधर्मस्ततो जय·।" महर्षि व्यास ने तो यहाँ तक कह डाला है- "उर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित्च्छृणोति में धर्मादर्थश्च कामश्च धर्म कि न तु सेव्यते।"

महाभारत में धर्म के विविध स्वरूप वर्णित हैं। इसमें राजधर्म, प्रजाधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, वर्णाश्रम धर्म, दानधर्म, आपदधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म आदि का वर्णन है।[8] महाभारत में धर्म को मानवशास्त्र के पूर्ण एवं सर्वागिण उत्कर्ष का साधन माना गया है। इसीलिए धर्म का एक सापेक्ष स्वरूप इसमें प्रतिभासित होता है। सम्यक धर्म वही है जो युग सत्य के अनुकूल एवं

---

1 हापकिस - कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया जिल्द-1, पृष्ठ-251
2 रामायण - अयोध्याकाण्ड - 106/19-24
3 रामायण - कि० काण्ड - 17/17
 रामायण - आर० काण्ड - 65/10
4 वेंजामिन खान- द कान्सेप्ट आफ धर्म इन बाल्मिकी रामायण, पृष्ठ-64
5 डॉ० काणे- हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द-1, पृष्ठ-160
6 रामयण - अयोध्याकाण्ड - 97/3
7. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल - कला और संस्कृति, पृष्ठ-181
8 डॉ० वी०एस० सुकथकर - आन द मीनिंग आफ द महाभारत, पृष्ठ-82

उत्कर्षकारी हो। इसीलिए महाभारत में धर्म का स्वरूप गत्यात्मक है।[1] योग्य समय और योग्य समाज में जो आचरणीय है धर्म वही है और अयोग्य समय और अनुपयुक्त स्थान मे अधर्म बन जाता है।[2] आपत्तिकाल मे कभी-कभी अधर्म को ही धर्म का स्वरूप और धर्म को अधर्म का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। वध के लिए समुद्यत अर्जुन से कर्ण ने कहा था- "नि शस्त्र शत्रु का वध करना धर्म नहीं है।" इस प्रश्न पर कृष्ण ने "क्व ते धर्मस्तदागत," प्रश्न में धर्म की व्याख्या की है और अन्त में बताया है कि जो अधर्म करे, उसके साथ उसी तरह का व्यवहार करना ही उसके लिए उचित दण्ड हैं।[3] स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उचित समाचरण और पालन करना मनुष्य के धर्म के रूप में महाभारत में वर्णित है।[4] यहॉ धर्म का तात्पर्य मर्यादा या सीमा के अतिक्रमण न करने से है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने तो यहाँ तक कहा है कि जैसे वेदों का सार गायत्री मन्त्र या सावित्री है, वैसे ही सम्पूर्ण महाभारत का सार धर्म शब्द में है।[5]

गीता में भी धर्म का सम्यक निरूपण है। इसमें वर्णधर्म आचार एवं नैतिक गुणों का विवेचन मिलता है। कर्म करना व्यक्ति का धर्म बताया गया है। गीता के अनुसार कर्म के अन्तर्गत् वाचिक तथा मानसिक सभी कार्य समाविष्ट है। इसमें निष्काम कर्म का आदर्श प्रतिपादित किया गया है, जो अनासक्त भाव से धर्माचरण पर बल देता है।[6] गीता में एक स्थल पर उल्लेख है कि धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होने पर स्वय भगवान साधु पुरूषों के उद्धार, दुष्कर्मियों के विनाश तथा धर्म की पुनर्स्थापना के लिए युग-युग में जन्म लेते हैं।[7] यहॉ धर्म के महत्व को प्रकट करते हुए ईश्वर के अवतार के द्वारा उसकी रक्षा का आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।

पुराणों में धर्म को सार्वजनीन नैतिक उपदेशों तथा अनुपालनीय आचार के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास मिलता है। ब्रह्माण्ड पुराण में प्रशासकीय कार्यो के पालन कराने में धर्म का आश्रय ग्रहण किया गया हैं।[8]

मार्कण्डेयपुराण में उल्लेख है कि कलियुग में सनातन धर्म नष्ट प्राय है।[9] भागवत् पुराण में धर्म चतुष्पाद के रूप में वर्णित है। इस पुराण में हमें धर्म का महत्व गोवृषभ के संवाद से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इसमें धर्म की दैवी उत्पत्ति की ओर भी सकेत है। धर्म को ब्रह्मा के वक्ष स्थल के दक्षिण पार्श्व से जनहित के लिए पॉच वस्तुओं में प्रथम कहा गया है।[10]

---

1 महाभारत शातिपर्व - 36/11

2 महाभारत , अरण्यपर्व - 209, कर्णपर्व - 69, शाति पर्व - 33

3 महाभारत कर्णपर्व - 98/4-12

4 महाभारत शातिपर्व - 294/29

5 डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल - भारत सावित्री, भूमिका, पृष्ठ- 4

6 गीता- 2/47

7 गीता- 4/7- मध्ययुगीन सतो ने भी इस भावना पर विशेष बल देते हुए निराश हिन्दू समाज को आशान्वित करने का प्रयास किये थे जिनमें तुलसीदास का उल्लेख किया जा सकता है-
जब जब होई धर्म की हानि। बाढई असुर महाभिमानी।।
सीदहि विप्र धेनु सुर धरनी। करहि अनीति जाहि नहि बरनि।।
तव तब प्रभु धरि बिबिध शरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा।।"

8 ब्रहाण्ड पुराण - 50/53 - 7

9 मार्कण्डेय पुराण - 9/28-31

10 भागवत पुराण - 1/16

पुराणों में धर्म के विविध रूपों और उनकी सूक्ष्मता को स्पष्ट किया गया है। पुराणों से पता चलता है कि धर्म का विनिश्चय एव उसकी परिभाषा करना कठिन है। इसमें नैतिक गुणों पर विशेष बल देते हुए उन्हें सनातन धर्म की सज्ञा दी गयी है, जिनमे अद्रोह, अलोभ, जीवों पर दया, दम, शाति, ब्रह्मचर्य, तपस्या, शुद्धता, आक्रोश, क्षमा तथा धैर्य का विशेष उल्लेख मिलता है।[1] इन नैतिक गुणो का और अधिक विस्तार के साथ वर्णन भागवत्पुराण में हैं, जो कि बाद का है। इस पुराण में नैतिक तथा धार्मिक गुणो की सख्या तीस गिनाई गयी है। इस तीस लक्षण वाले धर्म से ही भगवान संतुष्ट होते हैं। यह सम्पूर्ण मानव मात्र का धर्म है। ये लक्षण निम्नोक्त हैं-

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, युक्त विचार, शम, दम, अहिसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, आर्जव, सतोष, समद्रक (समदर्शी भाव) सभी की सेवा, सासारिक भोगों से शनैः शनैः निवृत्ति, प्रारब्ध चितन, मौन, आत्मचिंतन, अन्न, फलादि को प्राणियों में बॉटकर खाना, प्राणिमात्र में न भी हो सके तब विशेषकर मनुष्यों मे ईश्वर का भाव रखना, हरिकथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, भगवान में दास-सख्य तथा आत्मसमर्पण।[2] आगे चलकर दर्शनग्रंथों में भी धर्म की स्पष्ट व्याख्यायें मिलती है। जैमिनी सूत्र में कहा गया है कि- चोदनालक्षणार्थो धर्मः।[3] इसके अनुसार जो अर्थ (वेद की) विधि से प्राप्त होता है, वही धर्म है। इसलिए धर्म का अर्थ चोदना, विधि अथवा प्रेरणा है। वास्तव में यह धर्म की विधिपरक व्याख्या है। जैमिनी सूत्र के भाष्यकार शबर के अनुसार 'चोदना वह है जिसके द्वारा क्रिया की प्रेरणा होती है।" कर्तव्य की प्रेरणा बाहरी स्रोत से होती है। किन्तु 'चोदना' का एक दूसरा अर्थ भी प्रचलित है, यह है आन्तरिक प्रेरणा अथवा क्रिया की प्रवृत्ति। प्रायः देखा जाता है कि जिस क्रिया की बाहर से प्रेरणा मिलती है वह हृदय को भी पसन्द आती है। भाष्यकारों का मत है कि शास्त्रों के विधान दुःख की अपेक्षा सुख उत्पन्न करने में समर्थ है। प्रायः विहित कर्मो से वांछनीय उद्देश्यों की प्राप्ति होती है।[4] इसमें कार्य दो वर्गो वैदिक और लौकिक में विभाजित है। वैदिक या धार्मिक कार्य तीन रूपों में- विहित, निषेधात्मक और विहितात्मक में विभक्त है।

विहित कार्यो को याग, होम और दान से सम्बन्धित कहा गया है। यज्ञ करना प्रधान कार्य है और यज्ञ सम्बन्धी अन्यं कार्य गौण है। धर्म का सम्बन्ध उपर्युक्त सभी कार्यों से है। आन्नम भट्ट के अनुसार "मर्यादित अनुष्ठानों के द्वारा प्राप्त अदृश्य शक्ति धर्म है।[5] केशव मिश्र का मत है कि धर्म अपूर्व के रूप में रहता है।[6]

वैशेषिक सूत्र में कणाद ने कहा है- जिसके आचरण करने से अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति हो, वही धर्म है।[7] स्वामी शकराचार्य ने गीता पर भाष्य लिखते समय उपोद्घात में बताया है कि जगत में स्थिति, प्राणियों की उन्नति और मोक्ष के

1 ब्रह्माण्ड पुराण - पूर्व भाग - 2/30/33-38 । मत्स्यपुराण - 143 / 27-32
2 भागवत पुराण - 2/7/6
3 जैमिनी सूत्र - 1/1/2
4 डॉ० राजबली पाण्डेय - भारतीय नीति का विकास, पृष्ठ-111
5 आन्नम भट्ट, तर्क संग्रह - 'विहितकर्म जन्यो धर्म."
6 केशव मिश्र , न्याय प्रदीप, विश्वकर्मनभाष्य, पृष्ठ-150
7 वैशेषिक सूत्र - 1/1/2

साक्षात हेतु को धर्म कहते हैं।[1] लक्ष्मीधर ने बताया है कि दैनिक जीवन में धर्माचरण से ही धर्म का निश्चय किया जा सकता है। इस प्रकार धर्म का विनिश्चय उसके स्वरूप, दृष्ट-अदृष्ट फल, प्रमाण तथा निमित्त आधार पर किया जा सकता है।[2] डा० भगवान दास के शब्दो मे किसी वस्तु के धारण और उसके वास्तविक स्वरूप को स्थिर करने वाले तत्व को धर्म कहते हैं। सामान्यत धर्म का तात्पर्य स्वाभाविक गुण, कर्तव्य, धार्मिक कर्तव्य, सदाचार और विधि से है, परन्तु इसमें विशेष रूप से कर्तव्य ही सर्वोपरि है।[3] डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है- ''धर्म उन नियमों की सज्ञा है जिनसे यह सृष्टि प्रक्रिया गतिशील है। 'धारणाद्धर्म अर्थात् धारणात्मक तत्व का वाचक शब्द धर्म है।[4]

बौद्ध साहित्य में 'धम्म' शब्द का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है और इसके ऊपर बहुत अधिक बल दिया गया है। चाइल्डर्स ने इस शब्द के विभिन्न अर्थ बताये हैं- स्वभाव, स्थिति, गुण, चरित्र, कर्तव्य, नैतिक-गुण, विनय, न्याय, नियम और सत्य।[5] यह शब्द बौद्ध धर्म के सत्य को भी व्यक्त करता है। रीज डेविड्स के अनुसार ''यह शब्द सम्यक स्वरूप और प्रतिष्ठित परम्पराओ के अनुकूल होने का भाव व्यक्त करता है''।[6] धम्मपद टीका मे धर्म के चार अर्थ बताये गये हैं- गुण, देशना, परियन्ति (लिखित रूप में बुद्ध के सिद्धान्त और निसत्त), निज्जीवता (ऐसी मन स्थिति जिसमें आत्मा का अहभाव न रहे)।[7]

इस प्रकार वैदिक विचारधारा से धर्म दैवी है, उपनिषदों में धर्म को 'राजाओ का आज्ञा' या 'राजाओं का राजा' कहा गया है, कौटिल्य ने धर्म को वर्णाश्रम धर्म के सापेक्ष्य में देखा है। शुक्र का भी यही विचार है। बौद्ध धर्म में आचार और परम्परा को धर्म कहा गया है। तात्पर्य यह है कि धर्म का अर्थ बहुत व्यापक है। यह मानव जीवन और विश्व समाज के आधारभूत सिद्धान्तों का सामूहिक रूप होने के कारण मानव धर्म माना गया है।[8] सामान्य रूप से समस्त क्रिया-कलापों एवं सम्बन्धों में धर्म व्यक्ति, समाज और ब्रह्माण्ड व्यवस्था को साथ-साथ सुसचालित करने वाला नियामक तत्व माना जा सकता है।

---

1 गीता, उपोद्‌यात, 1 पर शाकर भाष्य
2 कृत्यकल्प तरू, ब्रह्मचारिकाण्ड, जिल्द-1, पृष्ठ- 5
3 डॉ० भगवान दास - दी साइस आफ सोशल आर्गनाइजेशन, जिल्द-1, पृष्ठ- 49-50
4. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल - वेद विद्या, पृष्ठ-2
5 चाइल्डर्स- पालि इग्लिश डिक्शनरी, पृष्ठ- 118-119
6 रीज डेविड्स- बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ-292
7 प्रो० ज्योतिर्मयी वसु का कासेप्टस आफ धर्म एण्ड हिन्दू सोसायटी नामक लेख।
8 जी०एच० मीज- धर्म एण्ड सोसायटी, पृष्ठ-15

धर्म की आवश्यकता एवं महत्व

भारतवर्ष धर्म प्रधान ही नहीं, वरन धर्म-प्राण देश है। जिस प्रकार प्राणों के बिना शरीर शव है, वैसे ही धर्म के बिना भारतीय सस्कृति और भारतीय सभ्यता निस्सार है। धर्म मानव का स्वभाव गुण है। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार भूख लगना, स्वास लेना मानव का स्वभाव गुण है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक स्तर पर किसी न किसी धर्म को अपनाना मानव का स्वभाव गुण है। जो लोग परम्परागत धर्मों को नहीं स्वीकार करते हैं, वे भी किसी न किसी मानवतावादी धर्म को अपनाते हैं। सर्वविदित है कि जैन, बौद्ध और पूर्व मीमासी ईश्वर को नहीं स्वीकारते तो भी ईश वंदना में कहा गया है कि एक हरि को शैव शिव के रूप में वेदान्ती ब्रह्मरूप, बौद्ध बुद्ध भगवान के रूप में, न्याय वैशेषिक सृष्टिकर्ता के रूप में, जैन अर्हत, सिद्ध के रूप में तथा मीमासी कर्म के रूप में पूजते हैं।[1] उदयनाचार्य ने अपनी पुस्तक कुसुमांजलि में लिखा है कि सभी किसी न किसी रूप में एक परम सत्ता की पूजा करते हैं।[2] यहाँ तक कि मीमासी परमसत्ता को यज्ञ के रूप में और चार्वाक उसी को लोकव्यवहार-सिद्ध रूप में पूजते हैं। पॉल तीलिख ने भी लिखा है कि मानव बिना किसी न किसी धर्म के चैन नहीं पाता है।[3]

आज का युग प्रत्येक बात को तार्किक रीति से समझने का प्रयास करता है। वैज्ञानिक युग की विशेषता को हमें धर्म के क्षेत्र में भी स्वीकार करना होगा, तभी हम इसे स्वीकार करने का विचार मन में ला सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें यह बतलाना होगा कि धर्म क्यों आवश्यक है? यदि वह अनावश्यक है तो व्यक्तियों को धर्म के चक्कर में उलझने की क्या आवश्यकता है? अन्य लोगों को भी अपने काम की बातें करने दी जाय, ताकि वे अपने जीवन को तथा समाज और विश्व को अपने तरीके से संवार सकें। यदि धर्म अनावश्यक है, तो फिर क्यों हम उसके अध्ययन में, उसके परिपालन में अपना समय नष्ट करें ?

धर्म के मर्म को समझाने का प्रयास करने वालों को, धर्म के हिमायतियों को, इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा अन्यथा धर्म का भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। हमें भी इस प्रश्न को अपने सामने रखना है। हमें अपने आप से पूछना है, आगे बढ़ने से पहले, कि क्या धर्म जरूरी है? इस प्रश्न का उत्तर भी हमारे पास है। यह उत्तर बतलाता है कि धर्म मानव जीवन के लिए आवश्यक तत्व है।

उसकी इस आवश्यकता के तीन आधार हैं- मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक। अब इन्हें एक-एक करके इस प्रकार रख सकते हैं-

---

1. डॉ० याकू मसीह - तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ- 8
2 उदयनाचार्य - कुसुमाञ्जलि, अध्याय-1, कारिका-2
3 डॉ० याकू मसीह - तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ- 9

मनोवैज्ञानिक आधार

आधुनिक मनोविज्ञान ने धर्म को मानवीय मनोविज्ञान की दृष्टि से ही समझने का प्रयास किया है। किन्तु इस तथ्य को नहीं भुलाया जाना चाहिए कि आदिम काल से ही धर्म मानव मन के अन्तराल में गूँजता रहा है। धर्म का अत्यन्त ही प्राचीन काल मे उपस्थित होना बतलाता है कि मानव मन में कोई ऐसी वृत्ति है जिसके कारण धर्म का आविर्भाव हुआ था।

सामान्य रूप से धर्म को ईश्वर पर विश्वास के साथ जोडा जाता है, हालाँकि, धर्म को सत्य की अनुभूति के साथ ही जोडा जाना चाहिए। मानव मन मे तीन वृत्तिया प्रारम्भ से ही वर्तमान रहीं है, जिन्हें हम ज्ञान, भाव तथा कर्म की वृत्तिया कह सकते हैं। इस ज्ञान की वृत्ति के कारण मनुष्य ने सदैव इस विश्व के पीछे स्थित सत् को समझने का प्रयास किया है। उसने अपने स्वाभाविक कौतुहल तथा जिज्ञासा वृत्ति के कारण अपने आप से प्रश्न भी किया होगा। अपने जीवन के प्रारम्भ से ही, कि किस तरह प्राणी पैदा होता है, बढता है और बूढा होता है और न जाने फिर कहॉ खो जाता है। प्रकृति के क्षेत्र मे उसने कल-कल बहते झरनों, मन्द मुस्कराते फूलों, गरजते बरसते बादलों, प्रतिदिन उदित होने वाला सूर्य तथा चन्द्र, समय पर बदलने वाले मौसमों और ऐसी ही अनेक घटनाओं को देखा होगा, और चूँकि उसमें ज्ञान तत्व प्रारम्भ से ही मौजूद था, इसलिए उसने किसी शक्ति का, जो विश्व को नियन्त्रित कर रही है, आदिमकाल में भी अवश्य ही अनुभव किया होगा। वह सत्य कौन सा है? वह देव कौन सा है? मानव मन ने प्रश्न किया होगा। इसका प्रमाण ऋग्वेद है जो मानव जाति का सबसे पुराना साहित्य है। ऋग्वेद में मानव मन वास्तव में प्रश्न करता नजर आता है- ''कस्मै देवाय हविषाविधेम?''[1]

सत् को प्राप्त करने की यह स्वाभाविक ललक मनुष्य को आखिर एक विराट पुरूष की कल्पना तक ले जाती है, जहॉ वह ऐसे पुरूष की कल्पना करता है जिसके असंख्य हाथ हैं, असंख्य पैर हैं, जो अनन्त हैं।[2]

इसी बात को थाउलस नामक मनोविज्ञान वेत्तॎा ने भी प्रकारान्तर से माना है। उसने गेटे की रचनाओं में से एक गद्याश भी उद्धृत किया है, अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए, गेटे लिखता है- ''जब प्यारी घाटी से मेरे आस पास धुंधलका छा जाती है और मेरे जंगल के गम्भीर अन्धकार के ऊपर सूर्य चमकता दिखाई देता है, जब कल-कल बहते निर्झर के किनारे ऊँची-ऊँची घास पर मैं लेट जाता हूँ और जमीन की हजारों घास की पत्तियां मेरा ध्यान आकर्षित करती हैं, जब कई छोटे-छोटे कीडे मकोड़े के असंख्य न समझ में आने वाले चेहरों पर मेरा ध्यान जाता है और मै उस सर्वशक्तिमान का अनुभव करता हूँ जिसने अपनी प्रतिभा से मुझे बनाया है, मैं उस सर्व प्रेममय शक्ति की श्वास का अनुभव करता हूँ जो हमें शाश्वत आनन्द में निमज्जित कर रहा है। मेरे दोस्त तब मेरी ऑखों की रोशनी कम हो जाती है और मेरे आस-पास के विश्व तथा स्वर्ग की, मेरी आत्मा पर, एक व्यक्ति की मूर्ति की तरह छाप अंकित हो जाती है।[3]

---

1 ऋग्वेद

2 श्वेताश्वेतर उपनिषद ।।3।।

3. डॉ० रामनारायण व्यास- धर्मदर्शन, पृष्ठ-186

सत्य का यह दर्शन ही मानव मन की ललक है। मानव मन की एक प्रबल इच्छा होती है सत्य का साक्षात्कार करना। धर्म के जन्म का यही मनोविज्ञान है। अपूर्ण मानव पूर्ण मानव बनना चाहता है। सत्य प्राप्ति की यही इच्छा गौतम बुद्ध को राज-पाट छोडकर घर से दूर जाने की प्रेरणा देने के लिए उत्तरदायी थी। ज्ञान की पीपासा जब तीव्र हो जाती है, तो आदमी सब कुछ छोडकर उसे शान्त करने के लिए अशान्त हो जाता है। सत्य प्राप्ति की इच्छा हमेशा मानव मन में रही है, और सदा रहेगी, जब तक वह मनुष्य है। धर्म विचार शील पशु की, जिसे मनुष्य भी कहते हैं, स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

मनोवैज्ञानिकों ने धर्म को कई तरह से व्याख्या का विषय बनाया है। स्टारबक धर्म को मानव की प्रकृति में वद्धमूल सहज क्रिया मानता है और इसकी तुलना भूख तथा इच्छा से करता है।[1]

फ्रॉयड जैसे लोग इसे यौन वृत्ति का प्रकटीकरण मानते हैं।[2] मैक्डोनल जैसे विद्वान धर्म को जन्म समूह की वृत्ति मानते हैं।[3] धर्म को सम्भवत किसी एक सहजवृत्ति से नि स्रत नहीं माना जा सकता है। वह तो इन सहजवृत्तियों की जड मे विद्यमान है। वह जीवन तत्व का रूप है जिसके कारण व्यक्ति की समस्त गतिविधियॉ, मानसिक-सामाजिक एवं शारीरिक, परिचालित होती हैं। धर्म का स्पर्श जितना ही प्रगाढ होता जाता है उतनी ही हमारे व्यक्तित्व की परिधि बढती जाती है और नया ओज तथा कान्ति हमारे जीवन में समाविष्ट होती जाती है। धर्म के कारण हमारी सामान्य वृत्तियां भी उदात्त रूप धारण कर सर्जक वृत्तियों में ढल जाती हैं, और स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ उनसे स्रवित होने लगता है। उदाहरण के लिए हमारे आत्म-संरक्षण की सामान्य वृत्ति अमरत्व तथा पुनर्जन्म की धारणाओं में बदल जाती हैं। यौन प्रवृत्ति विराट होकर परमेश्वर के प्रति असीम अनुराग में ढल जाता है। मीरा की तरह आत्मा अपने प्रियतम प्रभु को एक-निष्ठता से प्यार कर गाती है- "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।"[4] ईश्वर के प्रति यह कथन गीता की भाषा में अव्यभिचारिणी भक्ति है जो आध्यात्मिक जीवन का परम उत्कर्षमय रूप है।

फ्रॉयड ने धर्म को मानव की व्यापक विक्षिप्तता बतलाया है।[5] किन्तु यह धारणा नितान्त अवैज्ञानिक और भ्रातिपूर्ण है। टेन्सले का कथन कि देवी-देवता अचेतन मन का प्रक्षेपण हैं, भी इसी तरह धर्म को एक भ्रांति ही मानकर चलता है।[6] किन्तु इस प्रकार की उक्तिया उन मनोवैज्ञानिकों ने ही कही हैं जिन्हें धार्मिक अनुभूति का कभी अनुभव हुआ ही नहीं। जिन लोगों ने अनुभूति का आलोक देखा ही नहीं, उन्हें वहॉ एक शून्य, एक अन्धकार दिखाई दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इस तरह के वैज्ञानिक प्रयास धर्म के अस्तित्व को खत्म नहीं कर सकते हैं। धर्म वास्तव में मानव का अपनी पूर्णता से सम्बन्ध स्थापन है और यह वृत्ति व्यक्ति के मानस की अपनी वृत्ति है। इसमें एक सहज स्वाभाविकता है, जिसके कारण धर्म को मानव जीवन से

---

1 डॉ० रामनारायण व्यास- धर्मदर्शन, पृष्ठ-188
2 डॉ० रामनारायण व्यास- धर्मदर्शन, पृष्ठ-188
3 डॉ० रामनारायण व्यास- धर्मदर्शन, पृष्ठ-188
4 डॉ० कल्याण सिंह शेखावत, मीरा ग्रथावली-भाग-1, पृष्ठ-51-52
5 फ्रॉयड- फ्यूचर ऑफ एन इल्यूजन, पृष्ठ-67
6 डॉ० रामनारायण व्यास- धर्मदर्शन, पृष्ठ-190

कभी भी निष्कासित नही किया जा सकता है। रूस में धर्म को मानव जीवन से निकालकर बाहर फेकनें का बड़ा प्रयत्न किया गया। राज्य का पूरा प्रचार विभाग और उसकी उद्दाम शक्ति भी प्रयत्न करके हार गयी, किन्तु मानव मन का धर्म खत्म नही किया जा सका। इसलिए रूस मे फिर से गिरजे बनने लगे। इस तरह धर्म को हम मानव मन की एक सहज वृत्ति के रूप मे पाते हैं।

सामाजिक आधार

मानव जीवन के प्रारम्भ में सामाजिक कारण व्यक्ति को किसी विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित कर डालते हैं। शिशु आखिर न तो हिदू पैदा होता है, न मुसलमान, न ही ईसाई या किसी अन्य धर्म का अनुयायी। माता-पिता का आचार-विचार, सामाजिक पर्यावरण का प्रभाव उसे किसी विशिष्ट धर्म का सदस्य बना देता है। विश्व के 99 प्रतिशत हिन्दू, मुसल्मि और ईसाई इसी पारिवारिक तथा सामाजिक कारण की उपज हैं। इतिहास तो यह भी बतलाता है कि राज्य के प्रभाव के कारण भी कई बार किसी भूखण्ड या राज्य के निवासी किसी विशेष धर्म को स्वीकार करने के लिए मजबूर किये गये। इस्लाम धर्म का प्रसार एव प्रचार एक सीमा तक इसी ढग से किया गया।

सामाजिक दृष्टि से जिस धर्म को मानव मन में प्रविष्ट किया जाता है, वह धर्म का बाहरी रूप ही होता है। बाल्यकाल के अविकसित एवं शीघ्र ग्रहणशील समय में समाज अपने विश्वास तथा आचार-विचार मानव मन के अन्दर छोड़ देता है जो समय आने पर समाज के साथ एकता स्थापित करने में सहायक होते हैं।

मार्क्स का मत था कि आदमी सामाजिक सम्बन्धों की समष्टि मात्र है।[1] इसके मतानुसार धर्म मनुष्य के वास्तविक मूल्यों के ससार को ही बदल डालता है। मानव जीवन शक्ति और आनन्द से पनपता है, किन्तु धर्म इस सत्यता को ही बदल देता है और इन्सान को नम्रता, गरीबी, अपरिग्रह जैसी वस्तुओं को अपनाने के लिए तैयार करता है। नीत्शे ने इस तरह के गुणों को दास गुणों का नाम दिया था।[2] मार्क्स ने तो यहाँ तक लिखा है - 'धर्म सताये गये प्राणी की सिसकी है, निर्दयी विश्व का हृदय है, नितान्त ही अध्यात्म-विरोधी परिस्थितियों की भावना है। वह गरीबों की अफीम है।[3] मार्क्स ने इसलिए निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर का विचार बिगडी सभ्यता की आधार-शिला है।[4]

मार्क्स ने जो कुछ कहा नितान्त त्रुटिपूर्ण नहीं था। धर्म की ओट में समाज के अत्याचारी तथ अनाचारी तत्वों ने मानवता को कई बार चोट पहुँचाई है। धर्म के लिफाफों में अनेक बार शोषण तथा पीड़ा को छिपाकर रखा गया है। किन्तु इस बात को

---

1 कार्ल मार्क्स - सिक्स थेसिस ऑन फ्यूरबाख, पृष्ठ- 163

2 नीत्शे - बियान्ड गुड एण्ड एविल, पृष्ठ- 194-197
डॉ० जे० एन० सिन्हा - नीति शास्त्र, पृष्ठ- 190-191

3 कार्ल मार्क्स- सिक्स थेसिस ऑन फ्यूरबाख, पृष्ठ- 167-168

4 वही, पृष्ठ- 170

अच्छी तरह समझ लिया जाय कि वह धर्म जिसके पीछे शोषण तथा उत्पीडन की कहानी है, वास्तविक धर्म नहीं है। वह धर्म का छल है। जिस व्यक्ति ने धर्म के वास्तविक मर्म को समझा, उसने अत्याचार के खिलाफ गाधी की तरह बगावत की और उसे हराकर दम लिया। धर्म अन्याय का पोषक नहीं, विध्वसक है। राम ने कभी राक्षसों को क्षमा नहीं किया। गीता कहती है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, ईश्वर अधर्म को धाराशाही करने के लिए तत्पर हो जाता है।[1]

जिस धर्म ने अत्याचार को सहा, उसके सामने सिर झुकाया या उसके सामने मूक मौन रूप से अपने आप को समर्पित कर डाला, वह धर्म नहीं है। अधिकाश लोग रूढ़ियों, रिवाजों, चली आ रही परम्पराओं, मन्दिरों मस्जिदों, गिरजों आदि की अभ्यर्थना को ही धर्म मानते हैं। यहीं गलती हो जाती है। यह सब तो बच्चों को जिस तरह हम अक्षर सिखाते हैं, उसी तरह व्यक्तियों को धर्म की दिशा में ले चलने का प्रयास मात्र है। धर्म का अन्तिम उद्देश्य परम तत्व का साक्षात्कार करना है, जिसमें सभी तरह के स्वार्थ, सभी तरह के छल-कपट खत्म हो जाते हैं। पण्डितों और मौलवियों के माध्यम से चलने वाला धर्म, धर्म नहीं है। अज्ञान का पिटारा है, छल और कपट है। क्योकि मुल्ला, मौलवी और पण्डित खरीदें जा सकते हैं और खरीदे जाते रहे हैं। धर्म के व्यवसाय के कारण वे अपने सासारिक जीवन को जगमगाने का उपक्रम करते हैं।

रूढिवादिता धर्म का असली रूप नहीं है। धर्म की वास्तविक अनुभूति होने पर साधक इब्नान अरबी की तरह कहता है- मेरा हृदय प्रत्येक प्रकार में ढलने की क्षमता रखता है। ईसाईयों के लिए यह गिरजा है, मूर्ति पूजकों के लिए मदिर है, मुस्लिमों के लिए यह काबा और कुरान है। मैं तो सिर्फ मुहब्बत के धर्म को ही पूजता हूँ। मेरा मजहब तथा मेरा विश्वास ही सही धर्म है।[2] रामकृष्ण परमहंस कई प्रकार के विश्वास तथा पूजाओं को करते थे। गॉधी जी की प्रार्थना सभा में सभी धर्मो के ग्रथो से अश पढे जाते थे।

यदि व्यक्ति के मन में ईश्वर का भय होगा तो वह कभी भी गिरावट की अवस्था में नहीं जायेगा। यदि हमें मानव समाज को समृद्ध करना है, उसे झगड़ों तथा विद्रोह से बचाना है, उसमें नैतिकता का उभार देखना है,उसमें प्रगति का प्रवाह उन्मुक्त करना है, तो धर्म का आश्रय लेना ही होगा। धर्म समाज के जीवन को स्थायित्व देता है। उसकी संस्कृति को सर्जनशील दिशा देता है, उसके जीवन में फूलों और बहारों की सृष्टि करता है। धर्म के रंग से रगी मानवात्मा सारे विश्व में एक ही प्रभु का दर्शन करती है, सभी से प्यार करती है।[3] धर्म हमारी आत्मा तक पहुँचता है और हमें क्षुद्रताओं से लडना सिखाता है। धर्म एक प्रकार की सामाजिक पूर्णता का प्रयास है।[4]

सामान्य आदमी अपने आप से पूछ सकता है कि मै समाज के लिए अपने स्वार्थ की बलि क्यों दूं। उसके प्रश्न का उत्तर न तो राज्य के पास है न कानून के पास और न ही समाज के पास। उसके प्रश्न का उत्तर है धर्म के पास। धर्म

---

1 गीता- यदा यदा हि धर्मस्य -----

2 डॉ० सी० एल० त्रिपाठी - मध्यकालीन दर्शन, पृष्ठ-179

3 तुलसीदास, रामचरित मानस - ''सियाराम मै सब जग जानी
करहूँ प्रणाम जोरि जुग पानी।।''

4 डॉ० राधाकृष्णन - रिलिजन एण्ड सोसायटी, पृष्ठ- 242

उसे बतलायेगा कि एक ही ईश्वर इस तरह की विविधताओं में प्रकट हो रहा है। इसलिए किसी से घृणा या दुर्व्यवहार ईश्वर के साथ दुर्व्यवहार है। समाज को बचाने वाली नैतिकता का पाठ व्यक्ति धर्म से ही सिखता है। अत धर्म मानव समाज के लिए एक अति आवश्यक तत्व है। धर्म कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसे चाहा तो स्वीकार किया, चाहा तो फेक दिया । धर्म से विलगाव का अर्थ है समाज की पूरी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करना। धर्म की अवहेलना हम समाज को खत्म करने की सम्भावना के खतरे को उठाकर ही कर सकते हैं।[1]

धर्म के विस्तार के साथ हमारे भ्रष्टाचार, जातिवाद, वर्णविद्वेष, संकुचित राष्ट्रीयतावाद, पूँजीवाद आदि सभी गर्हित प्रवृत्तियों का अन्त होने लगेगा, क्योकि समाज की जितनी भी बुराईयॉ हैं वे मूल में व्यक्ति की अपूर्णता तथा अपरिपक्वता के कारण है। धर्म व्यक्ति को पूर्ण तथा परिपक्व बनाकर समाज की प्रगति तथा विकास का द्वार खोल देता है।

वैयक्तिक आधार

ईश्वर वह साथी है, जो दुनिया के सभी साथियों के छूट जाने पर भी व्यक्ति का साथ देता है और नया जीवन देने के साथ उत्साह तथा विश्वास का दीपक भयकर तुफानों तथा झंझावातों में भी बुझने नहीं देता। ईश्वर अनेक टूटते मानव मनों को ऐसा दृढ सहारा देता है, ऐसी स्फूर्ति भर देता है कि वे बडी बाधाओं तथा आपत्तियों को हँसते-हॅसते झेल जाते है और अत मे सफलता सुन्दरी उनका वरण करने के लिए बाध्य होती है। जैसा कि गुस्ताव थियोडोर फेक्नर ने लिखा है, - "ईश्वर तुम्हारे दु:ख दर्द को बाहर से नहीं निरखता, बल्कि तुम्हारे ही साथ उसका अनुभव करता हैं।"[2]

शुष्क बुद्धजीवी लोगों की दृष्टि से ईश्वर एक भ्रम है, किन्तु वह आस्था शील व्यक्ति की दृष्टि में एक जीवित सत्य है। जैसा कि आर्थ रजक्लफ ने लिखा है - "प्राय. व्यक्ति बुढ़ापा, बीमारियां, विपत्ति आदि आने पर ईश्वर में विश्वास करने लगता है, क्योंकि वही तो उसे सहारा दे पाता है।"[3]

आधुनिक काल की अधिकाश मानसिक व्याधियां व्यक्ति के तनावपूर्ण जीवन के कारण हैं। हम आफिस में साहब की दुष्टता पूर्ण व्यवहार से सतप्त होते हैं, घर में लडके के व्यवहार से उत्तेजित होते हैं, पड़ोसी के असभ्य व्यवहार से परेशानी महसूस करते हैं, नौकरी के अस्थायित्व से चितित होते हैं, रूपये की कमी से बेचैन हो जाते हैं, सुबह गाडी समय पर पकडनी है इसलिए रात को सो नहीं पाते, लड़की लड़के के विवाह के लिए वधु या वर न मिलने के कारण उदास हैं। जीवन की परेशानिया अनेक मार्गो से आती हैं, ऐसा डॉ० फ्लैण्डर्स उहैबार का भी मत है।[4]

---

1 डॉ० राधाकृष्णन - रिलिजन एण्ड सोसायटी, पृष्ठ- 242
2. डॉ० राम नरायण व्यास - धर्मदर्शन, पृष्ठ-197
3 डॉ० राम नरायण व्यास - धर्मदर्शन, पृष्ठ-198
4 डॉ० फ्लैण्डर्स उहैबार - माइण्ड एण्ड बॉडी, पृष्ठ-138

मानसिक व्याधियों एव तनावों से छुटकारा व्यक्ति धार्मिक साधना के द्वारा प्राप्त कर सकता है। डाक्टर आर्टिस्ट फाक्स रिग्ज का मत है कि ध्यान से मन को स्फूर्ति तथा आराम प्राप्त होता है।[1] धर्म से इतनी शक्ति प्राप्त होती है कि वह भविष्य मे भी काम आ सकती है और जीवन को सतुलित एव लचीला बनाने में मदद मिलती है। सुप्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता डॉ० कार्ल युग ने तो यह मान्यता अत्यन्त दृढ एव ओजपूर्ण शब्दों में व्यक्त की है कि धर्म की सहायता से ही व्यक्ति जीवन के कालुष्य को लील सकता है।[2] उसने अपने गुरु फ्रॉयड की भी आलोचना इस बात के लिए की है कि धर्म के महत्व को ठीक ढग से ऑकने मे वह असफल रहा। विलियम जेम्स ने भी उन लोगों की खूब खबर ली है, जो धर्म को मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि में महत्वपूर्ण नहीं मानते, जो प्रत्येक शारीरिक तथा धार्मिक घटना को दैहिक अंगों, ग्रंथियों तथा स्नायुयों की असाधारण स्थिति के कारण समुत्पन्न मानते हैं।[3]

जॉन केयर्ड के अनुसार धर्म की आवश्यकता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक पुरूष होना चाहिए। क्योंकि ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं जो अपने आप को नास्तिक कहलाना पसन्द करते हैं और किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय से अपना सम्बन्ध नहीं रखते हैं। धर्म की आवश्यकता का अर्थ केवल इतना ही है कि धर्म में एक उच्चतम आवश्यकता निहित है, क्योंकि विचार के तत्व में ही यह आवश्यकता अन्तरभूत है। इसलिए धर्म प्रत्येक विचारशील प्राणी की प्रकृति का एक अश है।धर्म की आवश्यकता का भाव यह है कि जो कुछ सापेक्ष तथा सीमित है उसके पार जाया जाए तथा सीमित आत्मा को निरपेक्ष एव निर्द्वन्द ब्रह्म से सयुक्त किया जाय।[4]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि जिस प्रकार हम बिना हवा पानी के जीवित नहीं रह सकते हैं, उसी प्रकार हम धर्म के बिना भी मानव जीवन नहीं बिता सकते हैं। जिस तरह स्वस्थ मानव जीवन के लिए विशुद्ध हवा, पानी आवश्यक है, उसी तरह शुद्ध धर्म मानव की वास्तविक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए आवश्यक है। धर्म हमारे मन को शांति देता है, वैयक्तिक जीवन को प्रसन्न बनाता है, तथा सामाजिक जीवन को शान्ति तथा समृद्धि से अलंकृत करता है। धर्म की आवश्यकता को बतलाते हुए महाभारत में कहा गया है कि लोकयात्रा का निर्वाह करने के लिए धर्म जरूरी है।[5] न्याय दर्शन की धारणा है- यह जगत धर्म प्रधान है। धर्म के आचरण से निर्भयता, प्रसन्नता, शान्ति आदि सुखों की वृद्धि होती है, जबकि अधर्म के आचरण से शंका, चंचलता, अशांति आदि दुःखों में वृद्धि होती है।[6] महर्षि कणाद भी कहना चाहते हैं कि धर्म से इहलोक में अभ्युदय और मृत्यु उपरान्त मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होगा।[7] महर्षि बाल्मिकी ने लिखा है- ''धर्म से अर्थ प्राप्त होता है। धर्म से

---

1 डॉ० आर्टिस्ट फाक्स रिग्ज - दी रीडर्स डाइजेस्ट, जनवरी,1945

2. डॉ० सी जी० युंग- माडर्न मैन इन सर्च आफ ए सोल, पृष्ठ- 277-78

3 विलियम जेम्स, वेराइटीज ऑफ रीलिजियस एक्सपेरियेन्स, पृष्ठ-14

4 जॉन केयर्ड - एन इन्ट्रोडक्शन टू दी फिलासफी आफ रीलिजन, पृष्ठ- 27

5 महाभारत शांति पर्व - 15/49 - ''लोकयात्रार्थ में देहे धर्म प्रवचनम् कृतम्''

6 तन सुखराम गुप्त - हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ-19

7 'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धि स धर्मः- वैशेषिक सूत्र - कणाद

सुख का उदय होता है। धर्म से ही मनुष्य सब कुछ पाता है। इस ससार में धर्म ही सार है।[1]

धर्महीन जीवन का दूसरा नाम सिद्धान्तहीन जीवन है और बिना सिद्धान्त का जीवन बिना पतवार की नौका के समान है, ऐसा महात्मा गॉधी का मानना है।[2] इतना ही नहीं वेद व्यास जी ने चेतावनी दी है- यदि तूने धर्म को तिरोहित या अच्छिन्न किया तो तू स्वय ही नष्ट हो जायेगा और यदि तूने धर्म की रक्षा की तो वह धर्म तेरी रक्षा करेगा''।

''धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ''[3]

1 बाल्मिकी रामायण- आरण्यक काण्ड- 9/30

2 तनसुखराम गुप्त - हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ-20

3 महाभारत, वन पर्व

द्वितीय अध्याय

संदर्भित धर्मों का परिचय
धर्म ग्रन्थ, धर्म प्रतीक
एवं
पूजा स्थल

प्रथम भाग - हिन्दू धर्म के संदर्भ में

हिन्दू और हिन्दू धर्म

'हिन्दू' शब्द का प्रयोग कब से प्रारम्भ हुआ, यह विवादास्पद है और गवेषणा का विषय है। 'हिन्दू' शब्द वेदों, उपनिषदों तथा प्राचीन सस्कृत ग्रथों में नहीं मिलता है। इसका कारण भी है- 'हिन्दू' शब्द जातिवाचक है और वेद तथा अन्य सस्कृत ग्रथों में सम्पूर्ण मानव जाति के अभ्यूदय तथा नि श्रेयस की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ है। अतः सम्पूर्ण प्राणियों में एकात्मभाव का दर्शन करने वाले मनीषी भला सर्व-हितकारी भावनाओ को एक सीमित जाति के लिए ही क्यों प्रयुक्त करते? अत प्राचीन साहित्य में 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता तो इसमें साहित्य निर्माताओं की विशाल दृष्टि ही हेतु है।

'हिन्दू' शब्द फारसी भाषा से प्रभावित है। फारसी में 'स' ध्वनि बदकर 'ह' हो जाती है, जैसे सप्ताह - हफ्ता। सस्कृत सिधु (नदी) का फारसी उच्चारण हिन्दू है।[1] प्राचीन फारस अर्थात् वर्तमान में इरान के निवासी सिन्धु को 'हिन्दू' तथा सिन्धु क्षेत्र के निवासियों को 'हिन्दवी' कहा करते थे। बाद में अरबों तथा तुर्कों ने भी फारसियों के प्रभाव में सिन्धु नदी के लिए 'हिन्दू' तथा उसके आस-पास के निवासियों के लिए 'हिन्दवी' संज्ञा का प्रयोग किया। आज भी भारत को ईरानी तथा अरबी 'हिन्दुस्तान' और 'हिन्दुस्तान' के निवासियों के लिए 'हिन्दवी' संज्ञा प्रयोग करते हैं। यह नाम भौगोलिक अधिक धार्मिक कम है।[2] सिन्धु को अग्रेजी में 'इन्डअस' INDUS कहा गया है। फारसियों तथा पाश्चात्य आक्रामकों द्वारा गलत उच्चारण के कारण 'इण्डस' से 'हिन्दुज' HINDUS हो गया।[3]

आरम्भ में 'हिन्दवी' क्षेत्र विशेष के निवासियों की सज्ञा थी। उस समय अरब सिन्धु निवासियों के धर्मों को 'बिरहमन' तथा 'सम्मन' कहा करते थे। 'बिरहमन' का अर्थ है ब्राह्मण धर्म और 'सम्मन' का अर्थ 'श्रमण धर्म' है।[4] बिरहमन और सम्मन उपनिषद काल के पद हैं।

आर्यों के वैदिक कर्म-काण्डी धर्म की सज्ञा ब्राह्मण धर्म तथा बुद्ध और महावीर द्वारा स्थापित धर्मों की सज्ञा श्रमण धर्म थी। मुहम्मद बिन कासिम ने इन दोनों भारतीय धर्मों के लिए ये नाम प्रयुक्त किये थे।[5]

इस प्रकार सप्त सिन्धु के इस भू भाग को हिन्दुस्तान या 'हिन्दू देश' तथा उनके धर्म को हिन्दू धर्म कहा जाता है। इस दृष्टि से भारत में प्रचलित अन्य प्राचीन धर्मों का भी समावेश हिन्दू धर्म में हो जाता है। लेकिन हिन्दू धर्म की मान्य परिभाषा में वेदों पर आधारित धर्म ही हिन्दू धर्म है। परम्परा में उसे सनातन धर्म भी कहा गया है, और हिन्दू धर्म को 'सनातन धर्म'

---

1 डॉ० राजबली पाण्डेय- हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ- 702-703
2 डॉ० भूपेन्द्र कुमार मोदी- एक ईश्वर, पृष्ठ- 71
3 मित्रा- डॉयनामिक्स आफ फेथ, पृष्ठ- 164
4 डॉ० कृष्णन दूबे- भारत के धर्म और दर्शन, पृष्ठ- 71
5 डॉ० कृष्णन दूबे- भारत के धर्म और दर्शन, पृष्ठ-70

कहना उचित भी है। 'सनातन' शब्द का अर्थ है- शाश्वत, प्राचीन और धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से है, जिसका अर्थ है - धारण करने वाला। इस प्रकार जो धर्म विश्व को धारण करता है तथा शाश्वत और प्राचीन है, वह सनातन धर्म है। स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती के शब्दों में - ऋषि दृष्टि वेद ज्ञान के आधार पर ही इस देश की संस्कृति और धर्म का आविर्भाव हुआ, इसलिए इसे वेद प्रणीत धर्म, वैदिक धर्म या सनातन धर्म कहा गया है। सनातन धर्म का अर्थ सदैव से विद्यमान धर्म विज्ञान से ही है। अपने उद्भव से लकर चरम-परिणति-पर्यन्त वस्तु के अस्तित्व की रक्षा की निधि धर्म ही है।

माधव दिग्विजय 'हिन्दू' को पारिभाषित करते हुए कहते हैं कि हिन्दू वह है जो पॉच तत्वों में विश्वास करता है। वे पॉच तत्व है- ओंकार को मूल मत्र मानने वाला, पुनर्जन्म विश्वासी, गोभक्त, जिसका प्रवर्तक भारतीय हो तथा हिसा को निन्द्य मानने वाला हिन्दू है।[1]

उपरोक्त पाचो तत्वों का विश्लेषण करते हुए प० श्री माधवाचार्य शास्त्री लिखते है-[2]

1- सनातनी प्रत्येक मन्त्र के साथ ओंकार का योग आवश्यक मानते हैं। अत यह उनका परम पवित्र सर्व वेद बीज भूत प्रधान मन्त्र है। आर्य समाजी तो 'ओं' के सर्वाधिक उपासक हैं। स्वामी श्री दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में इसे परमात्मा का निज नाम माना है। उनका ध्वज भी 'ओं' से चिन्हित होता है। अन्य धर्मावलम्बी भी 'ओं' का प्रयोग करते हैं। सिक्खों के धर्म ग्रथ में सर्वप्रथम - ''एक ओंकार सद्गुरू प्रसाद', यही मंगलाचरण मिलता है। जैनियों का गुरूमन्त्र 'ओं नमोः अरिहताणम्' इत्यादि है। बौद्धों का भी प्रधान मंत्र- ओं मणिपद्मेहुम' है। इस प्रकार सभी 'ओं' को मूल मंत्र मानते है।

2- पुनर्जन्म में सबका समान विश्वास है, कर्म विपाक के तारतम्य सेही सब- ''सति मूले ताद्विपाको जात्यायुर्भोग·'' को मानते हैं।

3- ''गावस्त्रैलोक्यमातर·'' मानने वाले सनातनी गौ के लिए अब भी प्राणों की बाजी लगाने को तत्पर रहते हैं। सिक्ख धर्म में भी गौ के लिए सम्मान प्रदर्शित किया गया है।[3] जैन कवि नरहरि के प्रयास से अकबर ने अपने राज्य में गो-वध बन्दी का फरमान जारी किया था। बुद्ध भागवान ने धम्मपद में लिखा है- ''गौएं हमारी परममित्र हैं और गौएं हमारा परमधन हैं।''[4]

4- सभी धर्माचार और मूल प्रवर्तक भारत के ही सपूत हुए हैं।

5- सभी हिन्दू मनसा, वाचा, कर्मणा हिसा से घृणा करते हैं।

वीर सावरकर हिन्दू को पारिभाषित करते हुए कहते हैं कि सिन्धु नदी से लेकर समुद्रपर्यंत की भरत-भूमि जिसकी

---

1 ''ओकार मूल मन्त्राढ्य पुनर्जन्मदृढाशय ।
गो भक्तो भारत गुरू हिन्दु हिसन दूषक ।। - माधव दिग्विजय

2 'कल्याण'- हिन्दू सस्कृति अक, पृष्ठ - 74

3 गुरू गोबिन्द सिह - विचित्र नाटक ''यही देह आज्ञा तुरक को मिटाऊँ।
गऊ घात का पाप जग से हटाऊँ।''

4 गावो न परमा मित्ता गावो नो परमधनम् - धम्मपद।

पितृ भूमि और पुण्यभूमि हो, वह 'हिन्दू' है।[1] 'शब्द कल्पद्रुम' में कहा गया है कि जो हीन को त्याज्य समझता है, वह 'हिन्दू' है।[2] हेमन्त कवि कोश ने भगवान नारायण आदि देव की उपासना करने वाले को 'हिन्दू' कहते हैं।[3] रामकोश ने सद्धर्म पालन, विद्वान तथा वैदिक धर्म में आस्था रखने वाले को 'हिन्दू' कहा है। मेरूतन्त्र में कहा गया है कि हिसा से जिसका मन (हृदय) दु खित होता है, वह हिन्दू है।[4] लोकमान्य तिलक ने हिन्दू का लक्षण इस प्रकार किया है- वेदो में प्रामाण्य बुद्धि रखने वाला, नानाविध नियमों का पालक, अनेक प्रकार से ईश्वर की उपासना करने वाला 'हिन्दू' कहलाता है।[5] यह हुआ 'हिन्दू' का सैद्धान्तिक विवेचन।

व्यावहारिक रूप से 'हिन्दू' वह है, जिसने हिन्दू माता पिता से जन्म लिया है। जनेऊ पहनें या न पहनें, धर्मशास्त्र में आस्था या विश्वास रखता है या नहीं, जन्म-मरण और कर्मवाद की अवधारणा को मान्यता देता है या नहीं, चार ऋणों से ऋण होना चाहता भी है या नहीं, जीवन के चार मूल्यों-पुरूषार्थो का पालन करता भी है या नहीं, इस बात से कोई अन्तर नहीं पडता। हिन्दू माता-पिता से उत्पन्न बालक में अपने परिवेश के प्रभाव से इसकी अनुभूति रहती है कि वह 'हिन्दू' है। इससे भी अधिक अनुभूति की सम्भावना उसके संस्कारों की प्रक्रिया से बढती है।

हिन्दू के विवेचन के पश्चात अब हिन्दू धर्म पर भी प्रकाश डालना अपेक्षित है। डॉ राम प्रसाद मिश्र के अनुसार- वेद मूलक उपनिषद् पुष्ट पुराण पल्लवित हिन्दू धर्म वह धर्म है, जो परमात्मा को सर्वव्यापक एव सर्वशक्ति सम्पन्न मानता है, जो उसके निर्गुण-निराकार होने में संदेह न करते हुए भी उसे सगुण साकार बनने के लिए सामर्थ्य से रहित नहीं समझता, जो ब्रह्म को विश्वात्मा समझता है, उसका परमात्मा 'एकमेवाऽद्वितीयम' है।[6] डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है कि तर्क और प्रेम हिन्दू धर्म की विशेषता है।[7] स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में कहा है- "मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने ससार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति, दोनों को ही शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मो के प्रति केवल सहिष्णुता से ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मो को सच्चा मानकर स्वीकार करते है।[8]

हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति विशेष की देन नहीं है। यह धर्म तो अनेक धर्मों, मतांतरो, आस्थाओं तथा विश्वासों का समुच्चय है। यह विकासशील धर्म रहा है। पिछले 3500 सालों में गणों के देवी-देवताओं, मिथकों तथा पूजा पद्धतियों को अपने में संग्रहित, समाहित एवं समन्वित करते हुए यह धर्म विभिन्न कालों में विभिन्न रूप लेता रहा और आज अन्य धर्मों के समान

---

1 'आसिन्धो सिन्धु पर्यन्ता यस्य भारत भूमिका।
पितृभू पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दु रिति स्मृत'।। - वीर सावरकर

2 'हीन' दूषयति इति हिन्दू.' - 'शब्द कल्पद्रुम'

3 'हिन्दू रीति नारायणदि देवता भक्त. - हेमन्तकवि कोश

4 "हिन्सनाद दूयते यस्य हृदय स हिन्दू" - मेरूतन्त्र

5 "प्रामाण्य बुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता ।
उपास्यानाम् नियमो हिन्दू धर्मस्य लक्षणम्।। - लोकमान्य तिलक

6. डॉ० रामप्रसाद मिश्र - हिन्दूधर्म - पृष्ठ- 102-103

7. डा० राधाकृष्णन - भारत की अन्तरआत्मा - पृष्ठ - 9

8 विवेकानन्द साहित्य - प्रथम खण्ड - पृष्ठ - 3

यह निश्चित निर्धारित आस्था अनुष्ठान से बधा कोई एक धर्म विशेष नहीं बल्कि विभिन्न आस्थाओं का सचित पुन्ज है। ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, पारसी धर्म ,बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म को व्यक्तिवादी धर्म कह सकते है, क्योंकि वे व्यक्ति विशेष की देन है। परन्तु हिन्दु धर्म को व्यक्तिवादी धर्म कहना अनुचित होगा। हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति विशेष या जाति विशेष का धर्म नही है, यह सम्पूर्ण मानवता का धर्म है।

हिन्दु धर्म जीवन की पद्धति प्रस्तुत करता है। कुछ विद्वानों ने हिन्दू धर्म को 'WAY OF LIFE' कहा है। यही कारण है कि डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, जो हिन्दू धर्म से सम्बन्धित है, का नामकरण "हिन्दूज व्यूह ऑफ लाईफ" किया है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि हिन्दु धर्म मात्र जीवन का मार्ग प्रस्तुत करता है, भ्रामक होगा। हिन्दु धर्म जीवन की पद्धति प्रस्तुत करने के साथ-साथ एक संगठित धर्म भी है। इसलिए जेहनर ने कहा है कि हिन्दू धर्म जीवन के मार्ग के साथ ही साथ एक सामाजिक तथा धार्मिक सगठन है।[1]

वर्तमान जीवन मूल्यों के लिए हिन्दू धर्म ही सर्व प्रकार से कल्याणकर और मंगलमय है। जैसे-जैसे मानव अतरिक्ष के अन्य ग्रहों का परिचय पाएगा, वैसे-वैसे हिन्दुओं के विचार 'सर्व खल्विदम् ब्रह्म'का अर्थ समझता जायेगा,'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'को मानता जायेगा, 'अहं ब्रह्मास्मि' की दिशा में बढ़ता जायेगा। हिन्दू धर्म की सत्यता और सिद्धान्त को स्वीकार कर भौतिक एव अध्यात्मिक मूल्यों को अपनाकर मानव अपने को कृतार्थ करेगा।

धर्मग्रंथ

हिन्दू धर्म ग्रथों की संख्या अनगिनत है। चार वेद, एक सौ आठ उपनिषद, अठ्ठारह पुराण, षड्दर्शन ग्रंथ, वैष्णव, शैव, शाक्त, आगम या तन्त्रग्रंथ, महाभारत, रामयाण, गीता, दुर्गा सप्तशती, राम चरित मानस, सत्य नारायण कथा, मध्ययुगीन सतो के विभिन्न भाषाओं के भक्ति पद तथा असंख्य प्रार्थनायें, स्तुतियां, आरतियां, अर्चनायें, हिन्दुओं के विपुल धर्मग्रंथ हैं। सम्प्रदाय, मत, आस्था, रूची, क्षेत्र विशेष तथा अनुष्ठान पर्व के अनुसार इनमें से किसी भी ग्रंथ या कथा, आरती का पठन-पाठन, गायन किया जा सकता है। इनमें से कुछ मुख्य ग्रंथों का परिचय इस प्रकार हैं-

वेद

'यस्य निश्वसित वेदाः' के अनुसार वेद ईश्वर के श्वास रूप हैं। ऋषियों ने इनका साक्षात्कार किया था।[2] महर्षि दयानन्द ने वेद का विवेचन करते हुए कहा है कि जिनसे सभी मनुष्य सत्य विद्या को जानते हैं अथवा प्राप्त करते हैं, अथवा विचारते हैं, अथवा विद्वान होते हैं अथवा सत्य विद्या की प्राप्ति के लिए, जिनमें प्रवृत्त होते हैं, उनको वेद कहते हैं।[3] मनु जी ने वेदों को

1. डॉ० आर सी जेहनर- 'हिन्दूइज्म' - Hinduism is in Fact, both a way of Life and highly organized social and religious system.
2. "साक्षात्कृत धर्माणः ऋषयोवभूवु."

3. दयानन्द सरस्वती - ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ-15

सर्वज्ञानमय कहा है। डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है- वेद मानवमन से प्रार्दुर्भूत ऐसे नितान्त आदि कालीन प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, जिन्हे हम अपनी निधि समझते हैं।[1]

वेदो का कोई रचयिता नहीं है। वेद देव वाणी हैं। वेद का दूसरा नाम त्रयी है। पहले सम्पूर्ण वेद मन्त्रो को तीन वर्गो में विभक्त किया गया था- 1- प्रार्थना अथवा स्तुति मत्र · ऋग् 2- यज्ञयागादि विधायक मंत्र · यजुष्, 3- शान्ति अथवा मगल स्थापित करने वाला गेय मत्र· साम्। इसी आधार पर प्रथम तीन सहिताओं के नाम ऋगवेद, यजुर्वेद तथा सामवेद पडे। धर्म, दर्शन, लौकिक कृत्यों एव अभिचारों को सग्रह अथर्ववेद में करके वेदों की सख्या चार प्रतिष्ठित हुई। चारो वेदो के सम्यक विभाजक और सम्पादक हैं- श्री वेद व्यास जी।

वेदो का निर्माण कब हुआ, इसमें मतभेद है। मनुष्य द्वारा न रचे जाने और ईश्वर कृत होने के कारण ही वेदों को अपौरूषेय कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि से ऋगवेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद प्राप्त हुए है। श्री राम दास गौड के अनुसार चारों वेद परम पुरूष यज्ञ- भगवान से उत्पन्न हुए हैं। चारों वेदों की उत्पत्ति सृष्टि की उत्पत्ति के साथ हुई है।[2] पाश्चात्य विद्वान मैक्स मूलर का कहना है कि वेद मानव जाति के पुस्तकालय में प्राचीनतम् ग्रंथ हैं। चारों वेदों का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

ऋगवेद सबसे बडा और प्राचीन वेद है। इसकी भाषा वैदिक संस्कृत हैं। ऋगवेद का विभाजन दो शैलियों में किया गया है-

1- मण्डलों और सूक्तों में ।

2- अष्टकों, अध्यायों और सूक्तों में।

पहली शैली में दस मण्डल हैं और प्रत्येक मण्डल में सूक्तों की संख्या अलग-अलग है। दूसरी शैली में आठ अष्टक हैं, उनमें चौसठ अध्याय हैं, और उनमें कुल मिलाकर दस सौ अठ्ठाइस (1028) सूक्त हैं। सूक्तों की संख्या दोनों शैलियों में बराबर हैं। ऋगवेद मुख्यत देवताओं की स्तुति का वेद है। काव्य की दृष्टि से देखा जाय, तो ऋग्वेद उत्कृष्ट काव्य रचना है। ऋग्वेद का ऋत्विज 'होता' कहलाता है।

यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद कहा जाता है। दशपौर्णमास, पुरूषमेध, सर्वमेध, राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों से सम्बन्धित मत्र यजुर्वेद में हैं। अन्त के अध्यायों में अन्त्येष्टि के मंत्र हैं। चालीसवां अध्याय 'ईशोपनिषद' कहलाता है। यजुर्वेद में कुल चालीस अध्याय हैं, जिनमें कुल मिलाकर उन्नीस सौ पचहत्तर (1975) मंत्र हैं। ऋग्वेद सबका सब पद्य में है, जबकि यजुर्वेद में कुछ अंश गद्य में भी है। इसका ऋत्विज अध्वर्यु है।

सामवेद में गाये जाने वाले मंत्र सकलित हैं। सामवेद के कुल अठ्ठारह सौ पचहत्तर (1875) मंत्रों में से केवल 75 मत्र

1- डॉ० राधाकृष्णन - भारतीय दर्शन, भाग-एक, पृष्ठ - 63

2- श्री रामदास गौड- हिन्दुत्व हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ -21

ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में नहीं हैं। गीता में "वेदानाम् सामवेदाऽस्मि" कहकर सामवेद को अन्य वेदों से उत्कृष्ट बतलाया गया है। सामवेद को उपासना वेद भी कहा जाता है। इसके ऋत्विज को 'उद्गाता' कहते हैं।

कुछ लोगो का कहना है कि असली वेद अथर्ववेद ही है, क्योंकि इसमें सभी वेदों का सार है। इसमे बीस काण्ड हैं, जो अडतीस प्रपाठको में विभक्त हैं। इसमें कुल मिलाकर सात सौ साठ (760) सूक्त और उनमें छ हजार (6000) मत्र है। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें अध्यात्म चितन अन्य वेदों से अधिक हुआ है। अथर्ववेद मे आयुर्वेद का भी मूल है। जादू-टोने तथा तन्त्र मन्त्र का भी उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। अथर्ववेद के ऋत्विज 'ब्रह्मा' हैं।

वेदों की भाषा, वाक्य प्रणाली, शब्द अर्थ और भाव आदि का ज्ञान कराने वाले शास्त्रों को वेदांग कहते हैं। वेदांग छ. हैं-

1- शिक्षा - वेद की नासिका

2- व्याकरण - वेद का मुख

3- निरूक्त - वेद का कर्ण

4- छन्द - वेद का चरण

5- कल्प - वेद का हाथ

6- ज्योतिष - वेद के नेत्र

पुराण

छादोग्योपनिषद में इतिहास-पुराण को पंचम वेद कहा गया है। पुराण वेदों के उपांग कहे जाते हैं। 'देवी भागवत ' में पुराणों की नामावली के लिए सूत्र रूप में एक श्लोक मिलता है जो इस प्रकार है-

"मद्वय भद्वय चैव ब्रत्रय व चतुष्टयम्।
अ,ना,प,लि,ग,कू, स्कादि पुराणानि पृथक-पृथक।।"

दो मकरादि - मत्स्य और मार्कण्डेय।

दो भकरादि - भविष्य और भागवत्।

तीन ब्रकारादि - ब्रह्मा, ब्रह्मवैवर्त, ब्रहमाण्ड।

चार वकारादि - वायु (शिव), विष्णु, वामन, वराह।

आद्य अक्षरों के अनुसार - अ= अग्नि, ना=नारद, प=पद्म, लिं=लिंग, ग=गरूड, कू=कूर्म, स्क=स्कंद।

इस प्रकार देवी भागवत के अनुसार अठारह पुराण हुए। पुराणों का उद्देश्य पुरानी कथाओं द्वारा उपदेश देना एवं देव-महिमा

तथा तीर्थ-महिमा का वर्णन कर जनसाधारण के हृदय में धर्म के प्रति अडिग आस्था बनाये रखना है। अष्टादश पुराणों में क्रम की दृष्टि से प्रथम पुराण का श्रेय प्राप्त हुआ है, ब्रह्म पुराण को।

उपनिषद

उप+नि, इन दो उपसर्गो के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप' प्रत्यय जोड देने के बाद 'उपनिषद' शब्द बनता है। 'सद्' धातु अनेकार्थक है। विशरण (विनाश), गति (ज्ञान प्राप्ति) और अवसान (शिथिलता, समाप्ति) आदि इसके कई अर्थ हैं। इन सभी अर्थों की सगति उपनिषद् शब्द के साथ बैठ जाती है। इस दृष्टि से उपनिषद शब्द का अर्थ हुआ- "जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सासारिक क्रियाकलापो का नाश करती है, जिससे ससार की कारणभूत अविद्या के बधन शिथिल पड जाते है या समाप्त हो जाते हैं और जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, वही उपनिषद- विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है।" अथवा उप (व्यवधान रहित) नि (सम्पूण), षद् (ज्ञान) के प्रतिपादक ग्रथ ही उपनिषद हैं अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान, जो ज्ञाता से अभिन्न, देश-काल वस्तु के परिच्छेद से रहित, परिपूर्ण ब्रह्म ही उपनिषद शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है।[1] डॉ० राजबली पाण्डेय के शब्दो में - "उपनिषद वह साहित्य है, जिसमें जीवन और जगत के रहस्यों का उद्घाटन, निरूपण और विवेचन है।"[2]

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय उपासना और ज्ञान है। ब्राह्मण और उपनिषद एक दूसरे के प्रेरक हैं। वेद के ज्ञानकाण्ड का नाम ही उपनिषद है। यद्यपि कि उपनिषदो की संख्या 108 मानी जाती है, तथापि 12 उपनिषद् ही मुख्य हैं, जिन पर शकराचार्य ने भाष्य लिखा है। वे बारह उपनिषद हैं- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैतरीय, ऐतरेय, छादोग्य, वृहदारण्यक, कौषतिकि और श्वेताश्वेतरोपनिषद।

गीता

महाभारत के भीष्मपर्व के अध्याय (25) पच्चीस से बयालीस (42) तक अठ्ठारह अध्यायों के प्रकरण को 'गीता' नाम से सम्बोधित किया जाता है। सत ज्ञानेश्वर के अनुसार महाभारत ग्रंथ रूपी कमल का पराग 'गीता' नामक प्रकरण है।[3] गीता ब्रह्म विद्या है, क्योंकि यह सब उपनिषदों का सार है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "भगवद्-गीता वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण भूत ग्रथ है।"[4] भगिनी निवेदिता के अनुसार- "अशांत मन के लिए अभीष्ट ऐसा कुछ भी नहीं है जो गीता में न आया हो।"[5] गीता का दर्शन जाति या धर्म विशेष के लिए नहीं है। वह तो सार्व-भौम जीवन दर्शन है। अनामिका मे महाकवि निराला लिखते

---

1 वाचपस्पति गैरोला- भारतीय दर्शन - पृष्ठ - 38
2 डॉ० राजबली पाण्डेय - हिन्दू धर्म कोश - पृष्ठ - 117
3 सत ज्ञानेश्वर - ज्ञानेश्वरी - 1/50
4. विवेकानन्द - साहित्य भाग- 7, पृष्ठ - 69
5 सिस्टर निवेदिताज वर्क्स, भाग-2, पृष्ठ- 91

हैं-

''गीता - गीत सिंह नाद

मर्मवाणी जीवन सग्राम की

सार्थक समन्वय ज्ञान कर्म भक्ति योग का।''

गीता एक और कर्तव्य पराड़गमुख पार्थ को कर्तव्यनिष्ठा की ओर प्रेरित करती है तो दूसरी ओर यह संदेश देती है कि जीवन का वास्तविक ध्येय मार-काट नहीं, उस सद्गति को प्राप्त करना है, जहाँ अपने पराये का भेद मिट जाता है। गीता मे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गो का विवेचन है। प्रवृत्ति की दृष्टि से निष्काम कर्म का उपदेश है। स्वार्थ की छाया मे किये गये काम्य कर्म गीता को स्वीकार नहीं।[1]

भारतीय धर्म एव दर्शन पर जितना प्रभाव गीता का है, शायद उतना प्रभाव अन्य किसी ग्रथ का नहीं है। गीता की उपयोगिता की बात इसी तथ्य से सिद्ध होती है कि आज शायद ही कोई ऐसा हिन्दू घर हो जहॉ गीता की एक प्रति न हो । सच पूछा जाय तो यह कहना पडेगा कि सम्पूर्ण हिन्दू धर्म का आधार गीता है।

धर्म प्रतीक - ऊँकार

हिन्दू धर्मावलम्बी स्वास्तिक को मागलिक चिन्ह मानते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ है - ''जो स्वस्ति अथवा क्षेम का कथन करता है।'' इसके अतिरिक्त यह गणेश जी का लिप्यात्मक स्वरूप है। बिन्दू विस्फोट से ब्रह्माण्डों का निर्माण हुआ है। बिन्दू के विखण्डन से उसके पदार्थ जिन दिशाओं में फैले उन्होंने स्वास्तिक का आकार धारण किया। स्वास्तिक को कल्याण और विकास के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है। कर्मकाण्डों में यह प्रमुख रूप से प्रदर्शित होता है, किन्तु धार्मिक प्रतीक चिन्ह के रूप में ॐ का विशेष महत्व है। विस्फोट के तुरन्त बाद ब्रह्माण्ड सशक्त विकिरणों से भरा था। भारतीय मिथक क्रिया में ॐ इसका प्रतिनिधित्व करता है। ऊँकार को समस्त मंत्रों का सार, सर्वोच्च मंत्र एवं स्वयं शब्द ब्रह्म कहा गया है। ऊँ अनन्त की ध्वनि है। वह समस्त मंत्रों को शक्ति प्रदान करता है। समस्त मंत्र ऊँकार से ही प्रारम्भ है, और उससे ही सम्पन्न होते हैं। ओंकार तीन वर्णो से बना है- अकार, उकार और मकार। इसके सम्बन्ध में कहा गया है-

आकारो विष्णुरूदिदृष्ट उकारस्तु महेश्वर·।

मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयोः मताः ।।

आकार से विष्णु उकार से महेश्वर और मकार से ब्रह्मा का बोध होता है। इस प्रकार प्रणव से तीनों का बोध होता है। श्रुति आदि ग्रंथो में ईश्वर ऊँकार नाम से पुकारा जाता है। ऊॅकार का ही दूसरा नाम प्रणव हैं। ईश्वर एव प्रणव में

---

1 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सड़गोऽस्त्व कर्माणि।।'' गीता - 2/47

वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध है।[1] ईश्वर प्रणव का वाच्य है और प्रणव ईश्वर का वाचक है। दोनों का यह सम्बन्ध अनादि है। अर्थात वर्तमान सर्ग में ही नहीं अपितु समस्त अतीत सर्गो में ईश्वर 'प्रणव' नाम से जाना जाता है और अनागत सर्गो में भी ईश्वर 'प्रणव' का वाच्य रहेगा।

''यथा पर्ण पलाशस्य शड़कुनैन धार्च्यते।

तथा जगदिदं सर्वमोंकारे जैव धार्च्यते।।''

जैसे पलाश का पता एक तिनके से उठाया जा सकता है, उसी प्रकार यह विश्व ओंकार से धारण किया जा सकता है।

''ओडकारश्चाय शब्दश्च द्वावेर्तो ब्रहमणपुरा।

कण्ठं भित्वा विनिर्यातों तस्मान मांडगलिकावुर्भो।।''

ओंकार और अथ ये दोनों शब्द ब्रह्मा के कण्ठ को भेदन करके निकले हैं, इसलिए इन्हें मागलिक कहा गया है।

''तव्मादोभिव्युदाहत्य यज्ञदानतप क्रियाः।

प्रर्वतते विधानोक्ताः सततं ब्रहमवादि नामं।।''[2]

इसलिए ओंकार का उच्चारण करके ब्रह्मवादी लोग विधिपूर्वक निरन्तर यज्ञ, दान, तप की क्रिया आरम्भ करते हैं। योगी लोग ओंकार का उच्चारण दीर्घतम् घंटाध्वनि के समान लम्बा या अत्यन्त प्लूत स्वर से करते है, जिसका नाम उद्गार्थ है। प्लूत के सूचनार्थ ही इसके बीच में 'उ' का अक लिखा जाता है। इसकी गुप्त चौथी मात्रा का उच्चारण या चिन्तन ब्रह्मज्ञानी करते हैं। ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ स्वाभाविक नाम है। प्रकृति ने भी मनुष्य को इस प्रकार बनाया है कि उसके मुख से स्वाभाविक रूप से ॐ का उच्चारण होता है। शिशु के रूदन में ''ओआ'' की ध्वनि निकलती है। अंगड़ाई या डकार लेते हुए भी ऊँ भीतर से प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार प्रकृति परमात्मा के इस स्वाभाविक नाम को जपने की प्रेरणा देती है। बीज में जिस प्रकार एक बृहद वृक्ष समाहित रहता है, उसी प्रकार 'ॐ' में समस्त विश्व निहित है। इसलिए इसे बीजमंत्र कहते है। सिखों के धर्म ग्रथ 'गुरू ग्रथ साहब' में एक ओंकार सतगुरू प्रसाद ''?ও कहकर ॐ की ही महिमा का वर्णन किया गया है।

महर्षि याज्ञवल्क्य का वचन है- वेदों का आदि अक्षर 'ॐ' ब्रह्मरूप है। इसमें ब्रह्मा, बिष्णु, महेश प्रतिष्ठित है। सर्ववेत्ता वही है जो प्रणव को जानता है। यह सब प्रकार के योग साधनों का सार है। समस्त मंत्र 'ओंकार' से ही मिलकर फल प्रदान करते हैं। गीता में भी कृष्ण का आदेश है- ''सब वेदों में प्रणव अर्थात ओंकार मैं हूॅ।''[3]

गीता में ही भगवान कृष्ण ने परमगति का लाभ बताते हुए कहा है- एकाक्षर ब्रह्मरूप 'ॐ' का उच्चारण तथा परमात्मा

---

1 तस्य वाचक प्रणव- योगसूत्र - 1/27

2 गीता- 17-24

3 गीता- 7/8

का चिन्तन करता हुआ जो शरीर त्यागता है वह परमधाम को जाता है।

चित्त को एकाग्र बनाने के लिए महर्षि पतजलि ने योग के अभ्यासियों को 'ॐ' या प्रणव का जाप करने का परामर्श दिया है।[1] पतजलि का आदेश है कि अन्यमनस्क भाव से 'प्रणव' जप की साधना व्यर्थ है। अर्थानुसंधान के साथ 'प्रणव-साधन' अभ्यासकीय है। जिसने अपने चित रूपी मदिरों में ईश्वर की मूर्ति प्रतिष्ठित कर ली है, अर्थात जिसने अपने ध्यान का केन्द्र बिन्दु एकमात्र 'ॐ' को बना लिया है, उसके अविचल ध्यान से द्रवीभूत हुआ 'ॐ' उस पर कृपा की वर्षा करता है। 'ॐ' की इस कृपा से साधक योग की अन्तिम अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है।[2]

पूजा स्थल - मंदिर

सनातन धर्म मे मन्दिर मात्र उपासना स्थल नहीं हैं, वे हिन्दू जीवन एव दर्शन के आधारभूत मूल्यों के प्रतीक भी हैं। यही नहीं उनमें हमारे ब्रह्माण्ड का प्रतीकात्मक स्वरूप समग्रता से निहित है। सनातन धर्म में मन्दिरों की पूजा स्थल के रूप में अवधारणा वैदिक काल में कम किन्तु ब्राह्मण काल में स्पष्ट रूप धारण करती दिखाई देती है।

वैदिक काल में यज्ञ सर्वोपरि थे। डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने 'हिन्दू धर्म - जीवन में सनातन की खोज' शीर्षक नामक अपनी एक कृति मे लिखा है-

''हिन्दू धर्म सृष्टि के साथ तादात्म्य पर बल देने वाला धर्म है और उसके समस्त अनुष्ठान इस तादात्म्य के साधन हैं। यज्ञ और उपासना उसके वाह्य एव आभ्यतर पक्ष हैं। यज्ञ सस्था वैदिक युग मे सामाजिक संस्था थी। यज्ञ में ही समाज की सहत-इकाई के दर्शन होते थे और इसलिए इस यज्ञ का विकास ब्रह्म के साक्षात्कार में हुआ।

इस यज्ञ चिन्तन में आत्मचिन्तन के बीज पडे। अग्निचयन विद्या का जब विकास हुआ तो उसमें प्रतीक रूप में पुष्कर पर्ण पर हिरण्यमय पुरूष के रूप में प्रजापति की स्थापना हुई और ईंटें शक्वाकार स्तूप के रूप में चारो ओर चिनी गयीं।[3]

कालान्तर में यज्ञ के बाहरी वितान ने उत्तरकालीन मन्दिर को आकार दिया। यज्ञ की वेदी एव अग्निचयन की इस स्तूपाकृति ने मन्दिर के आयाम रचे। अग्निचयन के स्तूप उपर की ओर उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं। यह एक क्रमिक आरोह है। यह क्रमिक आरोह हिन्दू उपासना साधनाओं के क्रमिक स्वरूप को भी प्रतिबिम्बित करता है। हिन्दू मन्दिर विभिन्न प्रतीकों का समुच्चय भी है। मदिरों को मानवीय व्यक्तित्व का प्रतीक भी कहा गया है। मन्दिर के स्थापत्य में मानव शरीर के विभिन्न अगो यथा-चरण, पैर, जघा, ग्रीवा, सिर को प्रतीकात्मक रूप से शामिल किया गया है।

मन्दिर रूपी इस शरीर की आत्मा है उसके गर्भ गृह में स्थित उपास्य देवता का विग्रह है। यह विग्रह प्राण प्रतिष्ठा के बाद जीवंत माना जाता है। प्राण प्रतिष्ठा के बिना विग्रह मात्र पाषाण मूर्ति ही होता है। मन्दिर में किसी भी देवी या देवता का विग्रह

---

1 पतजलि, योगसूत्र - 1/28

2 आचार्य व्यास देव - व्यासमाष्य पृष्ठ - 65

3 डा० विद्यानिवास मिश्र - हिन्दू धर्म - 'जीवन में सनातन की खोज'

क्यो न हो उसे सृष्टि कर्मा परब्रह्म का प्रतीक मानकर उसकी वैसी ही प्रार्थना की जाती है, जैसे किसी प्राणवान शरीर की। विग्रह सम्राटों का सम्राट है, सृष्टि का सृजक, पालक और सहारकर्ता है। उसकी पूजा ब्रह्म मुहूर्त से प्रारम्भ होती है। विग्रह को मगल ध्वनि से जगाया जाता है, स्नान कराया जाता है, चंदन पुष्प आदि से अलंकृत कर भोग लगाया जाता है, आरती की जाती है। फिर कुछ समय के लिए पट बन्द कर दिये जाते हैं। यह विग्रह के विश्राम का काल होता है। सध्या को पुन पूजा, उपासना, भक्ति, सगीत, भोग, आरती के बाद विग्रह को शयन कराया जाता है। उपासना की इस पद्धति ने भक्ति, सगीत और नृत्य की कला को भी समृद्ध किया। अधिकांश भारतीय-शास्त्रीय नृत्य शैलियां मन्दिरों के सभामण्डपों एवं प्रागणों में विकसित हुई हैं।

आज भारतीय मन्दिरों का स्थापत्य अपने भव्य शिल्प से आधुनिक वास्तुकारों को भी चमत्कृत कर रहा है। लेकिन एक समय ऐसा था जब बॉस-मिट्टी से निर्मित ये मन्दिर छप्पर वाले हुआ करते थे। चौथी शती ई०पू० पाणिनी ने अपने "अष्टाधयायी" में देवी-देवताओं की मूर्तियों का उल्लेख किया है। "अष्टाध्यायी" के अनुसार ये मूर्तियां तीन प्रकार की होती थी। कुछ मूर्तिया सार्वजनिक रूप से प्रासाद या चबूतरों पर स्थापित होती थी। उन पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वत्व नहीं होता था और न वे किसी की आजीविका की साधन होती थी, न उनका बिक्री के लिए पण्य रूप में प्रयोग हो सकता था। वे केवल पूजा के लिए होती थी।

कुछ मूर्तियां देवतक या पुजारियों के अधिकार में होती थीं। उन्हें स्थान-स्थान पर ले जाया जा सकता था। वे आजीविका की साधन थीं। मूर्तियों पर जो चढावा चढता उससे ही देवतक या पुजारी की आजीविका चलती थी। आज भी ग्रामीण अंचलों में यह परम्परा चली आ रही है। कुछ मूर्तिया विक्रय के लिए होती थीं। जो मूर्तियां विक्रय के लिए होती थीं, उनमें उनके नाम के आगे 'क' प्रत्यय लगता था, जैसे- शिवक, स्कन्दक। जीविका के लिए प्रयुक्त मूर्तियों के आगे 'क' प्रत्यय नहीं लगता था। यह परम्परा आज भी जीवित है।[1]

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ईसा से चौथी शती ई०पू० मन्दिर का अस्तित्व था। पाणिनी की 'अष्टाधयायी' की टीका में पतंजली ने धनपति (कुबेर-वैशरावण्य), राम (बलराम) और केशव (कृष्ण) के मन्दिरों का उल्लेख किया है। वासुदेव कृष्ण की एक देवता और वीर नायक के रूप में पूजा की जाती थी।

प्रारम्भिक काल के मन्दिर जैसा की ऊपर कहा गया है, किसी वृक्ष के नीचे बना एक चबूतरा मात्र था। इस चबूतरे पर प्रतीक रूप में कोई चिन्ह होता था या नहीं भी होता था। कहीं उन पर छाये के लिए छाता का प्रयोग दर्शाया गया है तो कहीं वृक्ष का। इन चबूतरो पर वेदिका भी दर्शायी गयी है। कहीं किसी चबूतरे पर स्तम्भों पर टिकी एक छत है। कुछ मंदिर छतवाले तथा अलंकृत होते थे। इनकी आकृति निवास स्थलों जैसी होती थी। कोणीय आकृति वाले ये मन्दिर बाँसों से बनाए जाते थे। भरहुत,सॉची, बोधगया, मथुरा और अमरावती आदि के प्राचीन स्थापत्य में हमें ऐसे ही मंदिरों के विविध रूप दिखाई पडते है। किसी भी

---

1 डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी- एक ईश्वर, पृष्ठ - 162

मन्दिर की सरचना में इन तत्वों का समावेश होता था- शिखर जो मेरू, मदर या कैलाश का प्रतीक है। बलिगृह, बलिपीठ, मडप, गर्भगृह, प्रतिष्ठा, शक्ति प्रतिष्ठा, भोजन शाला।

शिखर का स्थापत्य एक छन्द अथवा सतुलित मानदण्ड युक्त नाप तौल पर आधारित होता था। मंदिरों को विमान भी कहा जाता था। उसके दो भाग हैं - ताल छन्द (भूमि या धरातल की लय) एव उर्ध्व छन्द अर्थात उपरी भाग की लय।

गर्भगृह में सामान्यत एक द्वार होता था। शेष तीन दीवारों पर छद्म द्वार होते थे। गर्भगृह नाम बेहद अर्थमय है। इसी गर्भ गृह में उपासक अपने उच्चतम स्व से साक्षात्कार करता है। वहीं उसे बोध प्राप्त होता है। गर्भगृह में प्राय अधकार होता है। मात्र दीपको का प्रकाश विग्रह को आलोकित करता है। वह सचमुच मॉ के गर्भ के समान प्रभाव उत्पन्न करता है। जिस तरह मॉ के गर्भ में शिशु शेष वाह्य संसार से पृथक, असंपृक्त, विलग रहता है, उसी तरह गर्भ गृह में पहुँचकर उपासक स्वयं को संसार से पृथक पाता है।

द्वितीय भाग - ईसाई धर्म के संदर्भ में

ईसाई धर्म

ईसा मसीह के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रेरित धर्म ईसाई धर्म है। इस धर्म को ईसा मसीह तथा उनके शिष्योंने फिलिस्तीन (वेलेस्टाइन या इजराइल) में प्रचारित किया था। फिलिस्तीन से पहले यह रोम और फिर रोमन सम्राटों के ईसाई बनने पर सारे यूरोप में प्रचलित हुआ। वैसे तो ईसा धर्मावलबी पूरे विश्व में बसे हुए है, फिर भी यूरोप, कनाडा, उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया में उनकी सख्या अधिक है। ईसाई धर्म के प्रचार और प्रसार को देखकर कुछ विद्वानों ने इसे सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है।

ईसाई धर्म पारसी धर्म तथा इस्लाम धर्म से मेल खाता है, क्योंकि वे क्रमशः जरथुस्त्र तथा मुहम्मद साहब के उपदेशों पर आधारित हैं, परन्तु हिन्दू धर्म से भिन्न हो जाता है, इसका कारण यह है कि हिन्दू धर्म व्यक्ति विशेष की देन न होकर अनेक ऋषियों; महर्षियों एवं साधुओं की देन है। ईसाई धर्म का विकास यहूदी धर्म से हुआ है। इस स्थल पर ईसाई धर्म, जैन धर्म, और बौद्ध धर्म से मिलता जुलता है। इसका कारण यह है कि जैन और बौद्ध धर्मों का विकास भी हिन्दू धर्म से हुआ है। इन धर्मों के विकास क्रम में समानता रहने के बावजूद ईसाई धर्म जैन और बौद्ध धर्म से भिन्न हो जाता है। जैन और बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के प्रस्थान ग्रथ वेद के निषेध पर आधारित हैं, परन्तु ईसाई धर्म यहूदियों के धार्मिक ग्रंथ बाइबिल के संशोधन और परिवर्तन पर आधारित है। ईसाई धर्म के उपदेशों को देखने से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उन्होनें प्राचीन धर्म का अतिक्रमण किया है, परन्तु इसके विषय में उनसे पूछने पर यही उत्तर मिला है- 'मेरा उद्देश्य विनाश करना नहीं पूर्ति करना है।'[1]

1. डा० हृदयनारायण मिश्र - विश्व धर्म- पृष्ठ-139

ईसा शब्द जीसस से निकला है। ईसाई धर्म को ख्रीष्ट्रीय धर्म भी कहा जाता है। 'ख्रीष्ट' शब्द यूनानी है और इब्रानी 'मसीह' शब्द का अनुवाद है। 'मसीह' का अर्थ है वह जो अभिषिक्त (Annoited) है। यहूदी लोगो मे पुजारियो और राजाओ का अभिषेक किया जाता था। इसलिए 'ईसा' को 'मसीह' कहा गया है, क्योंकि ईश्वर ने उसे विशेष रूप से चुनकर और यज्ञबली के रूप मे अभिषिक्त किया था।[1] ईसा मसीह यहूदी थे और उन्होने सर्वप्रथम यहूदियो द्वारा मसीह की कल्पना को अपने जीवन मे साकार करने की चेष्टा की।

इतिहास के अवलोकन से यह विदित है कि विश्व की महान विभूतिया अत्यन्त साधारण परिवार मे हुई है। ईसा मसीह का भी जन्म साधारण परिवार मे ही हुआ था। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व फिलिस्तीन के गलेली प्रात मे नजारेथ नगर से 80 मील दूर बेथलहम ग्राम मे एक बढई परिवार मे जन्म लेकर इन्होंने उसको अलकृत किया था। बडे होने पर इन्होने अपने पैतृक पेशा बढई–गिरी को अपनाया। ईसा का सामाजिक स्तर ऊँचा नही था, फिर भी परमात्मा ने उनके व्यक्तित्व को ऐसे गुणो से विभूषित किया था कि वे सभी के लिए आकर्षण के केन्द्र थे। सत्य का साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति उनमे बचपन से ही थी।

ईसा के माता का नाम मरियम और पिता का नाम जोसेफ था। कहा जाता है कि मरियम को क्वॉरपन मे ही गर्भ रह गया था। इस बात को जानकर जोसेफ के मन मे शका हुई, परन्तु वे अपनी शका का समाधान भी न कर पाय थे कि स्वप्न मे किसी दूत ने कहा कि मरियम के गर्भ मे भगवान का पुत्र है। जोसेफ ने इसे भगवान की आज्ञा समझकर मरियम से विवाह कर लिया। जन्म के आठवे दिन बच्चे का नाम यीसु या ईसा रक्खा गया। उन दिनों ऐसी प्रथा थी कि माता–पिता बडे बेटे को मन्दिर में ले जाकर ईश्वर को समर्पित कर देते थे। ईसा के माता–पिता ने भी ऐसा ही किया। ईसा ने यूहन्ना (जॉन) से शिक्षा ग्रहण की थी।

ईसा मसीह विश्व के श्रद्धास्पद महापुरूषो मे से एक है। ईसाई धर्म उन्हे 'ईश्वर का पुत्र', स्वर्गिक दूत, पाप मोचक, करूणा का अवतार और मुक्ति दाता मानता है। "कुरान मजीद" मे उन्हे 'नबी' कहा गया है। 'नबी' अर्थात ईश्वर का सदेशवाहक।[2] आम हिन्दू भी ईसा मसीह को आदर की दृष्टि से देखता है। ईसा मसीह की जीवन कथा से आज का प्रत्येक प्रबुद्ध भारतीय प्रभावित है। स्वय महात्मा गॉधी ईसा मसीह की करूणा, दया, 'मानवता की सेवा' से प्रभावित थे।

---

1 डा0 याकूमसीह – तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ 163
2 डा0 भूपेन्द्र कुमार मोदी – एक ईश्वर, पृष्ठ–121

धर्म ग्रंथ- बाइबिल

बाइबिल ईसाईयों का पवित्र धर्म ग्रथ है। बाइबिल ईश्वरीय पुस्तक है। बाइबिल शब्द का शाब्दिक अर्थ है- 'पुस्तकों की संहिता'। बाइबिल के दो भाग है- जिन्हें अग्रेजी में 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' और 'न्यू टेस्टामेण्ट' कहा जाता है। ओल्ड टेस्टामेण्ट में 39 ग्रंथ सम्मिलित हैं जबकि नवीन मे मात्र 27 ग्रथ हैं। यहूदी केवल ओल्ड टेस्टामेण्ट को मानते हैं, ईसाई सम्पूर्ण 'बाइबिल' अर्थात ओल्ड टेस्टामेण्ट एव न्यू टेस्टामेण्ट दोनों को मानते हैं।

ओल्ड टेस्टामेण्ट का सबसे प्राचीन ग्रंथ ईशा पूर्व आठवीं शताब्दी (बी०सी० 793-740) का है। इसके रचनाकार नबी अमोस थे।[1] इसी तरह बाइबिल के इस पूर्वार्द्ध का अर्वाचीन ग्रथ प्रज्ञा ग्रथ माना गया है। इसकी रचना 50वीं ईस्वी में हुई थी।[2] अधिकांश ग्रंथो की भाषा 'इब्रानी' अर्थात हिब्रू है, लेकिन दो-तीन ग्रंथों के मूल पाठ यूनानी भाषा में प्राप्त होते है।

पूर्वार्द्ध अर्थात ओल्ड टेस्टामेण्ट में मूल तत्व अर्थात परमेश्वर, मनुष्य एव जगत के सम्बन्ध में विचार हैं। इन्हें दो वर्गो में विभाजित किया गया है- सृष्ट एव असृष्ट। परमेश्वर एवं मनुष्य जाति का जुड़ाव एक अनुबन्ध के माध्यम से हुआ है।[3] अनुबन्ध के लिए ओल्ड टेस्टामेण्ट में उत्पत्ति, निर्गमन, लैव्य-वयवस्था, गिनती, व्यवस्था-विवरण, यहोशू, रूत, शमुएल, एज्रा, न्हेम्याह, एस्तेर, अय्यूब, यशायाहं, यिर्मयाह, पहेजकेल, दानिय्येल, शीर्षक एव अन्य पुस्तकों के अतिरिक्त राजाओं के वृतान्त, इतिहास, नीतिवचन, भजन-संहिता, बिलाप गीत तथा अन्य लोगों के विवरणों का समावेश है।

उत्पत्ति शीर्षक अध्याय में सृष्टि रचना आदम एवं हव्वा के सृजन, जलप्रलय, नूह ओर मिस्र में यूसुफ आदि का वर्णन है। परमेश्वर ने इब्रानी अर्थात यहूदी जाति को चुना।[4] ओल्ड टेस्टामेण्ट में एकेश्वर वाद का प्रतिपादन है।[5] ओल्ड टेस्टामेण्ट के अतिरिक्त यहूदियों की एक और पुस्तक है, ''अपोक्रिफा'' । इसी पुस्तक में मसीह के आगमन और उनके स्वरूप का वर्णन है।

बाइबिल के न्यू टेस्टामेण्ट में ईसामसीह के जीवन चरित्र एव कार्यों तथा अनुयायियों के विचार एव अनुभव सकलित है। बाइबिल में ईसामसीह के चार जीवन चरित्र हैं। इनके लेखक हैं- सेण्ट मैथ्यू या संतमत्ती, सेण्ट मारक्यूज या सत मरकुस, सेण्ट ल्यूक या संत लूका एवं सेण्ट योहन या सत यूहन्ना। हिन्दी में ईसाई इन्हें 'शुभ संदेश', सुसमाचार या शुभ समाचार के नाम से पुकारते हैं। यह गॉस्पेल शब्द का अनुवाद है। न्यू टेस्टामेण्ट की भाषा यूनानी है। इन सुसमाचारों में लूका रचित सुसमाचार व्यवस्थित एव श्रृखलाबद्ध है। योहन रचित सुसमाचार सबसे अंत में लिखा गया है। इसमें ईसामसीह को ईश्वर का पुत्र माना गया है।[6] न्यू टेस्टामेण्ट में ल्यूक रचित 'प्रेरितों के काम' नामक एक अन्य रचना भी है।[7] ओल्ड टेस्टामेण्ट एवं न्यू

---

1 डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी - एक ईश्वर, पृष्ठ - 139
2 वही, पृष्ठ - 139
3 वही, पृष्ठ - 139
4 वही, पृष्ठ - 139
5. वही, पृष्ठ - 139
6. डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी - एक ईश्वर, पृष्ठ - 140
7. डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी - एक ईश्वर, पृष्ठ - 139

टेस्टामेण्ट का सकलन 325 ई० में रोमन सम्राट कान्स्टेन्टाइन द्वारा कराया गया है।[1]

धर्म प्रतीक - पवित्र क्रूस या सलीब

क्रूस श्रृखला या सलीब वह प्रतीक है, जिसके साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक अर्थ ईसा युग के बहुत पहले से ही जुडा रहा है। रोमन युग में सलीब का प्रयोग गुलामो और निम्न वर्ग के लोगों को उनके कुकर्मो की सजा देने के लिए किया जाता था। इसके लिए प्राण दण्ड निर्धारित था। सलीब के साथ अपराधी को बाधकर उसके हाथों पैरों में कीलें गाड दी जाती थीं और उसे मरने के लिए वही छोड दिया जाता था। इस प्रकार सूली पर चढाया गया व्यक्ति बहुधा कई दिनों तक जीवित रहता है। इस तरह के सलीब नगर के बाहर द्वारों के निकट लगाये जाते थे और अपराधियों को एकत्रित जन समूह के समक्ष सलीब पर चढ़ाया जाता था। इस प्रकार से मृत्युदण्ड देने के तरीके को आगे चलकर सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन ने चौथी शताब्दी ई० के प्रारम्भ में समाप्त कर दिया था।

यीशु को सूली पर चढाये जाने के कारण ईसाईयों में क्रूस या सलीब का चिन्ह श्रद्धास्पद बन गया।[2] न्यू टेस्टामेण्ट के चार सुसमाचारो में सलीब की चर्चा की गयी है। ईसाई किंवदंतियों में जिस सलीब पर यीशु को चढाया गया था उसकी खोज संत हेलेना (ई० सन 248-328) रोम की सम्राज्ञी और कॉन्स्टेन्टाइन महान की मॉ ने पवित्र भूमि की अपनी यात्रा के दौरान सन् 326 में की थी। यीशु के प्रति नतमस्तक होने तथा उनके प्रति आदर व्यक्त करने के लिए हाथों से क्रास या सलीब का चिन्ह बनाने की प्रथा तीसरी शताब्दी से चली आ रही है।[3] मैरिजटियस पर अपनी विजय के पश्चात सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन ने सलीब को सार्वजनिक स्थानों और इमारतों पर प्रतिष्ठित कराकर इस चिन्ह को अधिक प्रचारित किया। सम्राट की मॉ संत हेलेना सन् 313 ई० से ही ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुकीं थीं, जिसका प्रभाव सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन पर भी पड़ा था। वह अपनी विजयों का श्रेय सलीब को ही देता था।

सत हेलेना द्वारा कथित वास्तविक सलीब की खोज के बाद क्रास एक श्रद्धा का पात्र बन गया। इसके अवशेष समस्त ईसाई जगत में बाँटे गये। सम्राट जस्टिन द्वितीय से वास्तविक क्रास का हिस्सा प्राप्त होने पर फ्रैंकिश की रानी सेंट रोडगुण्डा ने इसे सम्मान के साथ पोयटियर्स मे लाये जाने के लिए जब बिशप मारोवियस से अनुमति मागी तो उसने इसे एक अधविश्वास पूर्ण रस्म बताते हुए इसकी अनुमति नहीं दी। रानी ने नरेश सिगवर्ट से अपील की तो उसने इसके अवशेष को परिचित कराने के लिए टूर्स के बिशप को आज्ञा दी। पोयटियर्स में इसे ससमारोह लाया गया, जिसमें बिशप मारोवियस शामिल नहीं हुए। अन्य अवसरों पर भी मारोवियस का विरोध जारी रहा, किन्तु इसके प्रति लोगों के उत्साह में कोई कमी नहीं आयी।[4]

---

1. डा० एच०पी० सिन्हा - धर्म दर्शन की रूप रेखा, पृष्ठ - 74
2 डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी - एक ईश्वर, पृष्ठ - 156
3 डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी - एक ईश्वर - पृष्ठ - 156
4. डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी - एक ईश्वर - पृष्ठ - 156

यद्यपि अनेक प्रोटेस्टेण्ट इसे अन्धविश्वास मानते हैं, किन्तु क्रास का उपयोग बढता गया और इसके प्रति ईसाई श्रद्धावनत् होते रहे। क्रास के उत्थान, जिसे "होली क्रास डे" कहते हैं, 14 सितम्बर को होता है। इस दिन सम्राट हेराक्रियस ने सन् 628 में जेरूसलम में क्रास को पुन: स्थापित कराया था।

पूजा स्थल - चर्च

अन्य उपासना स्थलों की भॉति चर्च भी समाज में विविध भूमिकायें निभाते आयें हैं। ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल में चर्च का आज जैसा कोई रूप नहीं था। रोमन सत्ता के भय और आतंक के फलस्वरूप ईसा मसीह के अनुयायी घरों या भूमिगत मार्गो में, तहखानों में सामूहिक प्रार्थनायें किया करते थे। रोमन सम्राट कान्स्टेन्टाइन द्वारा ईसाई धर्म में दीक्षित होने के बाद चर्चों के भवनों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। उनकी मूल प्रेरणा थी बैसिलिका की स्थापत्य कला। उसी की भाति चर्च की इमारतें भव्य से भव्यतर बनायी जाने लगीं। अपने समय के श्रेष्ठ वास्तुशिल्पियों ने उन्हें बनाने में, चित्रकारों ने उन्हें सजाने में अपनी समस्त प्रतिभा का मुक्त भाव से उपयोग किया। फलत कुछ चर्च समूचे विश्व की सांस्कृतिक धरोहर बन गये हैं। ईसाई धर्म में कालान्तर में अनेक सम्प्रदाय अर्थात् चर्च बन गये और इनमें से प्रत्येक के चर्च में एक विशिष्ट प्रकार का स्थापत्य होता था। केवल क्रॉस की उपस्थिति ही सबमें समान भूमिका निभाती रही। चर्च नियमित सामूहिक प्रार्थना स्थलों के अतिरिक्त विवाह आदि सम्पन्न कराने में भी अहम भूमिका निभाते हैं। वे उपासकों के अपने पापों या अपराधों की गोपनीय स्वीकृति के भी स्थल हैं।

चर्च के भीतरी भाग में दो हिस्से स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। एक तो आल्टर और मंच, जहाँ पादरी धर्मोपदेश और बाइबिल पारायण करते हैं और दूसरा हिस्सा वह, जहॉ उपासकों के लिए बेंच या कुर्सियां रखी होती हैं।

एक समय चर्च न्यायिक और प्रशासनिक कार्यों के स्थल के रूप में भी उपयोग किये जाते थे। आज भी वे ईसाई समाज के सामुदायिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

तृतीय भाग - इस्लाम धर्म के संदर्भ में

इस्लाम धर्म

ऐतिहासिक दृष्टि से इस्लाम धर्म को विश्व के समस्त जीवित और जाग्रत महान धर्मों में, सिक्ख धर्म को छोडकर, सबसे नूतन और लोकप्रिय धर्म कहा जा सकता है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से विचार किया जाय तो विश्व के धर्मों को दो भागों में बॉटा जा सकता है- एक सनातनी धर्म और दूसरा ऐतिहासिक धर्म । सनातनी धर्म के निश्चितकाल का पता नहीं है कि उसकी उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई, जैसे हिन्दू धर्म सनातनी धर्म माना जाता है। ऐतिहासिक धर्मों की उत्पत्ति का निश्चित काल ज्ञात है और उसके संस्थापक ऐतिहासिक महान पुरूष भी ज्ञात हैं। ऐतिहासिक धर्म की एक विशेषता यह भी है कि उनकी

उत्पत्ति किसी पैगम्बर द्वारा की गयी है। पैगम्बर का अर्थ है- पैगाम (सन्देश) ले जाने वाला।

हजरत मुहम्मद साहब ने ईश्वर का सदेश मानव जाति को दिया, अत· उन्हें पैगम्बर भी कहा जाता है। जिस प्रकार यहूदी तथा ईसाई धर्म पैगम्बरवादी धर्म है, उसी प्रकार इस्लाम धर्म भी पैगम्बर-वादी धर्म कहा जता है। जिस प्रकार बौद्ध धर्म तथा जैन धर्मों की उत्पत्ति हिन्दू धर्म से मानी जाती है, उसी प्रकार इस्लाम भी यहूदी तथा ईसाई धर्मों से निकला हुआ माना जाता है।

'इस्लाम' शब्द की उत्पत्ति अरबी भाषा के 'सिल्म' शब्द से हुई है, जिसके दो अर्थ हैं - पहला, वह धर्म जो सबकी सलामती और शांति चाहता है, दूसरा, आज्ञाकारी अर्थात् खुदा (ईश्वर) की आज्ञाओं के समक्ष सम्पूर्ण आत्म समर्पण।[1] अत इस्लाम से उस धर्म का अभिप्राय है, जिसमें व्यक्ति अपने को ईश्वर की इच्छा पर अर्पित कर दे।

मुहम्मद जमाली ने 'इस्लाम' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है "इस्लाम स्पष्ट और सरल है तथा समझने में आसान है। इसके मानने वाले ईश्वर से निर्देशित होते हैं, उनके हृदय विश्वास की ज्योति से प्रकाशित होते हैं, उनमें मतभेद नहीं होता। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ होता है, मानव का ईश्वर के प्रति समर्पण।"[2] इस्लाम में मनुष्य अपने को ईश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित कर देता है। ईश्वर की इच्छा पर व्यक्ति निर्भर रहता है। ईश्वर को समर्पित करने वाले को ही पूर्ण शांति मिलती है। अतः इस्लाम शांति में प्रवेश करने वाला धर्म है। इस्लाम धर्म को स्वीकार करने वाला 'मुसलमान' कहा जाता है। इस प्रकार मुसलमान उस व्यक्ति को कहते हैं, जो ईश्वर और मनुष्य के साथ पूर्ण शांति का सम्बन्ध रखता है। मुसलमान जब एक दूसरे से मिलते हैं तो कहते हैं - "अस्सलामोअलेकुम', जिसका अर्थ होता है- आपको शांति मिले। धर्मानुसार मुसलमान वह है, जो यह कहता है कि अल्लाह को छोडकर कोई दूसरा ईश्वर नहीं है, और मुहम्मद उसके पैगम्बर (रसूल) हैं-

"लॉ इला-ह इल लल्ला, मुहम्मदन् अबदुहु व रसुलुह।"

मुहम्मद साहब अल्लाह के रसूल थे। अरब के प्रधान नगर मक्का(बक्का) में अब्दुल्मतल्लब के पुत्र की भार्या 'आमना' के गर्भ से स्वनामधन्य महात्मा मुहम्मद 617 बिक्रमी सम्बत् (571 ई०) में उत्पन्न हुए। इनका वंश 'हासिन' वश के नाम से प्रसिद्ध था। जब अभी यह गर्भ में ही थे कि इनके पिता अब्दुल्लाह स्वर्गवासी हुए। छः वर्ष की अवस्था में माता और आठ वर्ष की अवस्था में दादा अब्दुल्मतल्लब संसार छोड़ दिये। इनका पालन पोषण चाचा हजरत अबू तालिब ने किया।

जन प्रवाद है कि असाधारण प्रतिभाशाली महात्मा मुहम्मद आजीवन अक्षर-ज्ञान से रहित रहे। व्यवहार चतुरता, इमानदारी आदि अनेक सद्गुणों के कारण कुरैश वंश की एक समृद्धशालिनी स्त्री 'खदीजा' ने अपना गुमाश्ता बनाकर 25 वर्ष की अवस्था में नवयुवक मुहम्मद से 'शाम' जाने के लिए कहा। उन्होंने इसे स्वीकार कर बडी योग्यता पूर्वक अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। इसके कुछ दिनों बाद 'खदीजा' ने उनके साथ व्याह करने की इच्छा प्रकट की। यद्यपि खदीजा की अवस्था 40 वर्ष की थी, उसके दो पति पहले भी मर चूके थे, किन्तु उसके अनेक सद्गुणों के कारण मुहम्मद ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर

---

1 डा० भूपेन्द्र कुमार मोदी - एक ईश्वर , पृष्ठ - 103

2. मुहम्मद जमाली - लैटर्स आनॅ इस्लाम, पृष्ट - 20-21

लिया।

एक बार रमजान का महीना था और हजरत मुहम्मद अल्लाह की इबादत में डूबे थे कि एक शक्ल दिखाई दी, जिसने कहा मैं अल्लाह से भेजा हुआ फरिश्ता हूँ। इक्रा बि-इस्मि रब्बिक (पढ़ अपने प्रभु के नाम के साथ) यह प्रथम कुरान वाक्य पहले वहीं (हीरा की गुफा) पर देवदूत जिब्राइल द्वारा मुहम्मद के हृदय में उतारा गया। उस समय मुहम्मद साहब की आयु 40 वर्ष थी, और यहीं से उनकी पैगम्बरी का समय आरम्भ होता है।

पवित्र ग्रंथ - कुरान

कुरान इस्लाम मानने वाले लोगों की एक ऐसी पुनीत निधि है, जिसका लाभ अन्य धर्मावलम्बी भी उठा सकते हैं। यह एक मार्गदर्शक ग्रथ है, जो ईश्वर के प्रति मनुष्य की आस्था को दृढ़ ही नहीं करता, उसे शुद्ध, सात्विक, दया और करूणा से भरपूर , परोपकारपूर्ण जीवन बिताने का भी निर्देश देता है। कुरान वेदों की तरह ही ईश्वर प्रदत्त माना जाता है।[1]

कुरान शब्द की उत्पत्ति अरबी की धातु 'कुरा' से हुई है, जिसका अर्थ है- सार्वजनिक रूप से घोषणा या वाचन करना। प्राचीन काल में यहूदी भी अपने धर्म ग्रंथों को कुरा कहते थे। कुरान फरिश्ते जिब्राइल द्वारा मुहम्मद के हृदय में प्रकाशित किया गया है। कुरान में शुद्ध एकेश्वरवाद की शिक्षा है। कुरान मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्धों की विवेचना करता है। वह मनुष्य को बतलाता है कि उसकी जरूरतें क्या है? और उसका शुभत्व एवं कल्याण किन बातों में निहित है। कुरान में ईश्वर को विधाता, सृष्टिकर्ता आश्रय देने वाला शासक और आकाश तथा धरती का प्रकाश कहा गया है। जगत में जो कुछ भी विद्यमान है, वही उसका स्वामी है।

पवित्र कुरान में 114 सूरा या अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में छोटी-छोटी इकाईयाँ हैं, जिन्हें आयत कहते हैं। सूरा का अर्थ एक डिग्री अथवा सीढ़ी है, जिसके सहारे हम ऊपर चढ़ते हैं। नवम् सूरा को छोड़कर शेष सभी सूरा 'बिस्मिल्ला हिर्ररहमा निर्रहीम'' (करूणामय दयालु परमेश्वर के नाम) के उद्गार से प्रारम्भ होता है। नवम् सूरा को 'अत तौबा' या 'बारात' कहा जाता है। कुरान का प्रथम सूरा ''अलफातिहा' कहा जाता है। प्रत्येक प्रार्थना में इस सूरा का पढ़ा जाना अनिवार्य है। कुरान के सूरा को दो भॉगों में बॉटा जा सकता है। प्रथम मक्की सूरा, ये वे सूरा हैं जो पैगम्बर साहब पर मक्का में प्रकाशित हुए। द्वितीय मदनी सूरा, जो पैगम्बर साहब पर मदीना में प्रकाशित हुए।[2]

कुरान की शिक्षाओं में हमें उत्कृष्ट कोटि की नैतिकता और समाज के लिए उपयोगी निर्देश मिलते हैं। कुरान घर, परिवार, समाज, मत-मतान्तर रखने वाले लोगों शत्रुओं, वाणिज्य व्यापार आदि में सदाचरण आदि के बारे में अनेक ऐसे उपयोगी निर्देश देता है, जो सभी के लिए उपयोगी है।

---

1 डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्मदर्शन, पृष्ठ - 191

2 डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्मदर्शन, पृष्ठ - 191

हदीस

पैगम्बर के जीवन के विषय में जानने का दूसरा साधन हदीस है।[1] हदीस में पैगम्बर की क्रियाओ और कथनों का चित्रण मिलता है। हदीस स्मृति पर आधारित है, अतः यह उतना प्रामाणिक नहीं है, जितना कि कुरान। अब्बासिया काल में हदीस का संग्रह किया गया है।

पवित्र कुरान एकमात्र ईश्वर-प्रेरित समझा जाता है, पर इससे सभी स्थलों पर मुसलमानो के लिए आदेश नही मिलता है। इसलिए इस कमी को पूरा करने के लिए हदीस की मदद ली गयी। हदीस को सुन्नाह भी कहते हैं।

धर्म प्रतीक : चाँद - तारा

इस्लाम में मूर्ति, चित्र या प्रतीक का पूर्णत निषेध है तथापि आज संसार में 'चॉद - तारा' को इस्लाम के प्रतीक के रूप में माना जाता है। प्रारम्भ में अर्द्धचन्द्र एवं उसके साथ तारा चन्द्रमा के पूजन से सम्बन्धित था। 395 ई० से 1453 ई० तक बैजंटाइन अर्द्ध चन्द्र और तारे को पूजते थे। बाद में ओटोमन तुर्कों ने बैंजटाइन साम्राज्य को परास्त किया और अर्द्धचन्द्र और तारे को सैन्य प्रतीक के रूप में अपना लिया। कालांतर में अर्द्धचन्द्र - तारे को इस्लामी संस्कृति के रूप में अपना लिया गया। मुस्लिम राष्ट्रों ने उसे अपने ध्वजों पर, टिकटों पर अंकित करना शुरू कर दिया।

अर्द्ध चन्द्र एवं तारे की एक और तरह से व्याख्या की गयी है। अर्द्धचन्द्र की बढती कलायें अरब की मरूभूमि पर रात्रि को थके-हारे पथिकों को शांति प्रदान करती थीं एवं तारा उनके मार्ग की दिशा का सूचक था। इसी तरह इस्लाम धर्म भी सांसारिक जीवन-पथ पर मनुष्य को शान्ति पहुॅचाता है और उसका मार्ग दर्शन करता है।

पूजा स्थल - मसजिद

इस्लाम के प्रारम्भिक काल में मसजिद का वह महत्व नहीं था, जो आज है। मसजिद का मुख्य उद्देश्य सामूहिक नमाज के लिए स्थल उपलब्ध कराना है। ऐसी सामूहिक नमाजें प्रत्येक शुक्रवार और विशेष पवित्र दिवसों, जैसे ईद आदि पर होती हैं। पहली मसजिद मदीना में मुहम्मद के हाथों निर्मित हुई थी।

सांतवी - आठवीं शती में मसजिद का वास्तु शिल्प पैगम्बर साहब के मदीना स्थित निवास स्थल जैसा था। मेहराब मसजिद का एक अनिवार्य अग था। अलबसरा की मसजिद (637-638 ई०) पर गिरजाघरों का प्रभाव है। बाद में गिरजाघरों के प्रभाव में आकर मसजिदों में चौकोर बुर्ज बनाये जाने लगे। सीरिया की दमिश्क मसजिद को चौथा पुण्यस्थल माना जाता है। इस मसजिद को फारसी-यूनानी और भारतीय कारीगरों ने बनायी है।

---

1. श्री कृष्ण दत्त भट्ट- धर्मों की फुलवारी, भाग- 10, पृष्ठ-2

तृतीय अध्याय

ईश्वर का स्वरूप

प्रथम भाग - हिन्दू धर्म के संदर्भ में

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर विचार हिन्दू धर्म में सबसे महत्वपूर्ण विचार है। आस्तिक दर्शनों में प्राय· ईश्वर की चर्चा है। ईश्वर को सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म भी कहा गया है। ईश्वर निर्विशेष और निर्गुण ब्रह्म नहीं वरन् सगुण और सविशेष ब्रह्म है। ईश्वर विचार हिन्दू धर्म का केन्द्र विन्दु है। ईश्वर को छोड़कर हिन्दू धर्म में अन्य किसी सत्ता को स्वतन्त्र नहीं माना गया है।[1] हिन्दू धर्म में ईश्वर का विचार एकवादी है। यह एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। ईश्वर को विशिष्ट प्राणी माना जाता है। यह अप्रमेय और अगोचर नहीं बल्कि प्रमेय और गोचर है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में हम क्रमबद्ध ढग से निम्न प्रकार विचार कर सकते हैं-

वेदों में बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, और एक-तत्ववाद के बीज मिलते हैं।[2] वैदिक युग के कवि प्रकृति में रमे रहने वाले सरल हृदय के मनुष्य थे। वे प्रकृति के उदात्त, सुन्दर और उपयोगी पक्षों से अत्यन्त प्रभावित थे, और प्रकृति के आश्चर्यों को देखकर आनन्द विभोर हो जाते थे। उन्होंने प्राकृतिक सत्यों को अलौकिक माना और उनमें अतिमानवीय आत्माओं की कल्पना की। उन्होंने अग्नि, सूर्य, उषा, पृथ्वी, परजन्य, मरूत, वायु, द्यौ, मित्र, वरूण, सविता, इत्यादि देवताओं की उपासना की। वैदिक देवता विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के अधिष्ठाता हैं। वे पुरूष रूप में कल्पित प्राकृतिक शक्तियॉ हैं। वे किसी एक देश में नहीं निवास करते, बल्कि सर्वव्यापक हैं।[3] वे शक्ति, सौन्दर्य, विक्रम, बुद्धि, विवेक, सर्वज्ञता, दयालुता, परोपकार, न्याय और धर्म आदि गुणों से युक्त हैं।[4] वे अपने उपासकों से प्रसन्न होकर उनपर कृपा करते हैं, तथा अपने विरोधियों के लिए भयानक और घातक हैं। ये देवता उपासना, प्रार्थना, होम, हवि और यज्ञ आदि से शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं।[5] वे समृद्धि बल सुख पुत्र-पौत्र, शत्रु विजय और शतायु प्रदान करने वाले हैं। वे माता-पिता से जन्म लेकर भी अमर हैं।[6] यह समष्टि बद्ध बहुदेववाद है। सभी देव अन्योन्याश्रित हैं।[7]

उपासना के समय अनेक प्राकृतिक देवताओं में से कोई भी एक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। मैक्समूलर ने इसे हीनोथिज्म कहा है। हीनोथिज्म बहुदेववाद और एकेश्वरवाद के मध्य की अवस्था है और प्रकृति में जो व्यवस्था दिखाई देती है उसी से

---

1 डॉ० एच० पी० सिन्हा - धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 95
2 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 231
3 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 232
4 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 232
5 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 232
6 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 232
7 ऋगवेद 1/141/4/9, 1/143/1, 2/33/1

एकेश्वरवाद का विकास हुआ।[1] ऋत की वैदिक धारणा ने देवताओं में और भी समन्वय स्थापित किया और इस प्रकार वह एकेश्वरवाद के विकास मे सहायक हुई। ऋत का अर्थ है- विश्व की व्यवस्था । आकाश, सूर्य, यज्ञ, पर्वत और सत्य सब ऋत के अधीन हैं।[2] ऋत के कारण जगत् की सुव्यवस्था है, देवगण ऋत के ही स्वरूप हैं।[3] सूर्य ऋत का विस्तार करते हैं। नदियॉ ऋत को प्रवाह्ति करती हैं।[4] ऋत को सामाजिक नियम, अनुष्ठान का नियम, न्याय का नियम, धर्म का नियम, नैतिक नियम आदि भी कहते है।[5] वरूण ऋत का अध्यक्ष है। वह सत्य का पालन करता है और पापों का दण्ड देता है।[6] भौतिक और नैतिक व्यवस्थाये एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की ओर संकेत करती हैं, जिसके नियम अटल और अनतिक्रम्य हैं। लेकिन ऋत एक अपौरूषेय व्यवस्था है जो देवताओं और विश्व को धारण किये है। ऋत की यह धारणा एकेश्वरवाद को जन्म देती हैं।

एकेश्वरवाद की निष्पत्ति एक-तत्व वाद में होती है। वैदिक कवियों ने एक-तत्व की कल्पना की, जो कि नाना रूपों मे व्यक्त होता है।[7] ऋग्वेद की नासदीय सूत्र में विशुद्ध अद्वैतवाद प्राप्त होता है।[8]

उपनिषदों में ईश्वर के लिए परमतत्व शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में 'एकं सत' का उल्लेख है जिसे विप्र अनेकधा कहते हैं। यही 'एक' विश्व का स्रष्टा है।[9] उपनिषदों में इसे ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म आत्मा है। वही एक मात्र तत्व है। ब्रह्म दृश्य जगत से अतीत है। ब्रह्म के अलावा कुछ नहीं है। ब्रह्म से ही सभी वस्तुओं का विकास हुआ है।[10]

वेदों में जितने भी देवता बतलाये गये हैं, वे सब ब्रह्म में समाविष्ट हैं। ऋत ब्रह्म में प्रतिष्ठित है।[11] प्रकृति को नियमों के अनुसार चलाने वाला ब्रह्म ही है।[12] उपनिषदों में परमब्रह्म और अपरब्रह्म की बात कही गयी है। परब्रह्म अमूर्त, अशब्द (अव्यक्त) अ-मृत, स्थित और त्यत् है। अपर ब्रह्म मूर्त, शब्द (व्यक्त), मृत, यत (अस्थिर) और सत् है। परब्रह्म अक्षर और कूटस्थ हैं, जबकि अपरब्रह्म विनाशी और परिणामी है। परब्रह्म शान्त निष्प्रपंच, अजर, अभय और पर हैं। वह निर्गुण, निर्विशेष और निरूपाधिक हैं।[13] अपर ब्रह्म सगुण, सविशेष, सोपाधिक मूर्त और व्यक्त है। अपरब्रह्म उपासना और प्रार्थना का विषय है। पर और अपरब्रह्म दो नहीं है। एक ही ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से पर है और व्यवहारिक दृष्टि से अपर है। कहीं-कहीं पर ब्रह्म को सत्य और अपर ब्रह्म को मिथ्या माना गया है।[14]

---

1 ऋग्वेद 3/55/1–22
2 ऋगवेद - 4/40/5
3 ऋगवेद - 9/108/8
4 ऋगवेद - 1/105/15
5 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 235
6 ऋगवेद - 1/65/3, 1/68/4, 1/79/3, 3/1/11
7 एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति- ऋग्वेद - 1/164/46
8 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 235
9 ऋग्वेद - 1/164/46, 10/129/1–2
10 वृहदारण्यक उपनिषद- 2/1/20, छादोग्य उपनिषद - 3/4/1, ऐतरेय उपनिषद- 1/1
11 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 238
12 कठोपनिषद- 2/1/3, 2/33
13. वृहदारण्यक उपनिषद- 2/3/1, प्रश्न उपनिषद- 5/2, कठ- 1/2/16, मैत्रेयी - 6/3
14 मैत्रेयी- 6/3

निर्गुण ब्रह्म देशातीत होते हुए भी देश का आधार है।[1] ब्रह्म कालातीत है। वह नित्य शाश्वत और पुराण है। वह अतीत और भविष्य का स्वामी है तथा त्रिकाल से परे है। ब्रह्म कालातीत होकर भी काल का आधार है।[2] ब्रह्म कारणातीत होते हुए भी कारणाधीन व्यवहारिक जगत का आधार है।[3] ब्रह्म अचल होकर भी चलता है। वह परमार्थत· गतिहीन है, और व्यावहारत· गतिमान है। वह पाप पुण्य से परे है।[4] निर्गुण ब्रह्म अनिवर्चनीय है।[5] यद्यपि कि परब्रह्म निर्गुण है, तथापि इसके तीन स्वरूप लक्षण हैं। वह विशुद्ध सत्, विशुद्ध चित्, और विशुद्ध आनन्द है। उसे सच्चिदानन्द कहा गया है।[6]

सगुण ब्रह्म ईश्वर ही है। वही जगत का स्रष्टा, धर्ता और संहारक है। छांदोग्य उपनिषद में इस तज्जलान कहा गया है।[7] यह भक्तों पर कृपा करता है। यह सबका आश्रय और शरण है। वह सम्पत्ति और महत्व का स्वामी है। यह उपासना का विषय है। उसके प्रसाद से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। ज्ञान या तप से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।[8] यह उपनिषदों का ईश्वरवाद है। ईश्वर जगत में व्याप्त है और उससे अतीत भी है। जगत ईश्वर में अवस्थित है। जगत ईश्वर नहीं है और न ईश्वर जगत है।[9] यही उपनिषदों का ईश्वर मध्य विश्ववाद है। ईश्वर सर्वकर्मा और सर्वकाम है।[10]

भगवद्गीता ईश्वरीय गीत है। गीता ईश्वर का उपदेश करती है और ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानती है। ईश्वर ब्रह्म से भी ऊचाँ है।[11] ईश्वर अनन्त ब्रह्म का आधार है। वह शाश्वत आनन्द का स्रोत है। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वह आदि, मध्य और अन्त से हीन है। वह आदि कारण है। वह विश्व का स्रष्टा, धारण करने वाला और संहर्ता है। वह सबका पिता, माता, मित्र, साक्षी, गुरू और स्वामी है। गीता में ईश्वर को पुरूषोत्तम कहा गया है।[12] यह विश्व में व्याप्त है फिर भी शेष रहता है।[13] कुछ श्लोकों में गीता में ईश्वर को जगत में व्याप्त कहा गया है। वह ज्ञाता और ज्ञेय है।[14] गीता विश्वेश्वरवाद का उपदेश नहीं देती है। गीता ईश्वर मध्य-विश्ववाद की समर्थक है। ईश्वर अपने एक अल्प अंश-मात्र से सारे विश्व को व्याप्त करके उसे धारण किये है।[15]

---

1 श्वेताश्वेत्तर- 3 / 20, 5 / 8,6 / 5 / 17 / 9, वृहदारण्यक उपनिषद- 3 / 8 / 7 / 8, ईश 4 / 5, छादोग्य- 7 / 25, मुण्डक उपनिषद- 2 / 2 / 9
2 कठ-1 / 2 / 14 / 18, 1 / 3 / 15, 2 / 1 / 5 / 12 / 13, वृ० 4 / 4 / 15 / 16, 3 / 8 / 7, श्वेताश्वर- 5 / 13, 6 / 5, मै०-6 / 14 / 15
3 कठ-1 / 2 / 14 / 16 / 18, 2 / 2 / 1, वृ० 4 / 4 / 20, मु० 1 / 2 / 13, ईश- 12 / 14, प्रश्न- 5 / 7
4 कठ-1 / 2 / 14 / 21, ईश- 4 / 51
5 कठ-1 / 2 / 24, 1 / 3 / 12,2 / 1 / 2, वृ०- 2 / 4 / 14,2 / 1 / 19, छा०6 / 2 / 1, मु०- 3 / 1 / 18,केन०- 1 / 3 / 5, तैतरीय- 2 / 4 / 1
6 तैतरीय - 2 / 1, 3 / 5 / 1,3 / 6 / 1, वृ०- 3 / 9 / 28, सर्वोपनिषदसार- 21
7 छादोग्य उपनिषद- 3 / 14
8 ईश- 1, वृ०- 4 / 4 / 22 / 24, श्वे०- 3 / 19, 3 / 12, मा०-6, छा०4 / 14 / 2
9 ईश- 1, तैतरीय-2 / 6, छा०-3 / 12 / 61
10 छा०- 3 / 14 / 4
11 यदुनाथ सिन्हा, भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 251
12 भगवद्गीता- 14 / 27, 11 / 33, 4 / 6, 10 / 12, 7 / 29
13 गीता- 13 / 12 / 13
14 गीता- 10 / 20—40, 15 / 13—15, 9 / 6, 8 / 22
15 गीता- 8 / 20,7 / 7,7 / 9—10, 9 / 4,10 / 42

गीता विश्व मे दो पुरूष मानती है- एक क्षर और दूसरा अक्षर। सारी कृतक वस्तुये और जीव क्षर पुरूष है। उनके अन्दर रहने वाला कूटस्थ पुरूष अक्षर पुरूष है। श्रीधर के अनुसार क्षर पुरूष जड वर्ग के हैं और अक्षर पुरूष चेतन वर्ग का समूह है।[1] श्री अरविन्द के अनुसार क्षर पुरूष परिवर्तनशील जगत में व्याप्त विश्वात्मा है और अक्षर पुरूष कूटस्थ और विश्वातीत आत्मा है।[2] पुरूषोत्तम सारे परिणामी जीवात्माओं और नाशवान जड़ वस्तुओं से परे है। ईश्वर प्रकृति के सारे जीवों को उत्पन्न करता है।[3] गीता का ईश्वरपरक आध्यात्मवाद विश्व को सत्य और परमात्मा से व्याप्त मानता है।[4] गीता में ईश्वर का अवतार होना माना गया है। ईश्वर अज, अनन्त और नित्य होते हुए भी अपनी माया के द्वारा अपने को परिछिन्न करके मनुष्य रूप मे जन्म लेता है।[5] ईश्वर के प्रसाद से ही उसके दिव्य स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं।[6] अवतार ईश्वर का मनुष्यों के बीच जन्म लेना है। मनुष्य का ईश्वर के समीप पहॅुचना अवतार नहीं है।

षड्दर्शन समुच्चय के साख्य दर्शन मे ईश्वर का विचार विवादास्पद है। विज्ञानभिक्षु आदि कुछ भाष्यकारों को छोडकर अन्य दार्शनिक सांख्य को प्राय· निरीश्वरवादी ही मानते हैं। उनके मत में ईश्वर का सांख्य दर्शन में कोई प्रयोजन नहीं है। जगत की सृष्टि प्रकृति से होती है, अत ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता नहीं है। परन्तु योग दर्शन निश्चित रूप से ईश्वरवादी दर्शन है। योग को सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है।

योग सांख्य के पच्चीस तत्वों के अतिरिक्त ईश्वर को छब्बीसवॉ तत्व मानता है। पतन्जलि मुनि ने ईश्वर का लक्षण इस प्रकार बतलाया है- क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय से सर्वथा अस्पृष्ट पुरूष-विशेष ईश्वर है।[7] ईश्वर नित्य मुक्त है। मुक्त पुरूष पूर्वकाल में बद्ध था और प्रकृतिलीन पुरूष की भविष्य में बन्ध की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु ईश्वर सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर है। वह नित्य और दिक्र-कालातीत है। ईश्वर में ज्ञान और ऐश्वर्य की पूर्णता है। वह गुरूओं का भी गुरू है। प्राचीन ऋषियों का भी गुरू है।[8] वही वेद का प्रथम उपदेष्टा है। प्रणव उसका वाचक है। ईश्वर-प्राणिधान से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।[9] तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान को क्रियायोग कहते हैं।[10] ईश्वर प्राणिधान से समाधि में सिद्धि प्राप्त होती है।[11] ईश्वर प्रसन्न होकर समाधि के विघ्नों और क्लेशों को दूर करके समाधि में सिद्धि प्राप्त करा देते हैं। अतः ईश्वर प्राणिधान समाधि, प्रज्ञा तथा कैवल्य का सरलतम् उपाय है।

---

1 गीता- 15 / 16
2 अरविन्द- एसेज ऑन द गीता, दूसरी माला, पृष्ठ-219, कठोप०- 1 / 2 / 16
3 यदुनाथ सिन्हा, भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 254
4 गीता- 14 / 3–4, 8 / 8–19
5 गीता- 4 / 7
6 गीता- 4 / 6 / 8 / 11, 3 / 2 / 3 / 20–23, 7 / 25
7 योग सूत्र - पातंजलि १/२४
8 स पुर्वेषामपि गुरूः - योगसूत्र
9 यीग सूत्र - पातंजलि 1 / 13
10. योग सूत्र - पातंजलि 2 / 1
11. यीग सूत्र - पातंजलि 2 / 45

किन्तु योग प्रतिपादित ईश्वर एक विशेष पुरूष है। वह जगत का कर्ता, धर्ता, सहर्ता तथा नियन्ता नहीं है। असख्य नित्य पुरूष तथा नित्य चेतन प्रकृति स्वतन्त्र तत्वों के रूप में ईश्वर के साथ- साथ विद्यमान है।

न्याय ईश्वरवादी दर्शन है, किन्तु न्याय-सूत्र मे कहीं भी ईश्वर का उल्लेख नहीं है। न्याय भाष्यकार ईश्वर को आत्मा का ही एक विशेष रूप मानते हैं।[1] जिस प्रकार जीवात्मा में ज्ञान आदि गुण हैं, उसी प्रकार ईश्वर में भी गुण हैं। इसलिए जीव और ईश्वर दोनों ही आत्मा हैं।[2] हॉ जीवात्मा और ईश्वर में अन्तर अवश्य है। जीवात्मा के ज्ञान आदि गुण अनित्य होते हैं, जबकि ईश्वर के ये गुण नित्य।[3] जीवात्मा बन्धन तथा मोक्ष का अधिकारी है, जबकि ईश्वर इन सबसे रहित है।[4] ईश्वर को नित्य मुक्त कहा जाता है।[5] जीवात्मा अनेक है, ईश्वर एक है।[6] जीवात्मा परतन्त्र हैं ईश्वर स्वतत्र है। ईश्वर को परमात्मा कहा जाता है, किन्तु नव्य नैयायिक ईश्वर को आत्मा का प्रकार नहीं मानते हैं।[7] ईश्वर ही जगत का निमित्त कारण और कर्म फल दाता है।

वात्स्यायन मानते हैं कि ईश्वर में अधर्म, मिथ्या ज्ञान और प्रमाद का अत्यन्त अभाव होता है।[8] धर्म और समाधि सम्पत् के परिणाम के रूप में ईश्वर में आठ प्रकार के ऐश्वर्य-अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और कामावसायित्व भी है।[9] वात्स्यायन ने ईश्वर में निर्माण प्राकाम्य भी माना है।[10] वात्स्यायन ने ज्ञान, इच्छा और सकल्प को भी ईश्वर का ऐश्वर्य माना है। इस प्रकार ईश्वर के ऐश्वर्य के दो वर्ग हुए-

क:- ज्ञान, इच्छा और संकल्प

ख:- अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ

प्रथम वर्ग का ऐश्वर्य नित्य है और द्वितीय वर्ग का अनित्य, क्योंकि यह वर्ग ईश्वर के धर्म और समाधि सम्पत् का परिणाम है। उद्योतकर ईश्वर के ज्ञान आदि के गुण को नित्य मानते हैं। इस नित्यता को उन्होंने 'अतिशय' कहा है।[11] अतिशय ऐश्वर्य का नामान्तर है। उद्योतकर ने ईश्वर की नित्य बुद्धि को क्रियाशक्ति, इच्छाशक्ति और प्रयत्नशक्ति का प्रतिनिधि मानते हैं।[12] उद्योतकर के अनुसार धर्म की सत्ता भी ईश्वर में नहीं है।[13] यद्यपि कि वात्स्यायन तथा जयन्तभट्ट[14] ईश्वर को धर्म

---

1 न्याय भाष्य- 4/1/21
2 न्याय वर्तिक 4/1/21, पृष्ठ- 464, तात्पर्य टीका 4/1/21, पृष्ठ- 59700
3 तात्पर्य टीका 4/1/21, पृष्ठ- 595
4 न्याय वर्तिक 4/1/21, पृष्ठ- 466
5 न्याय क०, पृष्ठ- 142
6 न्याय वर्तिक 4/1/21, पृष्ठ- 464, न्याय क०, पृष्ठ- 141–142
7 मुक्ता० कारी० 47
8 न्याय भाष्य- 4/1/21
9 योग भाष्य- 3/44, सा० त० क०, का० 23
10 न्याय भाष्य- 4/1/21
11 न्याय वर्तिक 4/1/21, पृष्ठ- 464
12. न्याय क०, पृष्ठ- 142
13. न्याय वर्तिक 4/1/21, पृष्ठ- 464
14 न्याय म०, भाग-1, पृष्ठ- 185

सम्पन्न मानते हैं। प्रशस्तपाद का मानना है कि माहेश्वर की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होते हैं।[1] आगम प्रमाण के आधार पर जयन्तभट्ट ईश्वर मे नित्य आनन्द की सत्ता भी मानते हैं।[2] परन्तु अन्य आचार्य इसके विरोधी हैं।[3]

इस प्रकार न्याय-सम्मत ईश्वर इस जगत का निमित्त कारण, जीवात्माओं के अदृष्टों को उद्बोधन करने वाला, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों से सम्पन्न नित्यमुक्त सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न-आत्मा है। न्याय दर्शन में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए उदयनाचार्य न्याय कुसुमाजलि में तर्क भी देते हैं।[4]

वैशेषिक सूत्र में कणाद ने स्पष्ट रूप से ईश्वर का नाम कहीं नहीं लिया है, लेकिन कणाद के व्याख्याकारो ने कुछ सुत्रों (जैसे- 1/1/3, 2/1/18–19, 7/2/20) में ईश्वर का संकेत ढूढने का प्रयास किया है। कणाद के व्यक्तिगत जीवनी से भी यह बात पुष्ट होती है कि वे ईश्वरवादी थे।[5]

कर्म ही अपनी शक्ति से फल देने में समर्थ है, इस सिद्धान्त को सुनकर तथा सूत्रकार जैमिनी और भाष्यकार सबरस्वामी के द्वारा अपने ग्रन्थों में मगलाचरण न किया हुआ देखकर कुछ लोग मीमांसा दर्शन को निरीश्वरवादी कहने लगते हैं, किन्तु गहराई से विचार करने पर उक्त दर्शन को निरीश्वरवादी कहने वालों की अल्पज्ञता स्पष्ट हो जाती है। सूत्रकार जैमिनी ने अपने सूत्र ग्रंथ का आरम्भ 'अथ' शब्द से किया है, उसी प्रकार भाष्यकार सबरस्वामी ने अपने भाष्य का आरम्भ 'लोक' शब्द से किया है। भूलना नहीं चाहिए कि 'अथ' शब्द स्वय मंगलवाचक है। उसी के सन्निहित 'धर्म' शब्द है, जो परमेश्वर का नाम है। भाष्य के आरम्भ में 'लोक' शब्द है जो परमेश्वर का नाम है। इस तथ्य की पुष्टि विष्णु सहस्त्र-नाम से हो जाती है।[6] समाज को कर्मठ बनाने के लिए कर्म की प्रधानता बताना इस धर्म का प्रधान लक्ष्य था, जिसे इसने पूर्ण रूप से निभाया भी। मीमासा बहुदेववाद में विश्वास करती है। इसलिए यह किसी विशेष ईश्वर के विषय में विस्तृत रूप से चर्चा नहीं करती है।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत् है। वह सर्वोच्च परिनिष्पन्न और निरपेक्ष तत्व है। आत्मा ही ब्रह्म है।[7] ब्रह्म के दो रूप हैं- एक नाम, रूप, विकार और भेद की उपाधियों से विशिष्ट है और दूसरा उसके विपरीत सर्वोपाधि विवर्जित है।[8] पहले को ईश्वर कहते हैं। ईश्वर सविशेष ब्रह्म है। वह माया से उपहित ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है तथापि उपासना के लिए उसे सगुण कहा गया है।[9] यही सगुण ब्रह्म ईश्वर है।

---

1 प० ध० स०, पृष्ठ- 122–132

2 न्याय म०, भाग-1, पृष्ठ- 185

3 न्याय क०, पृष्ठ- 142, मुक्ता० कारी० 49

4 कार्यायोजन धृत्यादे. पदात् प्रत्ययत श्रुते ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय ।।- न्याय कुसुमाजलि, 5/1

5 कणाद की माहेश्वर या शिव के प्रति अटूट आस्था थी। वादिन्द्र ने तो कणाद सूत्र निबन्ध में यह भी लिखा है कि एक शिव निर्मित वैशेषित सूत्र था। प्रो० ठाकुर- इन्ट्रोक्शन टु द वैशेषिक दर्शना, वरोदा 1961, पृष्ठ-10

6 भारतीय दर्शन- नन्द किशोर देवराज, पृष्ठ-481

7 ब्रह्मसूत्र - शाकर भाष्य- 1/1/1

8. ब्रह्मसूत्र - शांकर भाष्य- 3/2/11–12, 1/1/4/11, 1/2/4

9. ब्रह्मसूत्र - शांकर भाष्य- 1/2/14

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, स्वतत्र और एक है। वह सबका अन्तरात्मा है। वह अपनी माया शक्ति के द्वारा नाना प्रकार की वस्तुओ का निर्माण करता है।[1] ईश्वर विश्व का साक्षी है।[2] ईश्वर सृष्टि करता है। ईश्वर सृष्टि का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। ईश्वर अपनी लीला से ही सम्पूर्ण सृष्टि करता है। सम्पूर्ण सृष्टि उसकी लीला है। जिस प्रकार सास लेना मनुष्य का स्वभाव है, उसी प्रकार सृष्टि करना ईश्वर का स्वभाव है। ईश्वर संसार का कर्ता, रक्षिता और हर्ता है। संसार उससे उत्पन्न होता है। उसमें स्थित रहता है और उसी में लीन हो जाता है। वह जीवों को उसके कर्मो के अनुसार फल देता है। वह कर्माध्यक्ष है। वह जीवों के धर्माधर्म के अनुसार उनके भोग के लिए दुनियॉ की चीजों को बनाता है। वह संसार के नियमों से बधा नहीं है। वह पाप-पुण्य से उपर है। उसे सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। ईश्वर अविद्या से ग्रस्त नहीं है। वह जीवों को सुख-दु ख का भोग कराता है।[3] ईश्वर नैतिक व्यवस्था का कर्ता है। वह सबका पालक है। ईश्वर विश्वमय और विश्वातीत दोनों है। वृहदारण्यक उपनिषद पर भाष्य करते हुए शकराचार्य कहते हैं कि ईश्वर विश्व के भीतर निवास करता है और विश्व पर शासन करता है। वह विश्व का अन्तर्यामी सूत्रधार है। अग्नि, अन्तरीक्ष, स्वर्ग, सूर्य, चन्द्रमा और वायु सभी में ईश्वर अन्तर्यामी है।[4] श्वेताश्वेतर उपनिषद में कहा गया है कि ईश्वर विश्व के परे स्वर्ग में एकाकी वृक्ष के समान अविचल रूप में स्थित है।[5] ईश्वर उपास्य देव है। यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापक है तब भी वह अपने भक्त की उपासना से प्रसन्न होकर उसके हृदय में निवास करता है। निराकार होने पर भी वह अपने उपासकों पर अनुग्रह करने के लिए भॉति-भॉति का आकार धारण करता है।[6]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर की सत्ता तथा महत्व को व्यावहारिक दृष्टि से स्वीकार किया गया है। यदि सृष्टि की सत्ता है तो सृष्टा की भी सत्ता होगी। अतः संसार की व्याख्या के लिए ईश्वर आवश्यक है।

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म को पुरूषोत्तम कहा है। वह अनन्त कल्याण गुणों से युक्त और सारे अशुभ गुणों से मुक्त है। वह स्वयं प्रकाश है, पर प्रकाश्य नहीं है। वह सर्वगुण सम्पन्न द्रव्य है। ब्रह्म ईश्वर ही है। ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। ईश्वर जगत् का कर्ता, धर्ता और हर्ता है। वह सबका उपादान और निमित्त कारण है। वह सबका आधार है। वह कर्म फलदाता है। वह चित् और अचित् दोनों की अन्तरात्मा है। वह चिदाचिद के दोषों से लिप्त नहीं होता।[7] ईश्वर परम ज्ञानी है। जगत की सृष्टि पालन और ध्वस की शक्ति से युक्त है। वह अज्ञ को ज्ञान देता है, अशक्त को शक्ति देता है, पापी को क्षमा देता है, आर्त को करूणा देता है, अपवित्र को पवित्रता देता है, बेईमान को इमान देता है, अधर्मी को धर्म देता है और मुमुक्षों को फल देता है।[8] चिद्-चित् ईश्वर के शरीर हैं। अतः रामानुजाचार्य का ईश्वर विशिष्टाद्वैत रूप है। चित् और अचित् उसकी

---

1 कठ शाकर भाष्य- 2/2/12

2 वृहदारण्यक शाकर भाष्य - 1/1/20, 2/1/11, छा० शा० - 4/14/4

3 ब्रह्मसूत्र - शांकर भाष्य- 1/2/1/8/9/11, 1/1/20, ऐतरेय शा० 1/3

4 वृहदारण्यक शाकर भाष्य - 11/5/15

5 डा० बद्री नाथ सिह- भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 538

6. ब्रह्मसूत्र - शांकर भाष्य- 1/1/20

7 श्री भाष्य- 1/1/1, वेदान्त दीप- 1/2/1/12/19/25, 1/3/1/8, वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ- 11,16,25,32 तत्वत्रय, पृष्ठ 85–91

8 यदुनाथ सिन्हा - भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 302

शक्तियॉ, अश, अभिव्यक्तियॉ या शरीर है। दोनों में अपृथक-सिद्धि है। अभिव्यक्तियों के नानात्व के कारण वह अपनी अखण्डता नहीं खोता। वह परमेश्वर बनकर उनमे निवास करता है।[1] ब्रह्म सजातीय एवं विजातीय भेदों से शून्य है, लेकिन स्वगत भेदों से युक्त है। ईश्वर पूर्ण है, और लीला के लिए जगत की सृष्टि करता है। जगत को बनाने में उसका कोई बाहरी प्रयोजन नही है। वह जीवो को उनके कर्मो के अनुसार परस्पर असमान बनाता है।[2] ईश्वर विग्रह धारण करता है। मुक्त जीव ईश्वर का साक्षात्कार करता रहता है।[3] रामानुज के दर्शन में ईश्वर का स्वरूप पचविध है- 1- परब्रह्म वासुदेव 2- व्यूह 3- विभव अवतार 4- अन्तर्यामी 5- अर्चावतार। ईश्वर दया का धाम तथा करूणा का सागर है। वह जगत् को पुत्र के समान प्यार करता है। भगवान या ईश्वर सभी सद्गुणों का भण्डार है।[4]

ईश्वर के गुण

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् ईश्वर के कुछ सामान्य गुण उभरकर सामने आते हैं जो निम्नलिखित है-

1- ईश्वर सृष्टि का रचयिता है- हिन्दू धर्म में ईश्वर सृष्टि का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है। जैसे मकडी अपने ही अन्दर से अपनी जाल की रचना करती है, उसी प्रकार ईश्वर अपने ही अन्दर से सामग्री प्राप्त कर सृष्टि की रचना करता है। सृष्टि का रचयिता होने के कारण वह विश्व का निमित्त कारण है तथा स्वयं विश्व के लिए रचना सामग्री है, इसलिए वह उपादान कारण भी है। अपनी माया शक्ति के द्वारा वह मिट्टी, जल, आकाश, वायु, अग्नि इत्यादि तत्वों से जगत की रचना करता है। यह जगत ईश्वर की माया शक्ति का विकास है।

2- ईश्वर विश्वव्यापी तथा विश्वातीत दोनों है- जिस प्रकार मिट्टी घड़े के कण-कण में व्याप्त है, उसी प्रकार ईश्वर इस विश्व में व्याप्त है। या जिस प्रकार मक्खन दुध में सर्वत्र व्याप्त है उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। ईश्वर-विश्वातीत है क्योंकि उसका अधिकाश भाग सृष्टि रचना के बाद विश्व से बाहर रहता है।[5] सृष्टि की रचना करने में ही ईश्वर की सारी शक्ति नहीं लग जाती है। जिस प्रकार समुद्र में हिमशिला का अधिकांश भाग जल में डूबा रहता है तथा उसका कुछ ही अंश जल से बाहर या ऊपर दिखलाई पडता है, उसी प्रकार सृष्टि रचना में ईश्वर की शक्ति का कुछ ही अंश लगता है। ईश्वर की अधिकाश शक्ति अक्षुण्य रह जाती है। ऋग्वेद के पुरूष सूत्र में बतलाया गया है कि पूर्ण पुरूष के हजारों सिर, नेत्र, तथा पैर है। सम्पूर्ण पृथ्वी में व्याप्त होकर वह दश अंगुल और अधिक है।[6]

---

1 तत्वत्रय, पृष्ठ- ६५-६६, वेदार्थ संग्रह- पृष्ठ-11, 27, 34, 35, 127
2 वेदार्थ सग्रह- पृष्ठ-129, वेदान्त दीप- 2/1/31—33, श्री भाष्य- 2/1/33—34
3 तत्वत्रय- पृष्ठ- 118—119
4 सर्वदर्शन सग्रह माधवाचार्य, पृष्ठ- 223
5 डॉ० भगवान मिश्र- विश्व के प्रमुख धर्म, पृष्ठ-8
6 ऋग्वेद- पुरूष सूक्त- 10/90/3

3- ईश्वर आप्तकाम है- हिन्दू धर्म मे ईश्वर को आप्तकाम माना गया है। आप्तकाम वह है जिसकी कोई इच्छा जीवित न हो, जिसकी सभी इच्छाये परिपूर्ण हो। ईश्वर किसी प्रयोजन से सृष्टि की रचना नहीं करता है। सृष्टि रचना करना ईश्वर की लीला-व्यापार है।[1] जिस प्रकार इस लोक में सकल मनोरथपूर्ण कोई पुरूष बिना किसी प्रयोजन के केवल लीला के लिए अपने कार्यों को सम्पन्न करता है, उसीप्रकार ईश्वर अपने लीला-विलास के लिए सृष्टि करता है।[2] अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना तथा विध्वस क्यों करता है? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर विश्व की सृष्टि किसी अभिप्राय से करता है, तब ईश्वर का पूर्ण होना खण्डित हो जाता है। हिन्दू धर्म के अनुसार ईश्वर विश्व की रचना, पालन या सहार मात्र अपने मनोरजन के लिए करता है।[3] जिस प्रकार खेल शारीरिक शक्ति की अभिव्यक्ति है उसी प्रकार विश्व की सृष्टि, सहार आदि ईश्वर की अनन्त शक्ति का प्रकाशक है। विश्व का स्रष्टा, पालक और सहारक होने के बावजूद ईश्वर विश्व से तटस्थ रहता है। जहॉ तक ईश्वर की शक्तियों का सम्बन्ध है, हिन्दू धर्म ईश्वर की शक्तियों का सकलित रूप माया या प्रकृति को मानता है।[4]

4- ईश्वर दयालु तथा क्षमाशील है- हिन्दू धर्म का ईश्वर जीवों के प्रति पूर्ण-रूपेण दयालु है। कोई व्यक्ति बडा से बडा अपराधी क्यों न हो, लेकिन जब वह अपने आपको ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है तो, ईश्वर उसके सम्पूर्ण अपराधों को क्षमा कर देता है। ईश्वर की प्रतिज्ञा है- जो कोई भी मेरी शरण में भयभीत होकर आ जाता है, उसकी रक्षा मैं अपनी प्राण की भाति करता हूँ।[5] सच्चे हृदय से भगवान की शरण लेने पर सब कुछ वे सम्भाल लेते हैं, साधना के द्वार खुलते जाते हैं, और अन्त में भगवदनुग्रह से भगवान की प्राप्ति हो जाती है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है- हे अर्जुन। तू मुझमें निरन्तर ध्यान लगाये रह, मेरी अनन्य भक्ति कर, मुझे सर्वस्व अर्पण कर, मुझे ही प्रणाम कर, ऐसा करने से तू निश्चय ही मुझे प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है, क्योंकि तू मुझे अत्यत प्रिय है। तू सब धर्मों को त्यागकर मेरी अनन्य शरण में आ जा, मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।[6] ईश्वर का दरवाजा भक्तों के लिए सर्वदा खुला रहता है। अहकारी तथा घमण्डी व्यक्ति ईश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता है। वह अपने भक्तों की पुकार को सुनकर दयार्द्र हो जाता है। ईश्वर जीव की भक्ति से शीघ्र प्रसन्न हो जाता है। वह भाव का भूखा है। ईश्वर का कहना है कि मेरे भक्त का कभी भी नाश नहीं हो सकता है।[7] कल्याण कर्म करने वाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है।[8] ईश्वर भक्तों का उद्धार करता है तथा धार्मिक व्यक्तियों की रक्षा करता है।

---

1 लीला कैवल्यम् - शाकर भाष्य- 2/1/33
2 डॉ० भगवान मिश्र- विश्व के प्रमुख धर्म, पृष्ठ- 7
3 डॉ० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा- धर्म दर्शन की रूप रेखा, पृष्ठ- 97
4 वही- पृष्ठ- 97
5. "जो सभीत आवा सरनाई।
रखिहउँ ताहि प्रान की नाई।।"रामचरितमानस-सुन्दरकाण्ड 43/8
6 "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।"- गीता- 18/65—66
7 गीता- 9/31
8. गीता- 6/40

5- ईश्वर के तीन रूप हैं - हिन्दू धर्म का ईश्वर इस विश्व का स्रष्टा, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता है। जब यह सृष्टि दुष्टों के अत्याचार से परिपूर्ण हो जाती है, तब ईश्वर उसका विनाश कर विश्व की रचना नये रूपों में करता है, जैसा कि गीता में कहा गया है- जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का बोलबाला होता है, तब-तब मैं अवतार लेकर के धर्म की रक्षा करता हूँ।[1] हिन्दू धर्म में कार्य के अनुसार ईश्वर के तीन आकार देखने को मिलते हैं- जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश कहा जाता है।[2] रचना करने के समय ईश्वर को ब्रह्मा, पालन करने के समय विष्णु तथा सहार करने के समय महेश कहते हैं। सच पूछा जाय तो ये तीनों ईश्वर की शक्तियॉं हैं। अतः हिन्दू धर्म त्रिमूर्ति के विचार को अपना कर भी एकेश्वरवाद का समर्थन करता है।

6- ईश्वर विश्व का नैतिक शासक है- हिन्दू धर्म का ईश्वर इस सृष्टि का नैतिक शासक है। वह व्यक्तियों को उनके कर्मानुसार फल प्रदान करता है। वह कर्म सिद्धान्त का व्यवस्थापक है। जो जैसा करता है, ईश्वर उसको वैसा ही फल देता है। ईश्वर हमेशा शुभ और अशुभ कर्मो पर निर्णय देता है।[3]जो व्यक्ति अच्छे कर्मो को करता है ईश्वर उसको पुरस्कार स्वरूप सुन्दर रूप, उत्तम स्वास्थ्य, अच्छी सन्तान, पूर्ण धन सम्पत्ति तथा मान प्रतिष्ठा देता है, और अन्त में वह उसको स्वर्ग में भेजता है।[4] इसके विपरीत जो बुरा कर्म करता है, उसको दण्ड स्वरूप कुरूपता, दरिद्रता, नालायक सन्तान तथा अपमान की व्यवस्था करता है।[5] अन्त में वह उसको नरक भेजता है। न्याय दर्शन ईश्वर को अदृष्ट जो कर्म सिद्धान्त का रूप लेते हैं, का संचालक माना है।[6]

7- ईश्वर समदर्शी है- ईश्वर के दरबार में सभी मानव एक समान हैं। जॉति-पॉति, ऊँच-नीच तथा रंग-रूप के आधार पर उसके सामने कोई भेदभाव नहीं है। जैसा कि कबीर ने भी कहा है-

''जॉति-पॉति पूछे नहिं कोई।

हरि को भजे सो हरि का होई।।''

जो उसको जिस रूप में भजता है, वह उसी रूप में उसको भी मानता है। स्वयं भगवान श्री कृष्ण कहते हैं- ''जो मेरे को जैसा भजते हैं, मैं भी उनको वैसा ही भजता हूँ।''[7] ईश्वर को भक्त प्रिय है। ईश्वर अन्तर्यामी है। वह भूत, भविष्य को समान रूप से जानता है। ईश्वर से कुछ भी छिपा हुआ नहीं है।

---

1 गीता- 4/7
2 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूप रेखा, पृष्ठ- 96
3 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूप रेखा, पृष्ठ- 97
4 डॉ० भगवान मिश्र- विश्व के प्रमुख धर्म, पृष्ठ- 8
5 वही - पृष्ठ-8
6 न्याय कुसुमांजलि- उदयनाचार्य,5/1
7 गीता- 4/11

अवतारवाद

मानव शरीर धारण कर ईश्वर अथवा किसी देवता का पृथ्वी पर अवतरण, अवतार कहा जाता है। अर्थात परमात्मा की विशेष शक्ति का माया से सम्बद्ध होकर प्रकट होना ही अवतरण या अवतार है। परमात्मा जब सर्वव्यापक और सर्वकालिक है, फिर उसे माया से सम्बन्धित रूप क्यों धारण करना पडता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भागवत पुराण में कहा गया है कि - धर्म की स्थापना तथा इससे इतर अर्थात अधर्म को शान्त करने के लिए भगवान जगदीश्वर ने अंश रूप में अवतार धारण किया।"[1] गीता के प्रसिद्ध श्लोक में श्रीकृष्ण के वचनानुसार भी यही कहा गया है- "मै साधुओं की, सज्जनों की, श्रेष्ठ जीवन मूल्यों की, नैतिक आदर्शों की रक्षा के लिए और दुष्टता के, अधर्म के, निकृष्टता के, अनैतिकता के विनाश के लिए अवतार लेता हूँ।[2] भगवान प्रत्येक युग में अवतरित होकर समाज में नैतिकता, मर्यादा, श्रेष्ठ जीवन मूल्यों तथा आदर्शों की स्थापना करते हैं। अवतार के द्वारा प्रभु-भक्तों तथा साधकों को साक्षात भगवान की सन्निधि प्राप्त होती है, उन्हें प्रभु के समीप होने का, रहने का अवसर मिलता है। ईश्वर अपनी मानवीय लीलाओं के कारण भक्तों के आकर्षण का केन्द्र बन जाते हैं, जिससे भक्ति और ज्ञान का ही अत्यन्त सरस, व्यावहारिक रूप ही तो स्पष्ट होता है, जिसका आधार भगवत् लीलायें होती हैं।

हिन्दू धर्म के अनुसार ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होते हुए भी मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह वामन आदि अनेक रूपों में प्रकट होता है, यही ईश्वर का अवतार है। अवतारवाद की धारणा कितनी प्राचीन है, इसके विषय में विद्वानों में मतभेद है, फिर भी वैदिक साहित्य में अवतारों के बीज देखे जा सकते हैं। यजुर्वेद में रूद्र को वामन रूपधारी कहा गया है।[3] सामवेद में विष्णु के वामावतार का तथा अथर्ववेद में वाराह अवतार का संकेत है।[4] सतपथ ब्राह्मण में मत्स्यावतार[5] तथा कूर्मावतार[6] का वर्णन है। तैतरीय संहिता[7] और तैत्तरीय ब्राह्मण[8] एवं शतपथ ब्राह्मण[9] में वामनावतार का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा छांदोग्य उपनिषद[10] में देवकी पुत्र कृष्ण तथा तैतरीय आरण्यक[11] में वासुदेव श्री कृष्ण का उल्लेख है। पुराणों की अवतार संख्या भिन्न-भिन्न है। किसी में छः, किसी में दस अवतारों की चर्चा है। किन्तु वायु-पुराण में 77 अवतारों की कल्पना की गयी है।[12]

---

1 भागवत पुराण- 10/33/27
2 गीता- 4/8
3 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 39
4 वही, पृष्ठ- 39
5 शतपथ ब्राह्मण- 2/1/1/1
6 शतपथ ब्राह्मण- 7/3/3/5
7 तैतरीय सहिता- 7/1/5/1
8 तैतरीय ब्राह्मण- 1/1-3/5
9 शतपथ ब्राह्मण - 1/2/5/10
10. छादोग्य उपनिषद- 3/10
11. तैतरीय आरण्यक - 19/1/6
12 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 39

वैदिक ग्रथों में मत्स्य और कूर्म का सम्बन्ध प्रजापति से होने के कारण उन्हें ब्रह्मा का अवतार माना जाता है।[1]पुराणों में इन्हे विष्णु का अवतार माना गया है। विष्णु सृष्टि पालक के प्रतीक हैं। अवतार का सम्बन्ध सृजन तथा नाश की अपेक्षा पालन से अधिक है। अत इन्हें विष्णु का अवतार मानना अधिक समीचीन है। गीता में व्यास जी ने श्रीकृष्ण से कहलाया है- "परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृता, धर्म सस्थापनाथाय सम्भवामि युगे-युगे।" इसके अनुसार कृष्ण ही अवतार लेते हैं, विष्णु या ब्रह्मा नहीं। 'गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद'[2] में कृष्ण की व्याख्या इस प्रकार की गयी है- 'कृष्' शब्द सत्ता का वाचक है और 'न' आनन्द का। इन दोनों की जहॉ एकता होती है वह सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म ही कृष्ण नाम से प्रतिपादित होता है। परब्रह्म ही लोक में अवतरित होते हैं। ऐसा मान लेने से ब्रह्मा, विष्णु और महेश की सम्मिलित शक्ति का अवतार होता है, मानना पडेगा।

अवतारवाद के प्रबल समर्थक तुलसी ने विष्णु के 10 अवतारों की गणना के बाद लक्ष्मण को 'शेष' का, हनुमान को 'शकर' का, जामवत को 'ब्रह्मा' का तथा वानर भालुओं को देवताओं का अवतार कहा है।[3]

अवतारों के कारण ही निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर राम और कृष्ण के रूप में दिखलाई पडते हैं। सगुण रूप में भगवान भक्तों को सबसे प्रिय हैं। भगवान के रूप और गुण का गान कर भक्त भगवान से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। अत अवतारवाद को भक्तियोग के लिए बडा महत्वपूर्ण माना गया है। सृष्टि को उत्पन्न कर वह सृष्टि की सुव्यवस्था करता है। जब इस व्यवस्था में कमी आती है तो वह स्वयं अवतार लेकर व्यवस्था की कमी को दूर करता है। गीता में भगवान ने बताया है कि -मैं जन्महीन हूॅ फिर भी माया के कारण जन्म लेता हूॅ।[4] माया ईश्वर की अलौकिक शक्ति है। इसी के माध्यम से ईश्वर अवतार ग्रहण करते हैं। गीता में भगवान ने अपने अवतार के रहस्य को स्वयं समझाया है। उनका कहना है कि - 'जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ता है तो मैं अवतार ग्रहण करता हूॅ।"[5]

पुराणों में वर्णित अवतारों की संख्या भिन्न भिन्न है फिर भी 24 अवतारों के नाम मिलते हैं जो इस प्रकार हैं -

1) नारायण या विराट पुरूष 2) ब्रह्म 3) सनक-सनन्दन-सनत्कुमार-सनातन 4) नर- नारायण 5) कपिल 6) दत्तात्रेय 7) सुयश 8) हयग्रीव 9) ऋषभ 10) पृथु 11) मत्स्य 12) कूर्म 13) हस 14) धनवन्तरी 15) वामन 16) परशुराम 17) मोहनी 18) नृसिह 19) वेद व्यास 20) राम 21) बलराम 22) कृष्ण 23) बुद्ध 24) कल्कि ।

विष्णु के इन 24 अवतारों में बहुमान्य निम्नलिखित 10 अवतार ही मुख्य मानें जाते हैं- 1) मत्स्य 2) कूर्म 3) वाराह 4) नृसिंह 5) वामन 6) परशुराम 7) राम 8) कृष्ण 9) बुद्ध 10) कल्कि।

---

1 वही, पृष्ठ- 39
2 गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद - 1/1
3. तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 39
4 गीता- 4/6
5. गीता- 4/7

ईश्वर का व्यक्तित्व

ईश्वर के व्यक्तित्व को लेकर हिन्दू धर्म दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं तो अन्य विद्वान ईश्वर को व्यक्तित्वरहित स्वीकार करते हैं। ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानने में यह दोष आता है कि उसकी असीमितता खण्डित हो जाती है। क्योंकि व्यक्तित्व की धारणा में सीमितता की धारणा निहित रहती है। ईश्वर को असीम और सीमित व्यक्तित्व से युक्त दोनों मानना परस्पर विरोधी लगता है, किन्तु विचार करने पर निर्वेयक्तिक ईश्वर की धारणा भी निर्दोष नहीं लगती। क्योकि ईश्वर में दया, करूणा, कृपा आदि व्यक्ति के गुणों को स्वीकार करना और उसे निर्वेयक्तिक मानना भी युक्तिसगत नहीं लगता। जहॉ आचार्य शकर ईश्वर के निर्वेयक्तिक रूप का समर्थन करते हैं वहीं रामानुजाचार्य उसके वैयक्तिक रूप का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार वैयक्तिक ईश्वर ससीम होने के कारण परम तत्व नहीं हो सकता, जबकि रामानुजाचार्य के अनुसार निर्वेक्तिक ईश्वर निर्विशेष होने के कारण ज्ञान का विषय नहीं बन सकता है।[1] अत उसके अस्तित्व को स्वीकार करने का कोई आधार ही नहीं रह जाता है।

शकराचार्य के अनुसार ब्रह्म निर्गुण और निर्विकार है, उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। जगत के गुण या जीव के गुण ब्रह्म में आरोपित नहीं किये जा सकते हैं। ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों-सजातीय, विजातीय एव स्वगत से रहित है। ब्रह्म नितान्त असीमित है। वह सभी उपाधियों से परे है। ब्रह्म जो माया द्वारा आवृत्त है, वैयक्तिक ईश्वर है, और यह एक निम्न स्तर की सत्ता है। वैयक्तिक ईश्वर जो माया द्वारा आवृत्त ब्रह्म है, वह मात्र दृष्टि विषयक शासक है। ईश्वर, परमतत्व या ब्रह्म का मात्र एक रूप हो सकता है, स्वय ब्रह्म नहीं। व्यक्तित्व का आरोपण सर्वोच्च ब्रह्म मे कदापि सम्भव नहीं है। अत शकराचार्य की स्पष्ट घोषणा है कि ब्रह्म निर्वेयक्तिक और वैयक्तिक दोनों रूपों में नही हो सकता है।[2] शकराचार्य का कहना है कि ब्रह्म को सभी रूपों से रहित ही समझना चाहिए, और ब्रह्म निर्वेयक्तिक ही है। इसके विपरीत रामानुज ईश्वर को परमतत्व और वैयक्तिक दोनों मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर का व्यक्तित्व वही नहीं है जो मानवीय वर्ग का होता है। यद्यपि की ईश्वर एक व्यक्ति है, किन्तु मात्र इतने से उसे अन्य सामान्य मनुष्यों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। मनुष्य आदि का व्यक्तित्व दिक्काल में होता है, परन्तु ईश्वर का व्यक्तित्व देश और काल की सीमा से परे है।[3] ईश्वर सृष्टिकर्ता है, वह किसी के द्वारा सृष्ट नहीं है, इसलिए वह शाश्वत अनादि और अनन्त है।[4] ईश्वर में कोई अभाव नहीं है, इसलिए वह पूर्ण है।[5] परन्तु मनुष्य आदि जीव ईश्वर द्वारा किसी विशेष समय में रचे गये हैं, उनका जन्म होता है और मृत्यु भी। उनमें अभाव और कष्ट भी है।

---

1 श्री भाष्य- 1/1/1, वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ- 64
2 शाकर भाष्य- 3/2/11
3 श्री भाष्य- 1/1/1
4 वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ- 4
5 श्री भाष्य- 2/1/32, वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ- 36

इसलिए वे अपूर्ण हैं। इस प्रकार ईश्वर और मानव में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। रामानुजाचार्य के अनुसार सत, चित और आनन्द ब्रह्म को एक विशेष स्वरूप तथा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। ब्रह्म का ज्ञान साक्षात् है, वह अपने ज्ञान के लिए इन्द्रियो के ऊपर निर्भर नहीं है।[1] ब्रह्म का व्यक्तित्व सर्वोपरि है।

अत· हम कह सकते हैं कि रामानुज की दृष्टि में ब्रह्म व्यक्तित्वपूर्ण है। रामानुज ने शंकराचार्य की भॉति ब्रह्म और ईश्वर में भेंद नहीं किया है। ब्रह्म ही ईश्वर है उन्होने ब्रह्म को धार्मिक ईश्वर के तुल्य माना है, जो मानवीय सत्ताओं द्वारा पूजा जाता है। सभी वैष्णव-विचारक ईश्वर को वैयक्तिक ही मानते हैं। ईश्वर में असंख्य मागलिक गुण विद्यमान हैं। वह गुणो की खान है। यदि ईश्वरीय गुण मान्य है, तो उनके आधार के रूप में व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर को भी मानना अनिवार्य है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। धार्मिकता की यही मांग भी है। धर्म में ईश्वर के गुणों के कारण ही उसके स्वरूप को निरूपित किया जाता है, और उसे गुणों के कारण ही व्यक्तिपूर्ण माना गया है। यह भी कहा जा सकता है कि धार्मिक व्यक्ति तो ईश्वर को उपास्य और आराध्य मानते है, उपासना एवं अराधना व्यक्तित्व स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है। अत· धार्मिक उपासना के लिए एक वैयक्तिक ईश्वर में विश्वास करना न्याय सगत है। ईश्वर के इस वैयक्तिक रूप के समर्थन में गीता को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि सर्वोच्च सत्ता एक वैयक्तिक ईश्वर है, जो असख्य मागलिक गुणों से युक्त है।[2] गीता भी ईश्वर के व्यक्तित्वपूर्ण रूप में विश्वास करती है।

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप

उपनिषदों में यह कहा गया है कि ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है। अन्य सभी पदार्थों से ब्रह्म विलक्षण स्वभाववाला है। ब्रह्म का विलक्षण रूप सत्य ज्ञान और अनन्त पदों से स्पष्ट हो जाता है। 'सत्य' पद विकारास्पद असद् वस्तुओं से अलग करने वाला, 'ज्ञान' पद अन्य से प्रकाशित जड रूप से अलग करने वाला तथा 'अनन्त' पद देश-काल और वस्तु की परिच्छिनता से अलग करने वाला है।[3] सत्य ज्ञान और अनन्त तीनों पद एक ही वस्तु ब्रह्म का निर्देश कराते हैं, जो अन्य सभी पदार्थों से विलक्षण है।

परमेश्वर में अन्य गुणों की अपेक्षा ज्ञान गुण की अधिकता है।[4] श्रुतियों में ब्रह्म को इसीलिए 'ज्ञान' नाम से सम्बोधित किया गया है।[5] जिस प्रकार सूर्य प्रकाशी और प्रकाश दोनो है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञान स्वरूप और ज्ञानगुण-सम्पन्न भी है।[6] ज्ञान ब्रह्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है। ज्ञान के सम्बन्ध में शंकर और रामानुज में मतभेद है। शंकर अभेदात्मक या वाक्यार्थ

---

1 श्री भाष्य- 1/2/19
2 गीता भाष्य- 15/19
3 श्री भाष्य- 1/1/1
4 श्री भाष्य- 1/1/1
5 श्री भाष्य- 1/1/1
6 वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ- 179–180

ज्ञान को मानते हैं, जबकि रामानुज उपासनात्मक ज्ञान को स्वीकार करते हैं।

अनन्तता ईश्वर के गुणों का स्वरूप तथा लक्षण बतला देती है। ईश्वर के अलावा अन्य कोई दूसरा नहीं है। तत्वत्रय मे बतलाया गया है कि ईश्वर अनन्त है।[1] ईश्वर अनन्त है अर्थात् वह समस्त देश-काल और द्रव्य सम्बन्धी सीमाओं से स्वतत्र है, तथा सभी वस्तुओ से भिन्न प्रकृति का है।

आनन्द ईश्वर का सारभूत गुण है। ईश्वर आनन्द स्वरूप है।[2] परमात्मा ही आनन्दमय है।[3] ज्ञातृता ही उसका आनन्दीपन है। ईश्वर मे दु खों की उपस्थिति सम्भव नहीं है। आनन्द के अभिप्राय में 'रस' शब्द ईश्वर के लिए प्रयुक्त किया गया है। ईश्वर रस स्वरूप है। ईश्वर में ज्ञान आनन्द आदि धर्म विद्यमान होने के कारण ही जीव आनन्द का उपभोग करता है। श्री निवासचारी के अनुसार सत्य,ज्ञान और आनन्द वे आदर्श हैं, जिनमें समस्त आदर्शों का समावेश हो जाता है।[4] इस प्रकार ईश्वर के गुणों में सत्य, ज्ञान, आनन्द और शुद्धता आदि उसकी प्रकृति को निर्धारित करते हैं।[5] ईश्वर के ज्ञान शक्ति आदि गुण नित्य हैं, असख्य हैं, उपाधि रहित हैं और सम आदि परिमाण से रहित हैं।[6]

सत् चित् एवं अनन्त के साथ ही ईश्वर को विभु भी कहा जाता है।[7] विभु का अर्थ सर्व व्यापक है।[8]

परम-सौन्दर्य एवं परम-करूणा का आधार

उपनिषद, पुराण और आगम ईश्वर के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। ईश्वर अनतिक्रमणीय सौन्दर्य से सम्पन्न है। वह परम सुन्दर एवं अति प्रिय सत्ता है। भागवत में ईश्वर की प्रकृति को 'भुवन सुन्दर' के रूप में चित्रित किया गया है, और विशिष्टाद्वैत का सौन्दर्य दर्शन तत्व मीमासा के ब्रह्म और नीतिशास्त्र के ईश्वर को भागवत के 'भुवन सुन्दर' में रूपान्तरित कर देता है।[9] हिन्दू धर्म में जो कुछ सुन्दर और सर्वोत्तम है वह सभी कुछ ईश्वर को आरोपित किया गया है और उसकी सारभूति प्रकृति को निर्मित करने के रूप में सौन्दर्य की महत्ता को स्वीकार किया गया है।[10] ईश्वर का शरीर सौन्दर्य के गुण से युक्त होता है, और सभी को उसी प्रकार आकर्षित करता है जिस प्रकार कि माया निर्मित सरोवर परम सौन्दर्य सुगन्धि आदि से युक्त सुनहले कमलों से अलकृत होने के कारण समस्त दर्शकों के मन को मोह लेता है। उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी दिव्य

---

1 तत्वत्रय- 76
2 तत्वत्रय- 77, वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ- 179—180
3 श्री भाष्य- 1/1/13
4 एस० सी, पृष्ठ- 94
5 यती०- 9 'सत्यत्वज्ञानत्वानन्दत्वमलत्वादय ईश्वरस्य स्वरूपनिरूपक धर्मा'
6 तत्वत्रय- 78
7 यती०- 9 'सचेश्वरो विभुस्वरूपश्च'
8 वही - 'विभुत्वम् नाम व्यापकत्वम्'
9 पी०एन० श्रीनिवाश्चरी- द फिलॉसफी आफ विशिष्ठद्वैत, पृष्ठ- 202
10 वही, पृष्ठ- 197

अगों से युक्त परम् सुन्दर दिव्य शरीर से आश्रित जनों को आनन्दित करता है और उनके कष्टों को हर लेता है।[1]

ईश्वर के विशिष्ट सौन्दर्य की साक्षात कल्पना या दर्शन मात्र शुद्ध मन की अवस्था में ही हो सकता है। ईश्वर के परम् सौन्दर्य को वाह्य इन्द्रियों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता।[2] अर्जुन को नारायण का विश्व रूप देखने के लिए आध्यात्मिक नेत्र प्रदान किया गया था, ऐसा गीता में उल्लेख मिलता है।[3] जब श्रुतियां ईश्वर को द्रष्टव्य, मन्तव्य इत्यादि बतलाती है तब उसका यही अर्थ है कि मात्र शुद्ध मन और विवेक पूर्ण नेत्र ही इस परम सत्ता को ग्रहण करने में समर्थ है। नित्य मुक्त जीव जो बैकुण्ठ में रहते हैं, श्रीमन्नारायण के इस अद्भुत और अत्यन्त मनमोहक सौन्दर्य को निरन्तर देखने की स्थिति मे रहते हैं।[4] ईश्वर का सौन्दर्य सम्बन्धी गुण मध्यवर्ती कडी है जो मानव को ईश्वर से जोड़ती है। यह ससीम आत्मा और नि सीम ईश्वर के बीच खॉई पर पुल बॉधने का काम करती हैं। ईश्वर अपने सौन्दर्य से जीवों को आकर्षित करता है और जीव उसका सानिध्य पाने के लिए लालायित रहता है।[5]

हिन्दू धर्म का ईश्वर अपार करूणा से युक्त है। जिस प्रकार ज्ञान औरशक्ति ईश्वर के प्रधान गुण हैं, उसी प्रकार ईश्वर में करूणा रूपी गुण की भी प्रधानता होती है। करूणा के कारण ही ईश्वर ने जगत की रचना की, धार्मिक विधानों का निर्माण किया।[6] श्री भाष्य में तो यहॉ तक कहा गया है कि परम् करूणामय भगवान दयावश ही स्वेच्छा से उपासकों पर कृपा करने के लिए अपने को मनुष्य देव आदि प्राकृत देहों तक में परिणत कर देते हैं।[7] हिन्दू धर्म का ईश्वर जगत के प्रति कठोर एवं नृशस कभी भी नहीं हो सकता है। वह सृष्टि का पालन एवं संरक्षण करता है, साथ ही साथ जीवों का उद्धार भी करता है।[8] कोई भी जीव सरलता से उसकी शरण में जा सकता है। गीता में कहा है कि - ईश्वर शरणागत के दोषों को नहीं देखता है और यदि जीव ईश्वर की शरण में आता है तो ईश्वर द्रवित होकर उसके समस्त पापों को क्षमा कर उसका उद्धार कर देते हैं।[9] तत्व-त्रय में कहा गया है कि ईश्वर इतना अधिक दयालु है कि वह दूसरों के दुःखों को देखकर आहें भरता है, तथा उनके कल्याण के मार्ग को ढूढ निकालता है।[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुण चाहे तात्विक हों या नैतिक, सभी हिन्दू धर्म के ईश्वर में पाये जाते हैं। गीता में ईश्वर के नैतिक गुणों को दैवी सम्पदा के रूप में चित्रित किया गया है।[11] मनुष्य यदि दैवी सम्पदा के अधीन कार्य करे तो निश्चय ही वह ईश्वर का प्रेमपात्र बन जाता है।

---

1 तत्वत्रय, पृष्ठ- 96
2 गीता भाष्य- 11/8
3 गीता भाष्य- 11/8
4 वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ- 292
5 एस० सी०, पृष्ठ- 197
6 रहस्य त्रयसार- 23
7 श्री भाष्य- 1/1/21
8 एस० सी०, पृष्ठ- 191
9 गीता भाष्य- 11/8
10 तत्वत्रय- 81
11. गीता- 16/1/3/5

ईश्वर समस्त दोषों से रहित एवं अखिल कल्याण गुण सम्पन्न है

हिन्दू धर्म का ईश्वर समस्त दोषों, त्रुटियो एव अपूर्णताओं से सर्वथा रहित है।[1] जिस प्रकार ज्ञान अन्धकार का विरोधी है, गरूण सर्प का विरोधी है उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त विकारादि दोषो का विरोधी है।[2] उपनिषद ईश्वर में मात्र असख्य तात्विक, नैतिक और धार्मिक गुणों का आरोपण नहीं करते, बल्कि वे यह भी प्रकट करते हैं कि वह समस्त दुर्गुणों से एवं अपूर्णताओं से नितान्त पृथक है। हिन्दू धर्म में जगत को ईश्वर का शरीर माना गया है परन्तु ईश्वर जगत मे जीवों के साथ रहते हुए भी इस जगत के समस्त दोषो से रहित है।[3] जिस प्रकार आत्मा भीतर से शरीर का नियन्त्रण करता है, उसी प्रकार ईश्वर जीव एव जगत का नियन्त्रण करता है। जिस प्रकार शारीरिक विकारो या त्रुटियों से आत्मा प्रभावित नहीं होती, उसी प्रकार जगत के विकारों या त्रुटियो से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। जिस प्रकार राजा की आज्ञा के पालन या उल्लंघन से प्रजा को जो सुख-दुःख होता है, उसका भागी राजा नहीं होता है उसी प्रकार इस संसार के सुख-दुःख का भागी जीव होता है, ईश्वर नहीं। जीव कर्ता एव भोक्ता है, जबकि ईश्वर साक्षी है। साक्षी केवल निर्विकार द्रष्टा होता है। साक्षी शुद्ध नित्य चैतन्य और निर्गुण निर्विकार द्रष्टा है।[4]

दो पक्षी साथ-साथ सखा भाव से एक ही वृक्ष पर रहतें हैं, उसमे से एक स्वादु फल को चाव से खाता है, किन्तु दूसरा बिना खाये केवल देखता रहता है।[5] यह उपनिषद वाक्य जीव और ईश्वर का अन्तर बतलाता है। शकराचार्य ने इस पर अपने भाष्य में यह बताया है कि जीव भोक्ता है और ईश्वर द्रष्टा एवं प्रेरयिता है। ईश्वर अपने दर्शन मात्र से भोक्ता एव भोग्य दोनों को प्रेरित करता है।[6]

यद्यपि कि जीवात्मा स्वरुपत शुद्ध है फिर भी उपाधि या अन्य कृत्रिम कारणों से वह दोषो से अलकृत रहता है, जबकि ईश्वर एक समान स्वरूप का होने से सदैव अशुद्धताओं से मुक्त होता है। ईश्वर बद्ध आत्माओं से भिन्न है, जो क्लेश, कर्म और दोषों के अधीन है।[7] ईश्वर मुक्त एव नित्य आत्माओं से भी भिन्न है, क्योंकि मुक्त आत्माएं परम् सत्ता नहीं होती हैं। परमात्मा का अर्थ सर्वोच्च आत्मा है जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है।

हिन्दू धर्म का ईश्वर अनेकानेक मांगलिक गुणों का धाम है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वह अपार करूणा, अतीव सुन्दरता एवं अगाध वात्सल्य से युक्त है। ईश्वर ही सर्वजन सुलभ, परम सुन्दर तथा अतीव प्रिय सत्ता है। वह परम श्रेय है। समस्त फल देने वाला है। भक्तों का आश्रय है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाला है। ईश्वर विचित्र शरीर धारण करने वाला है तथा लक्ष्मी, भू एव लीला का नायक है। उसका देह सद्गुण विग्रह अर्थात् ज्ञान, बल आदि से परिपूर्ण है। ईश्वर

---

1 वेदार्थ सग्रह- पृष्ठ- 17—18

2 तत्वत्रय- 75

3. यति० - 9

4 श्वेता उप० - साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

5 मुण्डक उप०- 3/3/1

6 मुण्डक भाष्य- 3/1/1

7 रहस्यत्रयसार- 4

अमरत्व की ओर ले जाने वाला सेतु है। वह नित्य अजर, अमर और एक रस है।[1] ईश्वर भक्तों का भगवान है।

ईश्वर के गुणाष्टक गुण

हिन्दू धर्म में सगुण ब्रह्म को भगवान कहते हैं। भगवान का शाब्दिक अर्थ है - 'भग का स्वामी'।[2] विष्णु पुराण में ऐश्वर्य,धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छ का सम्मिलित नाम भग बतलाया गया है। भगवान इन छ गुणों का स्वामी है।[3] श्री, बल, वीर्य इत्यादि गुणों को विष्णु की पूर्णता का वाचक माना गया है।[4] गुणों का धाम होने के कारण ईश्वर भगवान कहलाता है। भगवान होने से वह ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान वैराग्य आदि छः गुणों का धाम माना जाता है।[5] भगवान के ये छ· स्वाभाविक गुण सभी हिन्दू दार्शनिक मानते हैं।

रामानुजाचार्य विष्णु पुराण मे वर्णित इन गुणों को भगवान का स्वाभाविक गुण मानते हैं।[6] उपनिषद मे सत्य सकल्प एव अपहतपापमत्व को भी भगवान का गुण माना गया है। सत्य सकल्पत्व भगवान के सभी संकल्पों की आवश्यक पूर्ति का वाचक है। ईश्वर का कोई सकल्प व्यर्थ नहीं जाता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है। अपहतपापमत्व से अभिप्राय पापों से रहित होना है। ईश्वर जो कुछ भी करता है, वह पाप-पुण्य से परे होता है। रामानुजाचार्य ने उपर्युक्त गुणों के आधार पर ईश्वर में 8 गुण मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर के आठ गुण हैं- ऐश्वर्य, श्री, बल, वीर्य, तेज, ज्ञान, सत्य संकल्प एवं निष्पाप। इसे ही गुणाष्टक कहा जाता है।[7] यह गुणाष्टक भगवान के स्वरूप का परिचायक है। इन गुणों के अतिरिक्त वह सृष्टि का कर्ता और स्वामी भी है। श्रुतियों में उसे सृष्टि का अन्तर्यामी सूत्रधार कहा गया है। वह जीवकृत पाप और पुण्य के लिए फल का विधान करता है। वह कर्तु, अकर्तु तथा अन्यथा कर्तु सबमे समर्थ है।

ईश्वर अन्य श्रेष्ठ गुणों से युक्त है। हिन्दू धर्म की मान्यता है कि ईश्वर सर्वजन-सुलभ और एकमात्र शारण्य है। अर्थात् कृपालु, सौहार्द्र, द्रवीभाव, आश्रितपारतन्त्र, समता, अशरण-शरण होना, सत्य-काम, कृतित्व, कृतज्ञता, माधुर्य, चातुर्य, स्थिरता, प्रणयीभाव, सुशीलता, सुलभता, वात्सल्य आदि गुणों से युक्त भगवान ही समस्त जगत का कारण है।[8]

ईश्वर दिव्य विग्रह का स्वामी है। वह मन मोहक और शान्तिदायी है। मानव चित् एक बार उस रूप में एकाग्र होते ही मानवमन विश्व की अन्य वस्तुओं में आकर्षण पूरी तरह खो देता है। मन में भगवान की उपस्थिति से मानव की सभी वासनाओं का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है। जीव कर्तृव्य और भोक्तृत्व दोनों से परे होकर भगवतपरायण-जीव भगवत-स्वरूप ही बन

---

1 गीता भाष्य- 2/17
2 श्रीभाष्य- 1/1/1
3 विष्णुपुराण- 6/5/74, ऐश्वर्यस्य समग्रएय वीर्यस्य यशसाश्रिय ।
ज्ञानवैराग्याश्चैवषण्णा भग इतीरणा।।
4 विष्णुपुराण- 6/5/79
5 विष्णुपुराण- 65/44
6 वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ- 239—240
7 बद्रीनाथ सिह- भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 561
8 तत्वत्रय- 81

जाता है।

तत्वत्रय में कहा गया है कि ईश्वर के उपर्युक्त गुणों में से वात्सल्य आदि गुणों के विषय अनुकूल प्राणी होते हैं तथा शौर्य आदि गुणों के विषय प्रतिकूल प्राणी हुआ करते हैं। इस वात्सल्य, शौर्य आदि के कारण भूत, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य एव तेजस आदि के सभी विषय हैं।[1] ईश्वर के अनन्त गुणो मे से ज्ञान अज्ञानियो के लिए, शक्ति निर्बलो के लिए, क्षमा अपराध युक्त जनो के लिए, कृपा दु खियों के लिए. ऋजुभाव कोमलता कुटिल जनों के लिए, सौहार्द्र दुष्प हृदय वालों के लिए, मृदुता वियोग से भयभीत होने वालो के लिए तथा सुलभता दर्शन की आस लगाये हुए लोगों के लिए हुआ करता है।

ईश्वर के व्यक्त एवं अव्यक्त रूप

हिन्दू धर्म ईश्वर के दो व्यक्त एव अव्यक्त रूपों मे विश्वास करती है। गीता की स्पष्ट मान्यता है कि प्रकृति एव पुरूष ईश्वर के व्यक्त रूप हैं। गीता के अनुसार प्रकृति ईश्वर का स्वरूप है। सम्पूर्ण जगत प्रकृति का परिणाम है। ईश्वर की अधक्षता में ही प्रकृति सम्पूर्ण चराचर जगत को उत्पन्न करती है।[2] गीता का कथन है कि जीवात्मा में ही ईश्वर का अंश विद्यमान है।[3] गीता का ईश्वर स्पष्ट घोषित करता है कि संसार में जितनी भी विभूतिमान एवं कान्तियुक्त मूर्तियॉ हैं वे मेरे अंश से ही उत्पन्न हुई हैं।[4]

आगे चलकर गीता के ईश्वर विषयक इन्हीं विचारों ने रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवादी विचारों को आधार प्रदान किया, जिसमें ईश्वर को अशी तथा प्रकृति एव जीव को उसका अंश घोषित किया गया है।[5] यह भी उल्लेखनीय है कि रामानुज के विशिष्टाद्वैतवादी विचारों की पृष्ठभूमि उपनिषदों में प्राप्त होती है। गीता ईश्वर के व्यक्त रूप को मायिक मानती है।

ईश्वर के व्यक्त रूप के साथ-साथ गीता में ईश्वर के अव्यक्त रूप का भी वर्णन किया गया है। ईश्वर को शुद्ध निर्गुण, अव्यक्त, अनादि, एव निरवयव माना गया है। गीता के अनुसार यह परमात्मा अनादि, निर्गुण एव अव्यक्त है। इस कारण वह शरीर में स्थिर रहकर भी न तो कुछ करता है और न लिपायमान होता है।[6]

ईश्वर के व्यक्त एव अव्यक्त रूपों में अव्यक्त रूप ही श्रेष्ठ है। गीता का ईश्वर स्पष्ट घोषित करता है कि - 'यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ तो भी बुद्धिहीन लोग मुझे व्यक्त समझते हैं, और व्यक्त से भी परे मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूप को नहीं पहचानते हैं।[7] वस्तुतः अव्यक्त ईश्वर गीता का निर्गुण ब्रह्म है और व्यक्त ईश्वर सगुण ब्रह्म। शकराचार्य के अद्वैतवादी विचारों का

---

1 तत्वत्रय- 79

2 गीता- 9/10 'मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम् '

3 गीता- 15/7 'ममैवाशो जीवलोके जीवभूता सनातन '

4 गीता- 10/41

5 डॉ० आर० एम० पाठक- भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, पृष्ठ- 43

6 गीता- 13/31 अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायम व्यय ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।

7 डॉ० आर० एम० पाठक- भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, पृष्ठ- 44

आधार भी गीता में उपलब्ध है। शंकराचार्य ने गीता के इन्हीं ईश्वर विषयक विचारों के आधार पर सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों का विवेचन किया है। ईश्वर के ये दोनों रुप एक ही तत्व के हैं। गीता में ईश्वर के व्यक्त एव अव्यक्त रूपों के अतिरिक्त उसके विराट स्वरूप का वर्णन मिलता है। ईश्वर के विराट स्वरूप का न आदि है, न मध्य है और न अन्त है। इसके एक भाग में ही सम्पूर्ण जगत स्थित है।

ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण

ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास प्राचीन काल से ही चलता आ रहा है। भारतीय दर्शन मे जिन विचारकों ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है, वे निम्नोक्त हैं-

योग दर्शन में ईश्वर की सत्ता के लिए प्रमाण- योग दर्शन में ईश्वर का महत्व ईश्वर प्राणिधान के लिए है। ईश्वर प्राणिधान के दो अर्थ है- एक अर्थ है ईश्वर की भक्ति[1] और दूसरा अर्थ है सारे कर्मो को ईश्वरार्पण बुद्धि से करना।[2] ईश्वर के अस्तित्व के लिए ये प्रमाण दिये गये हैं-

1- पतञ्जलि ने एक प्रमाण दिया है, जिसे पाश्चात्य दर्शन में सत्ता-परक प्रमाण कहा जाता है।[3] अविच्छिन्नता का नियम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है। ससार में वस्तुओं के न्यूनाधिक परिमाण से यह सूचित होता है कि परिमाण की एक अल्पतम और अधिकतम् सीमा भी होती है। उसी प्रकार ज्ञान और शक्ति की न्यूनाधिक मात्रा उसकी न्यूनतम मात्रा तथा अधिकतम् मात्रा की ओर संकेत करती है। ईश्वर के अन्दर ज्ञान की सबसे बड़ी मात्रा होती है।[4] ईश्वर में सर्वज्ञता की पराकाष्ठा है।[5] इस प्रकार एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व होना चाहिए, जिससे अधिक ज्ञान-शक्तियुक्त अन्य सत्ता का अस्तित्व न हो। अत· ऐसा परम पुरूष ईश्वर ही है।

2- शब्द प्रमाण से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। वेद ईश्वर का वर्णन करते हैं, इसलिए उसका अस्तित्व है। वेद प्रामाणिक हैं, वे झूठी बात नहीं कर सकते। व्यास जी का कथन है कि वेद और ईश्वर का सम्बन्ध अनादि है।[6] व्यास ने योगभाष्य में ईश्वर के पूर्ण स्वभाव के लिए शास्त्र को ही प्रमाण माना है।[7]

3- पतञ्जलि ने कारण नियम पर आश्रित तर्क भी दिया है।[8] ईश्वर प्रकृति को आदि गति देने वाला है। वह प्रकृति की साम्यावस्था को भंग करके सृष्टि का क्रम शुरू करवाता है। ईश्वर जगत का निष्क्रिय निमिक्त कारण है। वह कुछ पुरूषों के

---

1 योगसूत्र- 1/23
2 योगभाष्य- 2/1
3 यदुनाथ सिन्हा- भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 188
4 योगसूत्र- राजमार्तण्ड- 1 25
5. योगसूत्र- 1/25
6 योगभाष्य- 1/24
7 योगभाष्य- 3/50-51
8 यदुनाथ सिन्हा- भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 188

भोग के लिए और कुछ पुरूषों के मोक्ष के लिए जगत की सृष्टि करवाता है।[1] ईश्वर प्रकृति और पुरूषों का सम्बन्ध जोडता है। ईश्वर पुरूषों के भोग के लिए प्रकृति से परिणाम करवाता है और कुछ पुरूषों के मोक्ष के लिए उसका लय करवाता है।[2] ईश्वर स्वय स्थिर रहते हुए प्रकृति को गति देता है। वह पुरूषों का अधिष्ठाता है।[3]

4- प्रकृति और पुरुष स्वतन्त्र सत्तायें हैं। वे एक दूसरे से संयोग करने और संयोग तोडने में असमर्थ हैं। लेकिन उनका सयोग प्रकृति के परिणाम और पुरूषों के सासारिक जीवन (बन्धन) का कारण है और उनका वियोग जगत के लय और पुरूषों के मोक्ष का कारण है। उनके सयोग और वियोग के लिए ईश्वर को मानना अति आवश्यक है।[4] ईश्वर का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता। वह नित्य तृप्त है। फिर भी भूतानुग्रह के लिए ईश्वर प्रकृति और पुरूष का संयोग-वियोग करता है।[5]

न्याय दर्शन में ईश्वर की सत्ता के लिए प्रमाण

ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाण देना न्याय दर्शन की विशेषता है। अन्य आस्तिकों के लिए ईश्वर एक मान्यता है। न्याय की विशेषता यह है कि ईश्वर को तो मानता ही है, ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रमाण भी देता है। प्रमाण देने से ईश्वर प्रमेय बन जाता है। इस प्रकार अप्रमेय ईश्वर को प्रमेय बना देना न्याय की अपनी विशेषता है।[6] गौतम ने ईश्वर का उल्लेख थोडे से सूत्रों में दिया है। परन्तु वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन, जयन्त भट्ट, गंगेश आदि उत्तरकालीन न्यायायिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए विस्तार से प्रमाण दिये हैं।[7] इन प्रमाणों ने पाश्चात्य दर्शन के वे सभी प्रमाण आ जाते हैं जो ईश्वर की सत्ता के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। न्यायायिक यह मानते हैं कि ईश्वर की कृपा से जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। श्रवण, मनन निदिध्यासन के साथ-साथ ईश्वर की कृपा को भी आत्मज्ञान का साधन माना गया है। कुसुमाञ्जलि के पॉच अध्यायों में से एक अध्याय में यह दिखाया गया है कि ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता जो यह सिद्ध करे कि ईश्वर नहीं है। इस न्यायग्रन्थ में उदयन ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियॉ दी हैं-

'कार्यायोजन धृत्यादे पादात् प्रत्ययत श्रुते ।

वाक्यात् सख्या विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय· ।[8]'

1- कार्यात्- यह जगत कार्य है। अतः इसका निमित्त कारण अवश्य होना चाहिए। जगत में सामजस्य और समन्वय इसके चेतनकर्ता से ही आता है। अत सर्वज्ञ चेतन ईश्वर ही इस जगत का निमित्त कारण एवं प्रायोजककर्ता है।

1 योग भाष्य- 4/33
2 योगवार्तिक- 1/26
3 योगवार्तिक- 4/3, 2/22
4 राजमार्तण्ड- 1/25
5 वही- 1/26
6 एम० हिरियन्ना- आउट लाइन आफ इण्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ- 245
7 यदुनाथ सिन्हा- भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 140
8 न्यायकुसुमाजलि- 5/1

2- आयोजनात्- यह जगत जिन तत्वो से बना है उनमे अनन्त आयोजन देखा जाता है। यह आयोजन एक बुद्धि सम्पन्नकर्ता की अपेक्षा रखता है। सृष्टि प्रक्रिया का आरम्भ होने के पूर्व एकमात्र ईश्वर ही बुद्धिसम्पन्न प्राणी के रूप मे अस्तित्व में था। अत. यह आयोजन ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करती है।

3- धृत्यादे.- जिस प्रकार इस जगत् की सृष्टि के लिए चेतन सृष्टिकर्ता आवश्यक है उसी प्रकार इस जगत को धारण करने के लिए एवं इसका प्रलय में सहार करने के लिए चेतनधर्ता एवं संहर्ता की आवश्यकता है। यह कर्ता, धर्ता, सहर्ता ईश्वर है।

4- पदात- पदों मे अपने अर्थो को अभिव्यक्त करने की शक्ति ईश्वर से आती है। यह ईश्वर की इच्छा है कि इस पद से इस पदार्थ का बोध हो। अत पदों के अर्थो को स्पष्ट करने के लिए ईश्वर की सत्ता आवश्यक है।

5- प्रत्ययतः - वेद ईश्वर द्वारा उच्चरित वचन है। अत· इनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। प्रत्यय या प्रमाण से भी सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

6- श्रुते. - श्रुति से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। श्रुति का अर्थ है- 'वेद' और 'वेद' का कर्ता पुरूष- विशेष ईश्वर को माना गया है। वेद पौरूषेय हैं। वेद का रचयिता साधारण पुरूष नहीं हो सकता क्योंकि वह ससीम है। वेद असीम है। उसका कर्ता भी असीम, अनन्त ईश्वर ही है।

7- वाक्यात् - वैदिक वाक्य से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। वैदिक वाक्य पौरूषेय है, परन्तु वेदों का रचयिता पुरूष विशेष परमात्मा है।

8- संख्या विशेषात्- न्याय के अनुसार द्वयगुण का परिणाम उसके घटक दो अणुओं के पारिमाण्डल्य से उत्पन्न नहीं होता अपितु दो अणुओं की संख्या से उत्पन्न होता है। संख्या का प्रत्यय चेतन द्रष्टा से सम्बद्ध है। सृष्टि के समय जीवात्माएं जड़,द्रव्य रूप में स्थित हैं एव अदृष्ट परमाणु काल दिग् मन आदि सब जड़ हैं। अत· दो की संख्या के प्रत्यय के लिए चेतन ईश्वर की सत्ता आवश्यक है।

9- अदृष्टात् - अदृष्ट जीवों के शुभाशुभ कर्म संस्कारों का आगार है। ये संचित संस्कार फलोन्मुख होकर जीवों को कर्मफल भोग कराने के प्रयोजन से सृष्टि के हेतु बनते हैं, किन्तु अदृष्ट जड़ है। अतः उसे गतिशील बनाने के लिए सर्वज्ञ एवं चेतन द्रव्य की आवश्यकता है। यह चेतन द्रव्य ईश्वर है।

शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त में ईश्वर की सत्ता के लिए प्रमाण

शकराचार्य के अनुसार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, जगत्कारण एवं जगतनियन्ता ईश्वर की सिद्धि श्रुतिवाक्यों से होती है, अनुमान या तर्क द्वारा नहीं।[1] सविकल्प बुद्धि अपनी युक्तियों या तर्कों से ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकती। उन्होंने

1. ब्रह्म सूत्र भाष्य-1/1/2

अन्यान्य भारतीय दार्शनिकों द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दी गयी युक्तियों का खण्डन किया है। शकराचार्य के अनुसार ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानने वाली विचार-धाराएं ईश्वर को सीमित कर देती हैं, क्योंकि उसे सृष्टि विषयक सामग्री के लिए परनिर्भर (जड तत्व पर) होना पड़ता है। एक पर-निर्भर ईश्वर सृष्टिकर्ता सर्वशक्तिमान एव निरपेक्ष नहीं हो सकता। शकराचार्य न्याय द्वारा ईश्वर की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों से सहमत नहीं हैं।[1] शकराचार्य नैयायिकों के कार्यकारण मूलक युक्ति के विरोध मे नैयायिकों को यह परामर्श देते हैं कि उन्हें साहसपूर्वक यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि- "यह विश्व हमें विद्यमान प्रतीत होता है और हम इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते हैं।"[2]

इसी प्रकार शकराचार्य ईश्वर परिणामवाद को भी अस्वीकार करके ब्रहम या ईश्वर को जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण स्वीकार किया तथा जगत को ईश्वर का विवर्त माना। यहॉ उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य के समान ही पाश्चात्य दर्शन के अधिकांश विचारक, ईश्वर की सत्ता के लिए युक्तियों को अपर्याप्त मानते हैं। लोत्जे का कथन है कि जब तक हम ईश्वर में विश्वास को लेकर आगे नहीं बढते, तब तक केवल तर्क से कुछ नहीं सिद्ध होता।[3] कान्ट ने भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दी गयी युक्तियों को अपर्याप्त दिखलाते हुए विश्वास को ईश्वर की सत्ता का आधार बतलाया है।[4] इसी प्रकार अद्वैतवेदान्त में भी श्रुति को ईश्वर की सत्ता का आधार माना गया है। ईश्वर सम्बन्धी कथनों को समझने के लिए, शका समाध ाान के द्वारा तत्वार्थ विवेचन के लिए ही यहॉ तर्क को आवश्यक माना गया है। तर्क श्रुति का सहायक है और उसका स्थान श्रुति से गौण है।[5]

रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में ईश्वर की सत्ता के लिए प्रमाण

रामानुज का कहना है कि तर्क जो ईश्वर की सत्ता के प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं अन्त में विफल हो जाते हैं, क्योंकि उनका खण्डन करने के लिए अन्य विरोधी तर्क सफलता से दिये जा सकते हैं।[6] तर्क के विरूद्ध रामानुज श्रुति के आधार पर ही, निर्विवाद रूप से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। अर्थात् श्रुति के आधार पर ही ईश्वर को स्वत. सिद्ध और स्वयभू रूप में स्वीकार किया जाता है।[7]

साधारण तर्क जो दिये जाते हैं वे कार्यकारण रूप होते हैं- संसार कार्य है इसलिए इसका कारण होना चाहिए, कोई कर्ता होना चाहिए, जिसे पदार्थों से तथा उनकी उपयोगिता से परिचय हो और वह उन्हें भोगता भी हो। यहॉ संसार को एक सामान्य कार्य माना गया है। रामानुज के अनुसार ऐसे उदाहरणों में साम्यता नहीं है। अत· जगत के रचयिता को एक परम पुरूष के

1 डॉ० सी० डी० शर्मा- भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ- 190
2 डॉ० आर० एम० पाठक- भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, पृष्ठ- 82
3 वही, पृष्ठ- 145
4 डॉ० सी० डी० शर्मा- भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ- 253–254
5 ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य- 1/1/2/3
6 श्री भाष्य- 2/1/11
7 श्री भाष्य- 1/1/2

बजाय हम एक जीव को भी जगत का कर्ता मान सकते हैं जैसे- कपडे का कारण साधारण मनुष्य होता है या घट का कारण साधारण कुम्भकार होता है। अत रामानुज के अनुसार अनुमान द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना कठिन है। इसी प्रकार रामानुजाचार्य विश्व कारण युक्तिवादी तर्क का भी खण्डन करते हैं।

अत हम कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म में तर्कों के द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना सम्भव नहीं है। जैसी कि रामानुज की मान्यता है- ''विचार अपने आप में हमें यथार्थता का साक्षात् ज्ञान नहीं करा पाते।[1] यथार्थता का साक्षात्कार तर्क द्वारा सिद्ध ज्ञान नहीं है। उसकी प्राप्ति समाधि में ही सम्भव है जो भक्ति का रूप धारण करती है।[2] ईश्वर मानवीय ज्ञान के प्रवर्गो से परे है और साक्षात अन्तर्ज्ञान द्वारा अनुभव किया जा सकता है।[3] इस सम्बन्ध में केवल श्रुतियॉ ही हमारी मदद कर सकती हैं।

द्वितीय भाग - ईसाई धर्म के सन्दर्भ में

ईसा मसीह का ईश्वरत्व या ईश-स्वरूप मसीह

'ईसा' शब्द 'जीजस' से निकला है।[4] ईसाई शब्द यूनानी है और इब्रानी 'मसीह' शब्द का अनुवाद है। 'मसीह' का अर्थ है - वह जो अभिषिक्त है।[5] यहूदी लोगों में पुजारियों और राजाओं का अभिषेक किया जाता था, इसीलिए ईसा को 'मसीह' कहा गया है, क्योंकि ईश्वर ने उसे विशेष रूप से चुनकर और यज्ञबलि के रूप में अभिषिक्त किया था।[6] ईसा मसीह यहूदी थे और उन्होंने सर्वप्रथम यहूदियों द्वारा 'मसीह' की कल्पना को अपने जीवन में साकार करने की चेष्टा की।[7]

यहूदियों में 'मसीह' की प्रतीक्षा की धारणा प्रचलित थी, अर्थात उस मुक्किर्ता की प्रत्याशा थी जो दाऊद राजा के वश से उत्पन्न होने वाला था। ईसा के चमत्कारों को देखकर, उनकी अधिकारपूर्ण शिक्षा सुनने से बहुत से यहूदी विश्वास करने लगे थे कि वही प्रतिज्ञात मसीह हैं।[8] इतना ही नहीं, आदि चेलों से पूछ-ताछ के उत्तर में ईसा को पेत्रुस नामक प्रधान ने स्पष्ट रूप से यह साक्ष्य दिया कि ''आप मसीह है।''[9] फिर भी मसीह का आदर्श एक ऐसे सांसारिक राजा का था, जो यहूदी प्रजा को रोमन

---

1 श्री भाष्य- 1/2/23
2 वेदार्थ सग्रह- पृष्ठ- 306
3 श्री भाष्य- 3/2/23
4 डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक दर्शन, पृष्ठ- 163
5 वही पृष्ठ- 163
6 वही पृष्ठ- 163
7 वही पृष्ठ- 163
8 योहन- 6/1/15
9. मत्ती- 16/16

साम्राज्य से स्वतन्त्र कर उनकी राजनीतिक शक्ति पुन· स्थापित करेगा। इसके विपरीत ईसा से प्रस्तुत मसीह सम्बन्धी विचार आध्यात्मिक ही था, इसलिए 'मसीह' कहलाना अस्वीकार न करते हुए भी ईसा ने अपने शिष्यों को कडी चेतावनी दी कि तुम लोग किसी को यह नहीं बताओगे कि मै मसीह हूँ।[1] यहूदियों की धारणा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। यहूदियों में प्रचलित एक प्रतापी शासक की प्रतीक्षा के विपरीत ईसा अपने आप को दु ख भोक्ता मसीह के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिस मसीह की प्रतीक्षा इब्रानी करते थे, उसे ईश्वर नहीं मानव माना जाता था, जबकि ईसा मसीह के चेले उन्हें न केवल 'मसीह' बल्कि परमेश्वर भी मानते थे।

बाइबिल का उत्तरार्द्ध भाग ईसा मसीह के लिए 'प्रभु' शब्द का प्रयोग करता है।[2] प्रभु यूनानी मूल भाषा में 'कुरियोस' 'यावे' का समानार्थक माना जाता था।[3] वास्तव में 'कुरियोस' इब्रानी शब्द अखेनाई का अनुवाद था, जो परवर्ती इब्रानी परम्परा में 'यावे' शब्द के बदले प्रचलित था।[4] ईसा के पुनरूत्थान के बाद संत पेत्रुस अपने पहले आम प्रवचन में यह घोषित करते हैं कि - ''जिन्हें आप लोगो ने क्रूस पर चढाया, ईश्वर ने उन्हीं ईसा को प्रभु भी बना दिया है और मसीह भी।''[5]

इस प्रकार साहित्यिक और ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर आधुनिक बाइबिल विद्वान यह घोषित करते हैं कि आदि चेले ईसा को मानव स्वरूप मसीह मात्र नहीं, परमेश्वर भी मानते थे।

'ईश-शब्द'

अब प्रश्न यह उठता है कि शारीरिक जन्म से पहले ईश्वर-स्वरूप-ईसा की अवस्था कौन सी थी? ईसा मसीह के चेले इस प्रश्न का समाधान बाइबिल-पूर्वार्द्ध पर चिन्तन करके करते हैं। फिर प्रज्ञा ग्रन्थ के अनुसार ईश-प्रज्ञा सृष्टि कार्य के पूर्व ही परमेश्वर के पास विद्यमान थी।[6] उत्पत्ति ग्रंथ के अनुसार परमेश्वर ने अपने शब्द द्वारा ही सृष्टि की रचना पूरी की।[7] ईसा के प्राग्भाव की समस्या पूर्वार्द्ध की इन धारणाओं की सहायता से हल की जा सकती है। संसार में जन्म लेने के पूर्व ईश्वर-स्वरूप-मसीह सृष्टिकर्ता परमेश्वर के पास उसकी 'प्रज्ञा' या 'शब्द' के रूप में अस्तित्व रखते थे। इसलिए सत योहन अपने सुसमाचार के प्रारम्भ में ईसा के विषय में इस प्रकार लिखते हैं- ''आदि में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर था।''[8] ईसा मसीह न केवल 'ईश-शब्द' के रूप आदि काल से ही विद्यमान थे, वरन ईश-प्रज्ञा के रूप में वे सृष्टिकार्य में भी क्रियाशील थे- उसके (अर्थात् शब्द-स्वरूप-ईसा) द्वारा सब कुछ उत्पन्न हुआ।[9] इस तरह ईश-शब्द की धारणा का आरोप ईसा मसीह पर

1 मत्ती- 20वाँ पद
2 योहन फाइस- ईसाई दर्शन-इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ- 34
3 वही पृष्ठ- 34
4 वही पृष्ठ- 34
5 प्रेरित चरित- 2/36
6 प्रज्ञा-ग्रथ- 8/29—30
7 उत्पत्ति ग्रथ- 1/3
8 योहन- 1/1
9 योहन- 1/3

किया जाता है।

ईश शब्द के रूप में ईसा के प्रागभाव के वर्णन के बाद सत योहन यह भी समझाते हैं कि ईसा ईश्वर होते हुए भी शरीर मे जन्म क्यो लिया। इब्रानी शब्दावली का प्रयोग कर वे इस प्रकार लिखते हैं- 'शब्द ने शरीर धारण कर हमारे बीच निवास किया।[1] यहाँ शरीर का तात्पर्य है-सासारिक दृष्टिकोण से मानव स्वभाव। इसमें 'जीवात्मा' भी शामिल है, जिससे उपर्युक्त कथन का अर्थ होता है- ईश-स्वरूप शब्द ने ईसा के रूप मे मानव स्वरूप को धारण किया। इसी रूप में उन्होंनें हमारे बीच निवास किया। पूर्वार्द्ध के समय परमेश्वर अदृश्य रूप से अपनी प्रजा के निकट रहा करता था, लेकिन उत्तरार्द्ध मे वह ईश-मानव के रूप मे मनुष्यों के बीच रहने आया।[2]

सृष्टि के अतिरिक्त ईश-शब्द का पूर्वार्द्ध में एक दूसरा कार्य भी मिलता है- प्रकाशना का। ईसा मसीह स्वय ही ईश-शब्द माने जाते हैं। फलत ईश-शब्द ने जब ईसा-मसीह में मानव स्वरूप धारण किया, तो उन्हीं में प्रकाशना की परिपूर्णता मिली। ईसा और ईश शब्द के तादात्म्य के फलस्वरूप ईसा मसीह परमेश्वर के आविर्भाव ही माने जाने लगे। इब्रानियों के नाम पत्र में लिखा है- "वह पुत्र (ईसा) अपने पिता की महिमा का प्रतिबिम्ब और उसके तत्व का प्रतिरूप है।"[3] बिम्ब प्रतिबिम्ब सम्बन्ध के अतिरिक्त ईसा परमेश्वर का पुत्र भी माने जाते हैं, फलत. त्रिक परमेश्वर का सिद्धान्त विकसित हुआ।

ईश्वर का स्वरूप

ईसाई धर्म में ईश्वर को चरम सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। वह एक है, वह सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है।[4] नैतिक दृष्टिकोण से वह पूर्ण है। अनन्त दृष्टि, अनन्त ज्ञान, करूणा आदि ऐश्वर्यों से वह युक्त समझा जाता है। वह स्वर्ग और पृथ्वी का स्वामी है। वह न्यायी परोपकारी तथा पवित्र है। वह विश्व का संचालक तथा नैतिक शासक है। वह मनुष्य के कर्मों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है।[5] इसीलिए ईश्वर को विश्व का निर्णायक कहा जाता है। वह विश्वातीत है। विश्व में व्याप्त होते हुए भी वह उससे महान तथा उसके परे है। ईसाई धर्म का ईश्वर मानवता का ईश्वर प्रतीत होता है।[6]

यहूदी धर्म में ईश्वर विश्व की नैतिक व्यवस्था का शासक और सर्वोच्च अधिकारी के रूप में मान्य है, परन्तु ईसाई धर्म में वही ईश्वर प्रेम स्वरूप पिता के रूप में है और वह अपने आराधकों से प्रेम चाहता है तथा प्रतिदान में प्रेम दान करने वाला है।[7] ईसाई धर्म का ईश्वर केवल न्यायी, पवित्र एव शक्तिमान ही नहीं है, बल्कि वह दयावान एवं क्षमाशील भी है। सन्त जॉन ने ठीक ही कहा कि मूषा ने नियमों को दिया परन्तु क्राइस्ट ने सत्य और कृपा को स्थान दिया।[8] ईश्वर सम्बन्धी ऐसी विचार धारा

---

1 वही- 1/14
2 योहन फाइस- ईसाई दर्शन-इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ- 37
3 इब्रानियों के नाम पत्र- 1—1—2
4 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धमदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 74
5 वही पृष्ठ- 74
6 वही पृष्ठ- 75
7 डॉ० हृदयनारायण मिश्र- विश्व धर्म, पृष्ठ- 102
8 वही पृष्ठ- 102

ने ईसा के धर्म को यहूदी धर्म से श्रेष्ट बना दिया । यहूदी के पैगम्बरों को दैवी प्रकाशन केवल इतना ही हुआ कि ईश्वर एक है (एकतत्व वाद को मानते हैं)। परन्तु ईसा को केवल इतना ही दैवीय प्रकाशन नहीं हुआ बल्कि उनको यह भी अनुभूति हुई कि वह एकमात्र परमसत्ता अपरिमित रूप में प्रेमस्वरूप है। ईसाईयो के अनुसार ईश्वर मानव के प्रति इतना सहानुभूति रखता है कि वह उसके सम्पूर्ण बालों तक की सख्या जानता है।[1] ईसा ने बतलाया है कि जब ईश्वर फूल-पत्तियों को सुन्दर बना सकता है और गौरेये तक की खोज-खबर रखता है तो वह क्यों अपने लोगों की सुधि न लेखा?[2] इसलिए मानव का भी कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम ईश्वर और ईश्वर के राज्य की खोज करे। प्राचीन धर्म में कुछ ही स्थलों पर ईश्वर को पिता के रूप में सम्बोन्धित किया गया है, उसमे तो ईश्वर केवल स्वर्ग और पृथ्वी का राजा है, परन्तु ईसाई धर्म में आकार वही ईश्वर क्षमाशील पिता का रूप धारण कर लेता है। वह अपने सन्तानों के पापो को सदैव क्षमा करने के लिए तैयार रहता है। यहूदी धर्म मे ईश्वर-प्रेम से बढकर 'ईश्वर के नियमों से प्रेम' को स्थान दिया गया है। ईश्वर मालिक है और पैगम्बर तथा इजराइल को दास के रूप मे कहा गया है। ईसा मसीह ईश्वर के पुत्र के रूप मे है और मानव मात्र दास के स्थान पर ईश्वर की सन्तान हैं। यहूदी धर्म की तुलना में ईश्वर को करूणामय परमपिता कहा गया है। ईश्वर न्यायी अवश्य है, पर वह विशेषतया प्रेम है और नहीं चाहता कि पापी अपने पाप में पडा रहे। ईश्वर के प्रेम का सबसे बडा प्रमाण यही है कि ईश्वर ने अपने प्यारे पुत्र को जगत में भेजा ताकि उसके बलिदान से सभी पापी उद्धार पाये।[3] ईश्वर को प्यार करना है तो ईश्वर की सतान को प्यार करो। इस प्रकार ईसाई धर्म में पितृत्व तथा बन्धुत्व को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। योहन में कहा गया है- 'ईश्वर ने जगत से ऐसा प्यार किया कि उसने अपना इकलौता पुत्र दिया, ताकि जो कोई उस पर विश्वास करे सो मृत्युदण्ड का भागी न हो, वरन् अनन्त जीवन प्राप्त करे।"[4]

यहदूी धर्म से भिन्न ईसा मसीह ईश्वर की धारणा में एक नवीन धारणा प्रस्तुत करते हैं, वह है सर्वव्यापी ईश्वर की। ईश्वर केवल विशेष पर्वत की चोटी पर रहने वाला या केवल येरूशलम के मदिर में रहने वाला नहीं, बल्कि वह मनुष्य के अत्यन्त निकट भी है और सर्वत्र वर्तमान भी है। ईश्वर आत्मरूप है, और जो ईश्वर की पूजा करते हैं वे अवश्य ही उसकी पूजा आत्मा में करेंगें। ईश्वर सम्बन्धी ऐसी धारणा को ईसा मसीह के व्यक्तिगत धार्मिक जीवन में देखा जा सकता है। ईश्वर सानिध का अनुभव उनकी साधना में मिलता है, जबकि वे एकान्त में ध्यान की अवस्था मे साधनारत होते थे। यहूदी धर्म मे कहा गया है- यहोवा ईश्वरों का परमेश्वर और प्रभुओं का प्रभु है, वह महान पराक्रमी और भययोग्य ईश्वर है।[5] ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसी धारणा क्राइस्ट को स्वीकार नहीं है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें भली या बुरी सभी वस्तुओं पर एक समान रूप से पडती हैं, और उन्हें सूखा देती हैं, उसी प्रकार ईश्वर की कृपा भले, बुरे, पापी और पुण्यवान सभी के लिए समान रूप

---

1 लूक- 12/7
2 लूक- 12/27–29, मत्ती-30
3 डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ-165
4 योहन- 3/16
5 व्यवस्था विवरण- 10/17

से होती है।[1] ईश्वर भययोग्य नहीं प्यार योग्य है। भय वाह्य वस्तुओं से होती हैं, ईश्वर आन्तरिक शक्ति है, अन्तरात्मा है। जीवन से अलग नहीं है। अत जैसे हम अपने निकट रहने वाली वस्तुओं या अपने शरीर से प्यार करते हैं, वैसे ही ईश्वर से प्यार किया जाता है न कि भय। ईश्वर को चरित्रवान और पुण्यकर्म करने वाले पुत्र से प्रेम तो है ही, परन्तु उससे भी बढ़कर उस कुकर्मी पुत्र से प्रेम है जो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को नष्ट करके कगाल हो जाता है, परन्तु पुन. पिता के पास लौट आता है। पिता बिछुड़े हुए पुत्र से मिलकर प्रसन्न होता है।[2] ईसा मसीह की यह नीति ईश्वर को भययोग्य नहीं सिद्ध करती। अत निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म के नैतिक एकतत्ववाद को जीसस क्राइस्ट ने एक नवीन आयाम दिया। ईश्वर की धारणा ईसाई धर्म मे आकर अत्यधिक वैयक्तिक एवं अत्यधिक सार्वभौमिक बन गयी। प्रेम ईश्वर का प्रमुख गुण है। इसके पहले ईश्वर के विषय में ऐसी धारणा नहीं थी।[3]

ईश्वर के गुण

ईसाई धर्म में ईश्वर की अवधारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ईसाई धर्म में ईश्वर को उन समस्त अच्छे गुणों से विभूषित किया गया है जो मानव जाति के उद्धार के लिए अत्यावश्यक है। ईसाई धर्म का ईश्वर निम्नलिखित गुणों से विभूषित है:-

1- ईश्वर एक तथा सर्वशक्ति सम्पन्न है- ईसाई धर्म एकेश्वरवादी धर्म है। इस धर्म में एक ही ईश्वर को परम सत्ता के रूप में माना गया है। ईश्वर के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता नहीं है जो परम पवित्र अनन्त पूर्ण तथा कल्याण स्वरूप है।

ईसाई धर्म भी अन्य धर्मों के समान ईश्वर को सर्वशक्तिमान बतलाया है। विश्व में जो कुछ भी है, सब उसकी रचना है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे तथा पवन उसी के संकेत पर अपने-अपने कार्यों को सम्पादित करते हैं। सृष्टि में जो कुछ भी होता है सब कुछ उसी की इच्छा से होता है। वह सृष्टि का संचालक है तथा सबकुछ करने में सक्षम है।

2- ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है- ईसाई धर्म में ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है, परन्तु उसका व्यक्तित्व असाधारण या विशेष है। उसका व्यक्तित्व पूर्ण है। उसमें किसी प्रकार की अपूर्णता या अभाव नहीं है। वह चरम सत्ता सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ है। उसमें अनन्त ज्ञान,करूणा और सभी प्रकार के ऐश्वर्य हैं। ईसा ने कहा है - "संसार में किसी को पिता न कह क्योंकि तुम्हारा एक ही पिता है जो स्वर्ग में रहता है।"[4] यहॉ पर ईसाई धर्म का ईश्वर सम्बन्धी विचार शंकर और ब्रेडले के ईश्वर सम्बन्धी विचारों से भिन्न है। शकर और ब्रेडले दोनों ही परम सत्ता को निर्गुण तथा व्यक्तित्वहीन मानते हैं किन्तु ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है।

---

1 मत्ती- 5/45

2 लूक- 15/11-32

3 इ० गैरेट वैक्स तथा अन्य-एक्सपीरियन्स रीजन ऐण्ड फेथ, पृष्ठ- 183

4 मैथ्यू- 23/7/11

3- ईश्वर करूणामय, प्रेममय और क्षमाशील है- ईसाई धर्म का ईश्वर परम शुभ है। इस धर्म में ईश्वर और मानव के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। जिस प्रकार पिता सदैव अपनी सन्तानों के कल्याण का ध्यान रखता है, उसी प्रकार ईश्वर भी प्राणियों के प्रति कल्याण की भावना रखता है। वह कभी भी नहीं चाहता है कि जीव का अहित हो।

ईसाई धर्म में ईश्वर को प्रेममय भी माना गया है। इसीलिए कहा गया है - "The God of Christianity is God of Love" ईश्वर अपने उपासकों से प्रेम की माग करता है तथा उनमे अनुराग प्रदान करता है। सृष्टि के सभी जीव उसकी प्यारी सतान है। वह सबका पिता है। जिस प्रकार एक पिता अपनी सन्तान से प्रेम करता है, उसी प्रकार ईश्वर जीवमात्र से प्रेम करता है। यहूदी धर्म में ईश्वर को प्रेममय नहीं बतलाया गया है। ईश्वर को वहॉ महान पराक्रमी तथा भययोग्य बतलाया गया है। इस धर्म में कहा गया है- ''यहोवा ईश्वरों का परमेश्वर और प्रभुओं का प्रभु है। वह महान पराक्रमी तथा भय योग्य ईश्वर है।[1] ईसाई धर्म का ईश्वर अपने भक्तों से प्रेम प्राप्त करना चाहता है तथा उनको अपने प्रेमामृत का रसास्वादन कराना चाहता है। वह प्राणियों के प्रति सदैव स्नेहमय रहता है। यहॉ पर यह कह देना आवश्यक होगा कि ईसाई धर्म में ईश्वर का प्रेम सार्वभौम नहीं है। दूसरे शब्दों में ईश्वर सभी व्यक्तियो को प्यार नहीं करते हैं। वह उन व्यक्तियों को प्यार नहीं करता है जो अशुभ तथा अविश्वासी हैं। न्यू टेस्टामेन्ट में ईश्वर के क्रोध तथा उनके न्यायपूर्ण निर्णय पर जोर दिया गया है।[2] ईश्वर उस व्यक्ति को प्यार करता है जो शुभ हैं तथा ईश्वर के प्रति आस्था रखते हैं। ईश्वर उन व्यक्तियों के प्रति भी प्रेम दर्शाता है जो अपने पडोसी के प्रति निःस्वार्थ प्रेम का भाव रखते हैं। ईसाई धर्म में पड़ोसी उसे कहा गया है जो सहायता की आवश्यकता महसूस करता है। ईश्वर को प्रेममय मानना ईसा मसीह की व्यक्तिगत देन है।

ईसाई धर्म की निजी विशेषता ईश्वर को क्षमाशील मानना कहा जा सकता है। यहाँ पर ईसाई धर्म का ईश्वर हिन्दू धर्म के ईश्वर के समान क्षमाशील है। वह जीवों की, पापियों की गल्तियों को क्षमा कर देता है। वह पापियों का उद्धारक है। बड़ा से बड़ा अपराधी व्यक्ति भी यदि उसकी शरण में जाकर क्षमा याचना करते हैं, तो ईश्वर उन्हें क्षमा प्रदान कर देता है। जिस प्रकार खाने-पीने तथा मौज उड़ाने वाले पुत्र को एक पिता क्षमा कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी व्यक्तियों के दोषों को क्षमा करता है। ईसामसीह स्वय मरते समय अपने शत्रुओं के प्रति क्षमाशील थे। ईसा ने शूली पर चढ़ते समय शान्त भाव से कहा- 'भगवान इन्हें क्षमा करना, ये विचारे नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।' ईसा की यह वाणी विश्व इतिहास में अपूर्व है।[3]

---

1 व्यवस्था विवरण- 10/17

2 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धमदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 75

3 लूक- 23/34

(4) ईश्वर विश्व का नैतिक शासक हे- हिन्दू धर्म के समान ईसाई धर्म मे भी ईश्वर को विश्व का नैतिक शासक माना गया है। ईश्वर नैतिक नियमो से ही विश्व का सचालन करता है। मनुष्य के कार्यो का शुभ-अशुभ निर्णय वही करता हे, अत उसे निर्णायक भी कहते है। उसे पृथ्वी और स्वर्ग का स्वामी माना गया है।[1] ईश्वर न्यायी तथा परोपकारी है। उसके कृपा के बिना मानव पाप से मुक्ति नही प्राप्त कर सकता है। इसलिए उसे मानव का उद्धार कर्ता, सत्राता माना गया है। यहाँ पर यहूदी और ईसाई धर्म मे अन्तर हे। यहूदी धर्म मे भी ईश्वर को एक माना गया है। ईश्वर ही नैतिक शासक हे, परन्तु उसका शासन कठोर नियमो पर आधारित है। दण्ड और पुरस्कार का विधान नियमानुकूल है। ईसाई धर्म का ईश्वर नैतिक शासक तो हे, परन्तु दया और क्षमा से ओत-प्रोत है। दया और क्षमा का महत्व नियमो से अधिक है।[2]

(5) ईश्वर विश्वव्यापी तथा विश्वातीत दोनो है- ईसाई धर्म का ईश्वर विश्व मे व्याप्त रहते हुए भी वह उससे परे है। ईश्वर की सम्पूर्ण शक्ति सृष्टि रचना मे ही समाप्त नही हो जाती, सृष्टि सचालन के बाद भी उसकी शक्ति शेष रह जाती हे। इसलिए वह इस सृष्टि से परे हो जाता है। अत ईसाई धर्म मे ईश्वर की सत्ता विश्व मे व्याप्त तथा विश्वातीत भी है।[3] विश्व मे व्याप्त होने के कारण वह मानवता का ईश्वर माना जाता है, परन्तु वह विश्वातीत स्वर्ग का स्वामी भी है।

(6) ईश्वर पिता तुल्य है- हिन्दू धर्म मे ईश्वर को स्वामी, सखा, पिता, पुत्र आदि विविध रूपो मे कल्पित किया गया है। इस्लाम धर्म मे ईश्वर और मानव के बीच स्वामी और दास का सम्बन्ध है किन्तु ईसाई धर्म मे ईश्वर और जीव के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध बतलाया गया है। इस प्रकार ईसाई धर्म का ईश्वर इस्लाम धर्म के ईश्वर से अत्यधिक उदार है क्यो कि दास स्वामी के सामने भयभीत होकर जाता है तथा अपनी मनोभावनाओ को उसके सामने प्रकट करने मे सकोच करता है, किन्तु पुत्र, पिता के समीप जाकर अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त करने मे जरा भी सकोच नही करता है। अत. हम देखते है कि ईसाई धर्म मे ईश्वर एवं मानव के बीच सम्बन्ध उदारता पर आधारित है, जिसके फलस्वरूप ईसाई धर्म भ्रातृत्व भाव को विकसित करने मे सफल हुआ है। किसी व्यक्ति की संतान को प्यार करने से वह व्यक्ति प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्यो के बीच प्रेम प्रकाशित करने से सबका पिता परमात्मा प्रसन्न हो जाता है। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए मानवमात्र से प्रेम करना अनिवार्य है। मानव के प्रति अनुराग रखना या ईश्वर के प्रति अनुराग रखना दोनो बाते एक ही है।

(7) ईश्वर दुर्बलों एवं पीड़ितो का संरक्षक है- ईसाई धर्म का ईश्वर पीडितो,दुर्बलो एवं दलितो का सरक्षक एव सहारा है। वह अनाथो तथा गरीबो का दु.ख दूर करता है। उसको दु:खित व्यक्ति सर्वाधिक प्रिय है। दुर्बल तथा पतित स्त्रियो के प्रति ईश्वर विशेष रूप से करुणाशील रहता है। ओल्ड टेस्टामेण्ट मे ईश्वर की दयालुता का जगह-जगह पर वर्णन किया गया है। कहा गया है-ईश्वर गरीबो और दुर्बलो का दु ख दूर करता है। इस प्रकार ईसाई धर्म का ईश्वर पददलितो, पीडितो एव गरीबो का उद्धारक है।

---

1 डॉ० बी० एन० सिह- विश्व धर्म दर्शन की समस्यायें, पृष्ठ- 164

2 वही, पृष्ठ - 164

3 वही, पृष्ठ - 164

ईश्वर के गुणो की व्याख्या हो जाने के पश्चात् स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य ईश्वर के गुणो का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करता है? ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर स्वय मनुष्य के रूप मे प्रकट होता है परन्तु मनुष्य अपनी शक्ति मे न तो ईश्वर के समीप पहुँच सकता है और न ही उसमे तादात्म्य हासिल कर सकता है। हिन्दू धर्म मे मनुष्य अपने प्रयासो मे सत्य को अगीकार कर सकता है। बुद्ध ने भी स्वय मनुष्य होकर सत्य का अनुभव किया और तब उसके स्वरूप को जनता को बतलाया, परन्तु ईसाई धर्म मे मनुष्य एव ईश्वर के बीच एक खाई नजर आती है। रहस्यवाद के अनुसार मानव ईश्वरमय हो सकता है। ईसाई धर्म रहस्यवादी विचारधारा का विरोध करती है।[1] और अन्त मे कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या मानव प्रयास करने पर भी ईश्वर नही हो सकता है? ईसाई धर्म स्पष्ट शब्दो मे कहता है कि मानव ईश्वर नही हो सकता। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर और मानव मे मौलिक भेद है। मानव अपने प्रयासो के बावजूद ईश्वर मे एकाकार नही हो सकता। ईश्वर स्रष्टा है और मानव सृष्टि है। दोनो मे पूर्णता और अपूर्णता का मौलिक भेद है। अपूर्ण पूर्ण नही हो सकता है। मानव जन्म से अपूर्ण है। अशुभ और पाप जन्म से उसके साथ लगे हे। ईश्वर स्वभावत. शुभ और निष्पाप है। मनुष्य का पाप करना स्वभाव है। ईश्वर उसके पापो को क्षमा करता है। ईश्वर पिता है तो मनुष्य पुत्र है। दोनों मे भेद कभी समाप्त नहीं हो सकता है। मानव ईश्वर द्वारा बतलाये गये पथ पर चल सकता है परन्तु ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता है। ईश्वर के गुण अलौकिक है और मानव के लौकिक। अत इन दोनो के भेद रहेगे ही।

त्रिमूर्ति की अवधारणा या त्र्येक परमेश्वर

ईसाई धर्म एकेश्वरवादी है, क्योकि इसके अनुसार परमेश्वर एक है। परन्तु परमेश्वर एक होते हुए भी उसके स्वरूप अनेक है। परमेश्वर के तीन प्रमुख रूप है-जिन्हे ईश्वर का त्रिक रूप कहते है। ये रूप है-परमपिता परमेश्वर, भगवान का इकलौता पुत्र प्रभु ईसा, तथा उनकी पवित्रात्मा। (God the father, God The son and God The holy spirit)। इसे ही ईश्वर की त्रिमूर्ति की अवधारणा कहते है। त्रिमूर्ति की विशेषता यह है कि परमेश्वर एक है, परन्तु वह मनुष्य के सामने तीन रूपो मे अभिव्यक्त होता है।[2] ये तीन रूप उसकी तीन प्रकार की शक्तियां है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म मे ईश्वर को एक माना गया है, परन्तु ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप को उसकी तीन शक्तिया भी स्वीकार की गयी है। ब्रह्मा रूप से वह सृष्टि का जनक है, विष्णु रूप से पालक और शिवरूप से सहारक है। एक ईश्वर ही विविध या त्रिविध शक्तियो से सम्पन्न है। ईसाई धर्म मे ईश्वर के विविध या त्रिविध रूप के उदाहरण ईसा मसीह है। नि.सन्देह ईसा मसीह ईश्वर है। वे सम्पूर्ण ससार को पुत्रवत प्यार करते है, वे दयासागर और क्षमाधाम है। ये ईश्वर के ही गुण हो सकते है। परन्तु स्वय ईसा अपने को ईश्वर का पुत्र कहते थे। ईश्वर को अपने से महान मानते थे तथा कहते थे कि उनके माध्यम से ही ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है। उनकी वाणी परमपिता परमेश्वर की वाणी है। अतः वे पुत्र भी है। इसके अतिरिक्त जीव या आत्मा के रूप मे उन्हे अविनाशी भी स्वीकार किया गया

---

1 चार्ल्स मूर का लेख- क्रिसचिनिटी ऐज लिविंग रिलिजन ऑफ दी वर्ल्ड (1950)

2 डॉ० बी० एन० सिह- विश्व धर्म दर्शन की समस्यायें, पृष्ठ- 163

है। उनकी सत्ता उनके जन्म के पूर्व और उनकी मृत्यु के पश्चात् भी स्वीकार किया जाता है। उनका जन्म कुमारी माता से हुआ था तथा मृत्यु के पश्चात् उनकी आत्मा ईश्वर को समर्पित हो गयी। अत उनका स्वरूप नित्य है। इस प्रकार ईसा स्वय पुत्र के रूप मे, ईश्वर पिता के रूप मे तथा उनकी अविनाशी आत्मा मे ईश्वर के त्रिविध रूप विद्यमान है।

(1) परमपिता परमात्मा- ईसाई लोगो की मान्यता हे कि परमेश्वर एक है। वह सबका सृजनहार तथा सर्वशक्ति सम्पन्न है। सृष्टि मे जो कुछ दिखलाई पडता है, सब उसी की रचना है। वह सबका पालक और रक्षक है। वह सर्वज्ञ है। वह बाहर-भीतर दूर, समीप, भूत, वर्तमान तथा भविष्य की बातो को जानता है। वह अन्तर्यामी है। वह बिना कहे हुए मनुष्यो के हृदय की बातो को जान जाता है तथा उनके मनोरथो को पूरा करता है। उससे कुछ भी छिपा नही है। वह सर्वव्यापी है। वह सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त है। उसी का प्रकाश इस सृष्टि मे फैला हुआ है। वह परम पवित्र है। वह इतना पवित्र है कि सृष्टि के पापियो के पाप को धोने के बाद भी उसकी पवित्रता मे कोई कमी नही आती। उसका ध्यान करने से मन की मलिनता तथा जन्म-जन्मान्तरो के दोष दूर हो जाते है। वह परम स्थिर है। कभी उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है। उसका स्मरण करने मात्र से चित्त का चाञ्चल्य मिट जाता है। मन परम् शान्त हो जाता है।

वह परमकरुणामय, परम प्रेममय तथा परमक्षमाशील है। दु ख से पीडित मनुष्यो के हृदय को वह अपने स्नेहजल से सीचता हे, तथा उनके सभी प्रकार के अपराधो को क्षमा कर देना ही परमात्मा की महानता का लक्षण हे।

वह परमकल्याणमय है।वह परमशुभ है। सृष्टि मे जहॉ कही भी यत्किंचित शुभ दिखलाई पड़ता है उसी का अश है। वह प्राणियो का परमशुभचिन्तक है। वह अनन्त है। वह पूर्ण है। वह निर्विकार है। उसका प्रेममय रूप आकर्षण का केन्द्र है। तथा उसका पिता रूप मानव मात्र मे भ्रातृत्व भाव को स्थापित करने वाला है। जब हम जान जाते हैं कि हम सब एक ही परमपिता की सन्तान है तो हममे भाई-चारे का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

सम्पूर्ण सृष्टि का सचालन परमात्मा के द्वारा बनाये गये नियमो के अनुसार होता है। उसके अस्तित्व का बोध अनुभव और अन्तर्बोध से होता है। वह विश्व एव स्वर्ग का स्वामी है।

(2) प्रभु ईसा- बाइबिल मे ईसा ने अपने को ईश्वर का पुत्र कहा है। उन्होने कभी भी अपने को ईश्वर नहीं कहा। वे ईश्वरीय शक्ति को प्रकट करने के माध्यम थे। इसलिए उनके द्वारा कभी-कभी आश्चर्य चकित करने वाला कार्य अपने आप हो जाते थे। जैसे- मृतक शरीर को जीवित कर देना, कुछ ही पत्तो से हजारो मनुष्यो को भोजन करा देना, गूंगे को वाक्शक्ति, बहरे को श्रवणशक्ति, अधे को दृष्टिशक्ति तथा पगु को चलने की शक्ति देना इत्यादि उनके अद्भुत कार्य थे। इस प्रकार के विस्मय मे डालने वाले कार्यो के ईश्वर स्रोत थे। वे ईश्वर की साक्षात् मूर्ति थे। मसीह ने कहा जिसने मुझे देखा है उसने ईश्वर को देखा है। अथार्त् ईश्वर तो अगोचर साकार छवि थे। ईश्वर ने मानवता के उद्धार के लिए अपने आपको ईसा के रूप मे प्रकट किया था। वे स्वय ईश्वर थे। उन्होने अपने को ईश्वर का पुत्र घोषित किया। यह उनकी नम्रता का ज्वलन्त उदाहरण है। उन्होंने जन्म लेकर मानव तथा ईश्वर के बीच मे कडी का काम किया। उन्होने मानव रूप धारण कर ईश्वरीय संदेश को मनुष्यो तक पहुँचाया।

वे मार्ग प्रदर्शक थे। प्रभु तक पहुँचने के लिए मनुष्यो को रास्ता बतलाने के लिए वे आये हुए थे। वे मत्य के उद्घाटक थे। अज्ञानान्धकार मे लोग जो सत्य को भूल गये थे, उनके बीच उन्होने उसका उद्घाटन किया। अन्धविश्वास का खण्डन करने तथा सही मार्ग दिखलाने के लिए वे दुनियॉ मे आये हुए थे।

ईसा ने बतलाया कि ईश्वर ही परम् सत्य हे। उसका सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही जीवन मे अमरत्व की प्राप्ति हे। पाप की गुलामी से छूटने का एकमात्र उपाय ईश्वर को जानना हे।

उन्होने लोगो को सयम, तपश्चर्या, त्याग, सेवा तथा ईश्वर समर्पण की प्रेरणा दी। उन्होने सोये हुए लोगो को ईश्वरीय सदेश सुनाकर जगाने का प्रयास किया। किन्तु हमारे मानव, अमृत रस पिलाने वाले को सूली पर चढाकर सन्तोष की सॉस ली। शरीर तो नश्वर है। कीर्ति अमर है। ईसा मर कर भी अमर है।

(3) **पवित्रात्मा-** ईसाई लोग मानते है कि विश्व मे एक दैवी आत्मा है, जो सर्वत्र व्याप्त है। यह ईश्वर की शक्ति है। जब तक इसकी कृपा नही होती है, तब तक मनुष्य ईश्वरीय राज्य मे प्रवेश नही कर सकता है। पवित्रात्मा ही मानव मे प्रेम, आनन्द, श्रद्धा, विश्वास इत्यादि अच्छे गुणो को विकसित करती है जिसके फलस्वरूप मनुष्य भगवान के चरण-कमलो तक पहुंचने का अधिकारी होता है। यह मनुष्य के जन्म जन्मान्तरो के पापो को धो डालती है। जिससे उसका चित्त विशुद्ध हो जाता है। यह मनुष्य को जगाती है। उसको प्रभु के साम्राज्य मे पहुँचने के लिए प्रेरित करती है।

पवित्रात्मा ईश्वर की कृपाशक्ति हे। इसी के माध्यम से मनुष्य प्रभु के प्रेम रसास्वादन का अधिकारी होता है। अत यह प्रभु की प्रेरणा तथा उसकी शक्ति है।

जिस प्रकार हिन्दू धर्म मे एक ही परमेश्वर की सत्, चित् तथा आनन्द की धारणा है, उसी प्रकार ईसाई धर्म मे सत् ईश्वर है चेतना पुत्र (ईसा) है तथा आनन्द पवित्रात्मा है। सृजन, पालन तथा संहार एक ही शक्ति के रूप हैं। जिनके अधिष्ठाता देव क्रमश. ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश है। तीनो एक ही शक्ति के तीन अभिव्यक्त रूप हैं। ईसाई धर्म मे भी हिन्दू धर्म के समान ईश्वर, पुत्र तथा आत्मा एक ही परमात्मा की तीन शक्तियॉ है। ऐसे ईसाई धर्म मे अनेकेश्वरवाद की झलक मिलती है, किन्तु वस्तुत· तीन ईश्वर नही है। ईश्वर एक है। ईसा ईश्वर के पैगम्बर है जिन्होने प्रभु की प्राप्ति के लिए मध्यस्थ का काम किया तथा पवित्रात्मा ईश्वर की शक्ति है जो ईश्वर से निकलकर सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त है। अतः परमेश्वरत्रय नहीं है, एक है।

ईश राज्य- एक अवधारणा

ईसा मसीह के धर्मोपदेश का मुख्य विषय होता था- ईशराज्य की घोषणा। वास्तव मे मनुष्यो के बीच उनका आगमन इस राज्य को उद्घाटित करता था। ईसा मसीह की उक्ति है- 'ईश्वर का राज्य तुम्हारे ही बीच है।[1] अर्थात् मै ही आप लोगो के लिए मुक्ति लेकर आया हूँ। इस तरह ईसा मसीह ही ईश-राज्य हैं, जो मानव जाति की परमेश्वर से एकता स्थापित करते हैं। ईश राज्य अर्थात् ईश्वर राज्य के बदले सन्त मत्ती उसे स्वर्ग का राज्य भी कहते है। उनके इस कथन मे स्वर्ग ईश्वर का बोधक

1. लूकस- 17/21

हे जो ईश-राज्य की प्रकृति के विरोधाभाषी लगती है। अदृश्य होते हुए भी यह एक प्रभावशाली तथ्य है- वह उस खमीर के सदृश है जिसे किसी स्त्री ने तीन पसेरी आटा मे मिलाया और सारा आटा खमीर हो गया।[1] फिर प्रारम्भ मे छोटा होते हुए भी बाद मे उसका बहुत विस्तार मिलता हे-स्वर्ग का राज्य राई के दाने के सदृश है।यह सब चीजो से छोटा है, परन्तु बढकर सब पौधो से बडा हो जाता हे।[2] वास्तव मे ईश राज्य का विस्तार सार्वभौम ही होगा। यहूदियो मे प्रचलित धारणा के विपरीत ईसा का कहना है कि इस राज्य मे सब जातियॉ प्रवेश करेगी। ईसा का सदेश अस्वीकृत करने के फल स्वरूप पूर्वार्ध की चयनित प्रजा स्वय ही वहिष्कृत हो जायेगी। ईसा मसीह का कथन है- 'मै तुमसे कहता हूँ- बहुत से लोग पूर्व और पश्चिम से आकर स्वर्ग राज्य मे सम्मिलित होगे परन्तु राज्य की प्रजा को बाहर अन्धकार मे फेक दिया जायेगा।[3]

यहूदियो के उदाहरण से स्पष्ट हे कि जन्म या जाति के आधार पर किसी को ईश राज्य की सदस्यता नही मिलती है। अब यहॉ एक प्रश्न महत्वपूर्ण यह हो जाता है कि ईश राज्य मे प्रवेश की कौन-कौन सी शर्ते है? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि इसकी प्राप्ति के लिए हमे अपना सबकुछ समर्पित कर देना चाहिए। जैसे-एक बहुमूल्य मोती को प्राप्त करने के लिए कोई व्यापारी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति बेचने को तैयार हो जाता है।[4] दीन हीन बन जाने की आवश्यकता भी है। ईसा मसीह का कहना है कि- यदि तुम छोटे बालको जैसे नही बन जाओगे तो स्वर्ग के राज्य मे प्रवेश नही करोगे।[5] ईश राज्य मे सम्मिलित होने के शर्तो का सबसे प्रसिद्ध वर्णन पर्वतप्रवचन की भूमिका के अष्टशील मे मिलता है।[6] इसमे ईसा उन्ही को धन्य कहते हे जो ईश राज्य मे प्रवेश करने योग्य है- उनके शब्द है- 'धन्य है वे, जो अपने को दीन-हीन समझते है। स्वर्ग का राज्य उन्ही का है। धन्य है वे जो नम्र है-उन्ही को प्रतिज्ञात देश प्राप्त होगा।[7] ईश राज्य का यह स्वरूप बाइबिल सम्मत है। इस आदर्श को मूर्त्त रूप देने के लिए ईसा ने एक धर्म मण्डल का गठन किया जिसका नाम कलीसिया या ईसाई धर्म मण्डल है।

कलीसिया या ईसाई धर्म-मण्डल

अपने जीवन काल मे ईसा अपने शिष्यो मे से बारह चेलो को चुनकर उन्हे विशेष रूप से धर्म शिक्षा दिया करते थे। इस दल के आधार पर ईसा ने अपने धर्म मण्डल के गठन का निर्णय किया। इस दृष्टिकोण से बारह की संख्या प्रतीकात्मक थी। पूर्व विधान की प्रजा के समान, जिनमे बारह वश शामिल थे, बारह आदि चेलो पर निर्मित धर्म-मण्डल नव विधान की ईश प्रजा माना जा सकता था। ईसा ने अपना उद्देश्य इसी प्रकार प्रकट किया। पेत्रुश नामक आदि चेलो के प्रधान से उन्होने यह प्रतिज्ञा

1 मत्ती - 13/33
2 मत्ती - 13/31—32
3 मत्ती - 8/11—12
4 मत्ती - 13/45—46
5 मत्ती - 18/3
6. योहन फाइस- ईसाई दर्शन इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ - 51
7 मत्ती - 53/4

की कि-'तुम पेत्रुश अर्थात् चट्टान हो और इस चट्टान पर मै अपनी कलीसिया बनाऊँगा।[1] ऐसा कहकर उन्होने 'पेत्रुश' के मौलिक अर्थ की ओर सकेत किया।

'कलीसिया' यूनानी शब्द 'एक्लेसिया' का रूपान्तरण है जो स्वय इब्रानी 'कहल' शब्द का अनुवाद है जिसका अर्थ है-'ईसा भक्तो का समुदाय। व्यक्त रूप से कलीसिया की स्थापना पुनरुत्थान के पश्चात् ही हुई। यह इस प्रकार हुआ। पचशती महोत्सव के अवसर पर आदि चेलो ने ईश आत्मा के साक्षात् दर्शन किये थे। इसके प्रभाव से उन्हे साहस पूर्वक धर्म प्रचार करने की प्रेरणा मिली।[2] इसके अनुसार वे 'प्रेरित' कहलाने लगे जिसका यूनानी मे अर्थ है-'अपोस्तोलोस' अर्थात् सदेश वाहक या दूत।

पहली शताब्दी ई० मे ही प्रेरितो का धर्म प्रचार न केवल फिलीस्तीन मे बल्कि पश्चिम एशिया और ग्रीस तथा साम्राज्य की राजधानी रोमनगर तक फैल गया था।

यहूदियो के बीच उत्पन्न होने पर भी ईसाई कलीसिया यहूदी जाति तक सीमित नही रही। इसमे गैर यहूदी जातियाँ भी शामिल हुई। 'पेत्रुश' ने स्वय ही 'कोर्नेलियूस' नामक एक रोमन सेनापति को दीक्षा दी।[3] सन्त पौलुस यूनानी ओर अन्य जातियो के बीच मे महान धर्म प्रचारक हुए। अपने पत्रो मे वह सब जातियो और वर्णो की ईसामसीह मे एकता घोषित करते है। 'अब न तो कोई यहूदी है और न यूनानी। न तो कोई गुलाम है और न स्वतन्त्र . . .ईसा मसीह मे सब एक हो गये है।[4] वास्तव मे एकता ईसा भक्तो का स्वलक्षण ही था। आदिसघ के विषय मे यह लिखा हुआ है कि-विश्वासियो का समुदाय एक हृदय और एक प्राण था।[5] यहाँ तक कि समुदाय की धन सम्पत्ति मे भी सदस्यो का साझा होता था। वे तो अपनी चल-अचल सम्पत्ति तक को बेचकर प्राप्त धन को हर एक की जरूरत के अनुसार बाँटा करते थे। इसके फलस्वरूप उनमे कोई कगाल नही था।[6]

नव दीक्षित भक्त स्नान सस्कार प्राप्त कर कलीसिया मे समाविष्ट किये जाने लगे। आदि चेले सार्वभौम धर्म प्रचार अपने गुरु की आज्ञा ही मानते थे क्योंकि उन्होने उनसे कहा था कि- तुम लोग जाकर सभी राष्ट्रो के लोगो को शिष्य बनाओ और उन्हे पिता-पुत्र और पवित्र आत्मा के नाम पर बपतिस्मा दो।[7] बपतिस्मा यूनानी शब्द है जिसका अर्थ है-'पानी मे डुबाना', स्नान सस्कार की पुरानी विधि के अनुसार। आज तक आदि चेलों मे प्रीतिभोज का एक दूसरा व्यवहार भी प्रचलित है, जिसे यूनानी मे "युखारिस्त" अर्थात् धन्यवाद ज्ञापन का यज्ञ कहते हैं। अपने दु:ख भोग के पहले ईसा ने आदि चेलो के साथ अतिम भोजन किया था। उसी की स्मृति में शताब्दियो तक ईसा-भक्त-प्रीतिभोज स्वरूप बलिदान मनाया करते हैं। प्रारम्भिक कलीसिया की एक और बिलक्षणता है, अर्थात् प्रधान के नेतृत्व में प्रेरितो का अधिकार। आज तक उनके उत्तराधिकारियों का शासन बना

---

1 मत्ती- 16 / 18

2 प्रेरित चरित - 2 / 1–13

3 प्रेरित चरित, अध्याय- 10

4 गलातियो के नाम पत्र - 3 / 28

5 प्रेरित चरित - 4 / 32

6 प्रेरित चरित - 2 / 44–45, 4 / 32–35

7 मत्ती - 28 / 19

रहा है। वाह्य ढॉचे के इन अवयवों से बढ़कर ईसामसीह से कलीसिया की एकता महत्व की है। दाखलता के दृष्टात से ईसा ने अपने आप से चेलो का सयोग अच्छी तरह से अभिव्यक्त किया है- "मै दाखलता हूँ और तुम डालिया हो। जो मुझमे रहता है, और मै जिसमे रहता हूँ, वही बहुत फलता है।[1] पूर्वविधान की उपर्युक्त तुलना के अनुसार संत पौलुस ईसामसीह का कलीसिया से सम्बन्ध पति पत्नी के रूप मे प्रस्तुत करते है।[2] कलीसिया तो नवविधान की चयनित प्रजा मानी जाती है। पूर्व विधान की प्रजा के समान वह परमेश्वर की प्रियतमा प्रतीत होती है।[3] यहूदी जाति के विपरीत वह सब जातियो को माता के सदृश अपनी गोद मे लेती है। सत पौलुस के पुत्रो मे शरीर का दृष्टात भी मिलता है। भिन्नता के बावजूद जिस प्रकार अगो का सहयोग होता है, उसी प्रकार शरीर रूपी कलीसिया मे ईसा भक्तों का पारस्परिक सम्बन्ध भी समाविष्ट है। ईसा-मसीह को स्वय ही शरीर का शीर्ष माना जाता है, जिनमे ईसा भक्त सयुक्त रहते है।[4]

ईसामसीह की आध्यात्मिकता

ईसा मसीह की 'वपतिस्मा' के पश्चात् उनका परीक्षाकाल आता है। उस समय के उनके अनुभव यह प्रकट करते है कि यह समय उनके जीवन मे आध्यात्मिक उथल-पुथल का समय था। चालीस दिन और चालीस रात तपस्या करने और भूखो पडे रहने के पश्चात् उनका आध्यात्मिक जागरण हुआ। जगल मे एकाकी ढग से शैतान ने उनकी तीन बार परीक्षा ली।[5]

प्रथम परीक्षा इस प्रकार प्रारम्भ होती है- 'यदि तुम ईश्वर के पुत्र हो तो कह दे कि ये पत्थर रोटियॉ बन जायॅ'। इसके उत्तर मे ईसामसीह कहते है- 'मनुष्य केवल रोटी से नही बल्कि हर एक बचन से जो ईश्वर के मुख से निकलता है, जीवित रहेगा।[6] ईसा मसीह का यह उत्तर अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह मसीहा होने की परीक्षा है क्योकि मसीहा आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। परन्तु ईसा मसीह को इसकी चिन्ता नहीं है। उनका मन्तव्य यह है कि मनुष्य को रोटी से परे की आवश्यकताओ के विषय मे चिन्ता करनी चाहिए। भौतिक आवश्यकताओं की भॉति मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताऍ भी है। उसे पूरा करना भी मनुष्य का कर्तव्य है। यहॉ ईसा मसीह ने प्राचीन परम्परा का अतिक्रमण किया है। प्राचीन परम्परा मे मसीहा का सबसे प्रमुख कार्य देश की आर्थिक सम्पन्नता मे वृद्धि करना था। परन्तु ईसामसीह केवल उसी को महत्व न देकर आध्यात्मिक सम्पन्नता को भी महत्व देते है। भौतिक जीवन यापन के लिए रोटी की आवश्यकता से आध्यात्मिक जीवन की रोटी विशेष आवश्यक प्रतीत होती है। यह उनके धर्म की नवीनता है।

दूसरी परीक्षा मे पूछा जाता है कि 'यदि तुम ईश्वर के पुत्र हो अपने आप को नीचे गिरा दे, क्योकि लिखा है कि वह तेरे

---

1 योहन - 15/5

2 एफेसियो के नाम पत्र - 5/32

3 योहन फाइस- ईसाई दर्शन इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ - 53

4 कुरिथियो के नाम पहला पत्र- 12/12–13 एफेसियो के नाम पत्र- 4/15–16

5 मती- 4/11–11, मरकुस-1/12–13, लूक- 4/1–13

6 डा० हृदय नारायण मिश्र- विश्व धर्म, पृष्ठ - 106

विषय मे अपने स्वर्ग दूतो को आज्ञा देगा, और तुम्हे हाथो उठा लेगे-' इसका उत्तर ईसामसीह देते है कि तू ईश्वर की परीक्षा न कर।[1] इस परीक्षा मे प्राचीन धार्मिक चिन्तन से नवीन धार्मिक चिन्तन के मार्ग पर बढते है। प्राचीन धर्म मे ईश्वर जहॉ सौदेबाजी की वस्तु है, जहॉ वह भयजनक है और ऐहिक जीवन मे काम आने वाला या पक्षपात करने वाला है वहॉ ईसामसीह की दृष्टि मे वह एक सत्ता है, जो प्रेम करने योग्य है। ईसा ने जैसे जीवन को स्वीकारा है वैसे ही ईश्वर का पुत्र भी अपने को समझा है। पिता अपने पुत्र को प्रेम देता हे यह विश्वास हे। भय और पक्षपात पाने की दृष्टि से ईश्वर को स्वीकार नही किया हे। यह आन्तरिकता आध्यात्मिकता का पथ प्रशस्त करती है। इस प्रकार का गहरी जड़ मे गया हुआ नैतिक धर्म ईसा की ही दृष्टि मे आया है। धर्म का जो भी पुरस्कार हो उसकी तुलना उन वाह्य परिस्थितियो से तो की नही जा सकती जो कि व्यक्ति पर आ पडती है। धर्म का ऐसा आध्यात्मिक और नैतिक रूप प्राचीन धर्म मे प्राप्त नही होता। ईसामसीह के धर्म मे यह एक नया परिवर्तन है।

तीसरी परीक्षा मे शैतान उसे एक बहुत ऊँचे पहाड पर ले गया और सारे जगत के राज्य और उसका वैभव दिखाकर उससे कहा कि 'यदि तू गिरकर मुझे प्रणाम करे तो मै यह सब कुछ तुझे दे दूँगा। इसके उत्तर मे ईसा मसीह कहते है- हे शैतान दूर हो जा, क्योकि लिखा है कि तू ईश्वर को प्रणाम कर और केवल उसी की उपासना कर।[2]

ईसामसीह ने उपर्युक्त दोनो प्रलोभनो की भाति शैतान के इस तीसरे प्रलोभन को भी अस्वीकार कर दिया। उनको ससार का वैभव नही चाहिए। यह ईसामसीह की आध्यात्मिक पिपासा ही है जिसमे एकमात्र लक्ष्य ईश्वर ही है। ईसा ने यह सिद्ध कर दिया कि मसीहा का वास्तविक रूप नही है, जो कि केवल राष्ट्रीय शक्ति की प्राप्ति के लिए ही ईश्वर की उपासना करे। ऐसा मसीहा गलत है। मानव जाति के उत्थान के लिए है, उसे केवल राष्ट्रीय नेता के रूप मे नहीं माना जाना चाहिए।

ईसा मसीह की इस परीक्षा द्वारा कई बातो पर प्रकाश पडता है। मुख्य रूप से इससे ईसा की तात्कालीन राजनीतिक धार्मिक परिस्थितियो के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्पष्ट होती है। यद्यपि ईसा यहूदी थे, परन्तु यहूदी धर्म से उनकी आध्यात्मिकता की संतुष्टि नही हो सकी। प्रलोभनो के उत्तर मे नि सन्देह उन्होने प्राचीनमत के व्यवस्था विवरण से ही उद्धरणो को प्रस्तुत किया है, परन्तु उसमे निहित आध्यात्मिकता को उन्होने पुन- व्यवस्थापित ही नहीं किया, बल्कि उनमे अपनी नवीन अन्तदृष्टि भी विकसित की है। उनकी यह नवीनता इतनी स्पष्ट थी कि कुछ ही समय मे रुढ़िवादिता की दीवार तोड ही दी। शैतान द्वारा दिये गये प्रलोभनों के उत्तर मे इतना तो स्पष्ट पता चलता है कि ईसा ने एक नवीन धर्म की उत्पत्ति कर दी थी। इसलिए उनकी प्रतिक्रियाये विभिन्न रूपों मे परिलक्षित होने लगी। उदाहरण के लिए ईसा ने अपने समय के किसी भी राजनीतिक धार्मिक पार्टियो और समीतियो से अपने को जोड नही रखा था। इसमे सदेह नही कि ऐसी कुछ सामान्य बाते अवश्य थी जो ईसा मे तथा यहूदी परम्पराओ मे मिलती है, परन्तु फिर भी कुछ नवीनताये उत्पन्न होने लगी थी। ईसा को यह पूर्णरूपेण विदित था कि उनकी अनुभूतियो से प्राचीन मत की चितन-धारा मे कुछ परिवर्तन अवश्य होगा। इसी लिए उन्होने किसी पार्टी से अपना सम्बन्ध नहीं रखा। वे सभी

---

1 डा० हृदय नारायण मिश्र- विश्व धर्म, पृष्ठ - 106

2 डा० हृदय नारायण मिश्र- विश्व धर्म, पृष्ठ - 106

पार्टियो के ऊपर थे। उन्होने देश के धर्म को नई दिशा तथा नया आकार देना चाहा था, जो कि उनको अब बिल्कुल स्पष्ट था। ईसा को इस बात की पूर्व चेतना थी कि अब उनको मानव के लिए ऐसा जीवनोपदेश देना है, जो लोगो को सभी पार्टियो से उपर पहुँचायेगा, कष्ट, सघर्ष और घृणा से परे ले जायेगा तथा ईश्वरीय राज्य मरणोपरान्त ही नही बल्कि यही इसी लोक और इसी जीवन मे मिलेगा।

मध्ययुगीन ईसाई धर्म दार्शनिको की दृष्टि मे ईश्वर का स्वरूप एवं ईश्वर की सत्ता के लिए प्रमाण

पाश्चात्य दर्शन को 3 भागो मे बॉटा गया है। प्रथम प्रारम्भिक दर्शन का युग या यूनानी दर्शन का युग। यह युग तर्क प्रधान एव वैज्ञानिक विचारधारा का युग है। इस युग मे दार्शनिको की रुचि धर्म के प्रति कम ही रही है। प्लेटो, अरस्तू, इत्यादि दार्शनिको को छोडकर अन्य किसी दार्शनिको ने ईश्वर मीमासा को अपना विवेच्य विषय नही बनाया है।

द्वितीय मध्ययुग का काल है। यह काल पूर्णत· आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। इस युग की तुलना हम हिन्दी साहित्य के भक्ति काल से कर सकते है। यह युग तर्क प्रधान दार्शनिक चिन्तन के ऊपर धार्मिक मताग्रहो पर आधारित ईसाई धर्म के वर्चस्व का युग है। इसलिए कुछ आलोचको ने इसे दर्शन के अन्धकार का युग कहा है।[1] ईसाई धर्म ही मध्ययुगीन दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। ईसामसीह के बलिदान की घटना के बाद रोमन साम्राज्य का पतन और ईसाई धर्म के अभ्युदय का आन्दोलन प्रारम्भ हो जाता है।[2] यूनान और रोम की बौद्धिक परम्पराओ और रोमन साम्राज्य के पतन सामान्य जनता मे एक निराशा की भावना उत्पन्न कर दी थी। संसार और भौतिक ऐश्वर्य लोगो की तडपती हुई आत्माओ को शान्ति प्रदान करने मे असमर्थ थी। निराशावाद ने इस युग मे पूर्णरूप से जड़ जमा ली होती, किन्तु आगस्ट इन और चर्च ने उनके समक्ष स्वर्ग का आदर्श और उन्हे प्राप्त करने के साधन प्रस्तुत कर उन्हे श्रद्धा से युक्त कर निराशावाद से बचा लिया हुआ और रोमन साम्राज्य मे ईसाई धर्म फैल गया।

जिसके फलस्वरूप दैवी एवं अतीन्द्रिय तत्व की ओर उन्मुख हुए लोगो के समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि ईश्वर का स्वरूप क्या है? देवदूतो की संख्या कितनी है? उनका स्थान क्या है? ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं है? आत्मा की मृत्यु कैसे होती है?

ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल मे उसके अनुयायी ईसामसीह द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो को ही दिव्य वचन मानकर अपने जीवन को उनके उपदेशो के अनुरूप बनाने के प्रयत्न मे लगे रहे। धार्मिक विश्वास ही उनकी मान्यता थी और उन्होने तर्क की शरण लेना उचित नहीं समझा था। किन्तु कालान्तर में जब ईसाई धर्म का वेग से प्रचार होने लगा और यूरोप के विद्वान और दर्शनिक भी उस धर्म को स्वीकार करने लगे तो ईसाई धर्म की मान्यताओ को तर्क से सिद्ध करने का कार्य भी होने लगा। इसके लिए अरस्तु की प्रधान रूप से शरण ली गयी, ग्रीक दर्शन के अन्य विचार भी विशेषत प्लेटो और प्लोटाइनस के वे विचार जो ईसाई धर्म के विपरीत नही जान पड़ते थे, स्वीकार कर लिये गये। प्लोटाइनस का ईसाई धर्म पर विशेष प्रभाव पड़ा,

1 एफ० कोपलेस्टन- ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, वाल्यूम- द्वितीय, भाग-1, पृष्ठ- 15—17

2 सन्त पॉल द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार, प्रसार करके चर्च की स्थापना की गयी, इससे मूर्ति उपासक यहूदी धर्म का ह्रास हुआ और रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म फैल गया।

क्योकि दोनो ही विचारो मे भेद होने पर भी, ईश्वराभिमुख थे ओर ईश्वर तथा जगत के सम्बन्ध की, पाप की स्थिति एव उसके कारण की, एव दु ख से मुक्ति पाकर दिव्य जीवन बिताने की समस्यायो पर विशेष रूप से दल मे विचार करते थे। ईसाई धर्म के अनुसार यह जगत ईश्वर की सत्य सृष्टि है। ईश्वर इसके ऊपर दिव्य लोक मे बसते है। वे परमपिता ओर परम कारुणिक है। ईसा मसीह उनके पुत्र है। ईसामसीह के उपदेशो के अनुरूप चलकर जीव इस दु ख से छुटकर परमपिता के पास जा सकते है। जीवात्मा अमर और शाश्वत है, क्योकि वह ईश्वर की प्रतिकृति है। इन सिद्धान्तो की पुष्टि तर्क से होने लगी और इन्होने धीरे-धीरे ईसाई धर्म के दर्शन का रूप ले लिया। चर्च की मान्यताओ का स्वरूप बनने लगा।

प्रारम्भ मे ईसाई धर्म एक आध्यात्मिक एव धार्मिक क्राति था। बाद मे यह राजकीय धर्म बन गया। बडे-बडे मठ स्थापित किये गये, जिसके फलस्वरूप धर्म का प्रचार सगठन के माध्यम से प्रारम्भ हो गया। ईसाई धर्म अब केवल धार्मिक आन्दोलन न रह गया, वरन धार्मिक-राजनीतिक शक्ति बन गया। राज्यधर्म होने के कारण ईसाई मठो को बडी शक्ति मिली। राजकीय धर्म बनने के कारण धर्म का क्षेत्र केवल चर्च ही नही था, वरन् चर्च ने राजनीतिक मामलो मे भी हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे चर्च की शक्ति राजा से भी अधिक हो गयी। राजा निर्बल होने लगे तथा मठो के नेता सबल होने लगे। राजाओ की अयोग्यता के कारण धार्मिक नेताओ ने सत्तापर अधिकार जमाना प्रारम्भ कर दिया। चर्च राज्य का एक विभाग बन गया, तथा बिशपगण सरकारी अधिकारी बन बैठे । मध्य युग मे जिन धर्म दार्शनिको ने ईश्वर की सत्ता एव स्वरूप को सिद्ध करने का प्रयास किया, वे निम्नोक्त है-

संत आगस्टाइन के दर्शन मे ईश्वर का स्वरूप एवं अस्तित्व के लिए प्रमाण

आगस्टाइन मध्ययुग के सबसे बड़े धार्मिक दार्शनिक थे। ये ईसाई तथा धर्मदर्शन के मूलस्रोत माने जाते है। अपनी दार्शनिक विचारो की चिरनवीनता के कारण वे हमे हेगेल और शापेन-हावर से भी अधिक आधुनिक प्रतीत होते है।[1]

आगस्टाइन के ईश्वर सम्बन्धी विचारो पर प्लोटिनस के दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। उसने ईश्वर की अवधारण नित्य, अपरिवर्तन-शील, अनुभव एव तर्कबुद्धि से परे एक सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण शुभ अलौकिक तत्व के रूप मे की है।[2] ईश्वर का स्वरूप और उसका संकल्प अपरिवर्तनशील है।[3] पूर्ण एवं पवित्र ईश्वर अशुभ से परे है।[4] उसमे कर्म और सकल्प की एकता है। ईश्वर ही जगत की सभी वस्तुओं का मूलाधार है। ईश्वर ने शून्य से इस विश्व की सृष्टि की है, पर इस विश्व के सभी प्राकृतिक नियम अपरिवर्तनशील है।[5] सत आगस्टाइन का ईश्वर उपासना और स्तुति के योग्य है।[6] संत आगस्टाइन भक्त थे

---

1 यूकेन- प्राब्लम ऑफ ह्यूमेन लाइफ, पृष्ठ - 247

2 डा० एच० एस० उपाध्याय - पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास, पृष्ठ - 83

3 वही. पृष्ठ - 83

4 वही पृष्ठ - 83

5 डा याकू मसीह- पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास पृष्ठ - 141

6 वही पृष्ठ - 141

और इसी भक्ति से ओत-प्रोत होकर उन्होने बाइबिल की मान्यताओ को युक्तिसगत बनाने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अधोलिखित तर्क दिया है-

1- अनिवार्य एवं सार्वभौम सत्यो पर आधारित युक्ति : अनिवार्य और सार्वभौम सत्यो की सम्भावना का कारण न तो जीवात्मा हो सकती है और न ही ससार की कोई अन्य वस्तु। अनिवार्य और सार्वभौम सत्य नित्य होते है। नित्य सत्य किसी अनित्य और विशिष्ट व्यक्ति, देश, काल आदि पर आश्रित नही हो सकता है। अत यह अनिवार्य ओर नित्य सत्ता ईश्वर ही है। जिस प्रकार अनित्य सत्यो का कारण मानव है, उसी प्रकार नित्य सत्यो का कारण ईश्वर है।[1]

2- कार्य-कारण युक्ति . ससार और ससार की वस्तुये कार्यरूप है। इस ससार का कारण सीमित मानवात्मा नही हो सकती है। कोई भी कार्य बिना किसी उपयुक्त कारण के नही हो सकता है। अत. इस कार्य रूप जगत का कारण ईश्वर ही हो सकता है। आगस्टाइन ईसाई धर्म की इस मान्यता पर बल देते है कि मनुष्य सदैव दिव्यानन्द की प्राप्ति के लिए विह्वल रहता हे।[2] आदम के पाप के कारण मानव इस स्वर्गीय आनन्द से वचित हो गया है।[3] मानव के द्वारा इस उत्कृष्ट दैवी आनन्द की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास यह सिद्ध करता हे कि इस दैवी आनन्द का कारण ईश्वर ही हो सकता हे।[4]

3- उद्देश्य मूलक युक्ति : आगस्टाइन कहते है कि हमे दैनिक जीवन मे दृश्य जगत और उसकी समस्त वस्तुओ मे एक व्यवस्था, विन्यास, सौन्दर्य, परिवर्तन और गति का दर्शन होता है। क्या ये तथ्य मूलरूप से इस बात की घोषणा नही करते कि ईश्वर नाम की एक ऐसी सत्ता ने इनकी सृष्टि की है, जिसके विराट स्वरूप और दिव्य सौन्दर्य का न तो कभी विनाश हो सकता है, और जो न कभी इन्द्रियों की परिधि मे ही आ सकता है।[5] इस तर्क का प्रयोग शंकराचार्य जी ने भी किया है। उनके अनुसार जगत की नियामकता एवं वस्तुओ की सप्रयोजनता एक सर्वज्ञ एवं नियामक तत्व का अस्तित्व सिद्ध करती है।[6]

4- सार्वभौम सहमति पर आधारित युक्ति : आगस्टाइन का दावा है कि ईश्वर के अस्तित्व के बारे मे प्राय· आम सहमति पायी जाती है। आगस्टाइन कहते है कि प्रभु का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि वह विवेकशील मानव की बुद्धि से तिरोहित नही रह सका है। वे कहते हैं कि कुछ भ्रष्ट लोगों को छोड़कर समस्त मानव जाति यह स्वीकार करती है कि ईश्वर जगत का स्रष्टा है। वह व्यक्ति जो अनेक देवो के अस्तित्व में विश्वास करता है, एक ऐसे महादेव या ईश्वर की कल्पना करता है, जो देवाधिदेव या ईश्वर है,[7] जिससे उत्कृष्ट और दिव्य कोई नहीं है। वे सभी व्यक्ति इस बात मे विश्वास करते है कि ईश्वर की गरिमा सर्वोपरि है। उसका गौरव सभी से उत्कृष्ट है।[8]

---

1 एफ० कोपलेस्टन- ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, वाल्यूम- द्वितीय, पृष्ठ- 70

2 डा० बी० एन० सिह- पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ- 132

3 वही, पृष्ठ- 132

4 एफ० कोपलेस्टन- ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, वाल्यूम- द्वितीय, पृष्ठ- 84

5 God, the inettably invisibly great , the inettably and invisibly beautiful

6 केनोपनिषदभाष्य शंकराचार्य-'तात्सिद्धिर्जगतो निपतप्रवृत्तेः'

7. The One God of Gods.

8 एफ० कोपलेस्टन- ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, वाल्यूम- द्वितीय, पृष्ठ- 85

संत एंसेल्म के दर्शन में ईश्वर का स्वरूप एवं अस्तित्व के लिए प्रमाण

मध्यकालीन दर्शन की परम्परा मे ईसाई साधु एसेल्म का नाम बडी श्रद्धा से लिया जाता है। इनके अनुसार धर्मशास्त्रीय कथनो का अर्थ जानने के लिए ईश्वरीय कृपा अनिवार्य है। आप विश्वास को बुद्धि से ऊँचा मानते है। ईश्वर आस्था या विश्वास का विषय है, बुद्धि का नही। बुद्धि ईश्वर तक पहुँचने मे सर्वथा असमर्थ है, परन्तु बुद्धि हमारी आस्था को सुदृढ करती है। अत विश्वास प्रथम है। ज्ञान के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है।[1]

ईश्वर के स्वरूप का विवेचन और उसके अस्तित्व के लिए प्रमाण एंसेल्म की दर्शनशास्त्र की सबसे बडी देन है। उनके अनुसार ईश्वर सभी प्रकार से पूर्ण है। वह परमसत्ता है। मानव मस्तिष्क जिन पूर्णताओ को जानता है और जिनकी कल्पना वह कर सकता है, वह उन सभी पूर्णताओ का मूल स्रोत है। प्राणियो मे मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, अत उसमे ही दैवी तत्व अधिकतम् रूप मे प्रतिबिम्ब होता है। हम अपनी आत्माओ के अध्ययन द्वारा ईश्वर के स्वरूप का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते है, भले ही यह ज्ञान अपूर्ण हो, क्योकि हम स्वत. अपूर्ण है। अत ईश्वर मे सभी पूर्णताये अपने विध्यात्मक और निरपेक्ष रूप मे विद्यमान है। ईश्वर परम सत् है। वह प्रत्येक पूर्णता और सत्ता का कारण है। वह एक ही साथ स्रष्टा, जीवन और सत्य तीनो है। वह निरपेक्ष शुभ और सौन्दर्य है, अनन्त न्याय और अनन्त बुद्धि है। कूटस्थ नित्य और अपरिवर्तनशील है। इतना ही नही उसमे अनन्त पूर्णतायें विद्यमान है, जिन्हें मानव बुद्धि जानने मे असमर्थ है। वस्तुत वह परमपूर्ण सत् है,[2] जिससे अधिक पूर्ण सत् की कल्पना नहीं की जा सकती है। ईश्वर अनिवर्चनीय और मानव ज्ञान की समस्त कोटियो से परे है। उसके दैवी तत्व के निरूपण के हमारे सारे प्रयत्न, यद्यपि सराहनीय है, किन्तु वे सत्य से बहुत दूर है।[3]

सन्त एन्सेल्म ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जिन युक्तियो का प्रयोग किया है वे निम्नोक्त है-

1- सृष्टि वैज्ञानिक तर्क- [4] एन्सेल्म ने सृष्टि वैज्ञानिक तर्क की व्याख्या कारण-कार्य नियम के आधार पर करने का प्रयास किया है। एन्सेल्म के अनुसार संसार की समस्त विशेष और सीमित वस्तुओ का कारण कोई सामान्य और असीमित तत्व होना चाहिए। यह तत्व पूर्ण ईश्वर ही हो सकता है। केवल ईश्वर ही ऐसी सत्ता है जिसका अस्तित्व उसके स्वभाव के कारण है। सभी पूर्णताएं एक ही तत्व मे निहित हैं। उनमें किसी प्रकार का विभाजन नही है। वे अविभाज्य और अनन्त पूर्णताओ से युक्त है। अत यह परमतत्व एक साथ सत्यम-शिवम्-सुन्दरम् या सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह परम स्वतन्त्र और सभी तत्वो का आश्रय है। इसी परमतत्व को हम ईश्वर कहते है।[5] ससार की समस्त विशेष और अपूर्ण सत्ताओ का कारण कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिए जो पूर्ण और सार्वभौम हो। ईश्वर के तत्व से उसका अस्तित्व भी सिद्ध होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति किसी वाह्य कारण से होती है। केवल ईश्वर ही एक ऐसा कारण है जिसका अस्तित्व उसके स्वभाव के कारण है।[6]

---

1 वही, पृष्ठ- 177

2 एन्स पेर फेक्तिस्सिमुम Ens Perfectissimum

3 कर्ट लेविस - ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पृष्ठ- 74

4 मानोलोगियोन नामक पुस्तक में लिखित

5 कर्ट लेविस - ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पृष्ठ- 76

6 आर्थर केनियन रोजर्स- ए स्टूडेण्ट हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, पृष्ठ- 361

2- तत्व दार्शनिक युक्ति या सत्तामूलक युक्ति-[1] यह युक्ति प्लेटो के वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद पर आधारित है, जिसके अनुसार हमारे मन मे जो भी विचार है उनका अस्तित्व वाह्य जगत् मे है। वे प्रत्ययो के जगत् मे स्थित अपने प्रत्यय की अनुकृति है। हमारे मन मे ईश्वर का सप्रत्यय है। यह सप्रत्यय हमारे मन की कल्पना नही हे। इसका वाह्य जगत् मे अस्तित्व सिद्ध है। हमारे मन मे ईश्वर के विषय मे यह सप्रत्यय है कि वह परम् पूर्ण सत्ता है उसमे उत्कृष्ट कोई सत्ता नही हे। यह सव प्रकार की पूर्णताओ से युक्त है। यदि इस प्रकार के ईश्वर का अस्तित्व नही है तो यह सप्रत्यय ऐसी वस्तु सप्रत्यय नही हे जो सर्वोच्च सत्ता हे जिसका हम चिन्तन कर सके। क्योकि हम ऐसी सत्ता का भी चिन्तन कर सकते है जो सव प्रकार की पूर्णताओ से युक्त हो साथ ही अस्तित्व से भी युक्त है। किन्तु ईश्वर के विषय मे हमारी यही धारणा हे कि यह प्रत्येक प्रकार की पूर्णता से युक्त हो। अर्थात् उसमे अस्तित्व की भी पूर्णता होनी चाहिए। अत. ईश्वर का अस्तित्व हे। एन्सेल्म के इस युक्ति को हम न्याय वाक्य मे इस प्रकार रख सकते हैं-

चूँकि ईश्वर का प्रत्यय मानव बुद्धि द्वारा चिन्त्य सर्वोच्च सत्ता का प्रत्यय है। एक ऐसा प्रत्यय जो बुद्धि द्वारा चिन्त्य है, साथ ही साथ वाह्य जगत मे भी स्थित है। उस सत्ता के प्रत्यय से अधिक पूर्ण है जो केवल चिन्त्य है किन्तु जिसका वाह्य जगत मे अस्तित्व नही है।

अतः मानव बुद्धि द्वारा चिन्त्य ईश्वर का प्रत्यय सर्वोच्च सत्ता का प्रत्यय होने के कारण अस्तित्व से भी पूर्ण होना चाहिए।

अतः ईश्वर का अस्तित्व है।

सन्त थॉमस एक्विनास के दर्शन में ईश्वर का स्वरूप एवं अस्तित्व के लिए प्रमाण

एक्विनास का ईश्वर स्वयंभू है, क्योकि वह प्रथम कारण है। वह अज और नित्य है। वह पूर्ण, नितान्त अनिवार्य और जीवन्त शक्ति है। वह एक और अद्वितीय है। इसी कारण शास्त्र और धर्मग्रन्थ उसका वर्णन करते है कि- वही सव कुछ है, उसके अलावा किसी की भी सत्ता नही है। वह समुद्र की भॉति अचल और समरस है, उसमे समस्त पूर्णताएँ अपने पूर्णरूप मे समाहित है। वह परमाकार या आकारो का आकार है। यहॉ थॉमस पर अरस्तू का प्रभाव दिखलाई पडता है। थामस का ईश्वर सरल है। उसमे किसी प्रकार की सन्धि नही। अतः वह शरीर नही है। क्योकि सभी शरीर मे अवयव होते है। ईश्वर का तत्व स्वयं ईश्वर ही है। ईश्वर तथा उसका तत्व दोनो एकरूप है, जैसे दूध की सफेदी और मिठास। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वस्तुएँ ईश्वर के अनुरूप है अपेक्षा यह कहने कि ईश्वर वस्तुओ के अनुरूप है।[2] थॉमस ईश्वर को साकार मानते थे।[3] ईश्वर ससार के सभी प्राणियो की सृष्टि करता है। वह सृष्टि कर्ता ही नही, सरक्षक और सचालक भी है।[4] थॉमस का ईश्वर

---

1 यह युक्ति एन्सेल्म ने अपने पुस्तक प्रॉसलोजियोन मे दी है।

2 बर्टेण्ड रसेल- हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी- पृष्ठ- 474

3 कर्ट लोविस - ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पृष्ठ- 168

4 थिली - ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी-, पृष्ठ 232

आह्लाद, प्रसन्नता और प्रेम से परिपूर्ण है। वह किसी से घृणा नही करता है। उसमे समाधिपूर्ण और सक्रिय सद्गुण विद्यमान है। वह परम् प्रसन्न है। ईश्वर की प्रसन्नता ईश्वर मे निहित है।[1]

थॉमस ने ईश्वर के अस्तित्व को दैनिक जीवन के अनुभव के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसलिए ये तर्क अनुभवमूलक तर्क कहे जाते है, जो निम्नवत् है-

1- गतिमूलक तर्क :- थामस का यह तर्क पट तर्क गति पर आधारित है। यहॉ गति शब्द का व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया गया है।[2] यह सम्भाव्यता का क्रिया मे परिवर्तन है। थामस का कथन हे कि यह असभव है कि कोई वम्तु एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे एक ही समय मे सक्रिय और सम्भाव्य हो। उदाहरण के लिए यदि कोई वस्तु वास्तविक रूप मे गरम है तो वह उसी समय वास्तविक रूप मे सर्द नही हो सकती, केवल सम्भाव्य रूप मे ही सर्द हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई वस्तु एक ही समय मे स्वयं गतिशील और अगतिशील नही हो सकती है। पुनश्च यदि वह गतिशील है तो, एक दूसरी वस्तु होनी चाहिए जो उसे गतिशील बनाती है, और इस दूसरी वस्तु को गतिशील बनाने के लिए एक तीसरी वस्तु की आवश्यकता है और यदि वह तीसरी वस्तु भी अगतिशील है तो एक चौथी वस्तु होनी चाहिए जो उसे गतिशील बनाती है। किन्तु इस प्रकार अनावस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। अत· हम अन्त मे एक ऐसी वस्तु पर पहॅुचते है जो स्वय अगतिशील है, किन्तु ससार की सभी वस्तुओ को गतिशील बनाती है अर्थात् ससार की सभी वस्तुओ की गति का कारण है। अरस्तु ने इस प्रथम कारण को अप्रवर्तित प्रवर्तक कहा है। यही ईश्वर है जो प्रथम प्रवर्तक है।

2- निमित्त कारणता मूलक तर्क : [3]- संसार मे कोई भी वस्तु स्वत· नही उत्पन्न होती। प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण है। उस वस्तु का भी अन्य कारण है। उसका भी एक तीसरा कारण है। उदाहरण के लिए अ का कारण ब है, ब का स और स का द। किन्तु इस प्रक्रिया से एक अनन्त श्रृंखला का आविर्भाव होगा जिससे कोई भी व्याख्या नही सम्भव होगी। अत· यह मानना पड़ता है कि एक प्रथम कारण है और वह कारण ईश्वर है।

3- आकस्मिकतामूलक तर्क [4]- हम दैनिक जीवन मे यह देखते है कि वस्तुओ की उत्पत्ति और विनाश होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे सत् और असत् दोनो है। अर्थात् वे आगन्तुक है अनिवार्य नही। यदि वे अनिवार्य होती तो शाश्वत रूप से रहती। उनका उद्भव और विनाश न होता। अत हम इस निष्कर्ष पर पहॅुचते है कि एक अनिवार्य सत्ता है जिसके कारण आगन्तुक वस्तुओ की उत्पत्ति होती है। यह अनिवार्य सत्ता ईश्वर है।

---

1 वर्टेण्ड रसेल- हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी- पृष्ठ- 478–479

2 थामस ने इस शब्द का प्रयोग केवल स्थान परिवर्तन के लिए ही नही अपितु प्रत्येक प्रकार के परिवर्तन के लिए किया है। इसक अन्तर्गत गुण और परिमाण में परिवर्तन उत्पत्ति और विनाश भी आते है, जैसे हरे रंग के कच्चे आम का पकने पर पीले रग का हो जाना, अथवा शिशु का किशोर हो जाना। - कर्ट लेविस - ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पृष्ठ- 164

3. फ्राम एफिसेट काजेलिटी - यह तर्क अरस्तु की मेटाफिजिक्स 2/1/4 मे मिलता है। इसका प्रयोग सत आगस्टाइन और एन्सेल्म ने भी किया है। इसका मूल प्लेटो मे है। एफ० कोपलेस्टन- ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, भाग-2

4. फ्रॉम कान्टीजेन्सी इस तर्क का प्रयोग सर्वप्रथम मध्ययुग में टॉमस ने किया था। इससे पहले इसका प्रयोग अरस्तु की पुस्तक मेटाफिजिक्स मे मिलता है आगे चलकर इस तर्क का प्रयोग एबिसीनालिलेवासी ऐलन और सन्त अल्वर्ट ने किया।

4- पूर्णता के क्रम पर आधारित तर्क [1]- यह तर्क पूर्णता के क्रमो पर आधारित हे। हम देनिक जीवन मे किसी बात का मूल्याकन करते समय कहते हे कि एक वस्तु दूसरी वस्तु मे अधिक अच्छी ह, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति मे अधिक सत्यवादी या ईमानदार है, एक पुरुष दूसरे पुरुष से अधिक भव्य और एक स्त्री दूसरी स्त्री से अधिक सुन्दर हे। हमारे इस कथन का क्या आधार हो सकता हे जब तक कि कोई ऐसी सत्ता न हो जिसमे सत्यता, सुन्दरता, ईमानदारी, शुभत्व आदि अपने पूर्णतम रूप मे विद्यमान न हो।

5- उद्देश्य मूलक तर्क . इस तर्क मे थामस विश्व की व्यवस्था के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हे। हम प्राय. यह देखते हे कि अजैविक वस्तुये भी किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य कर रही हे।[2] इसे हम यह कहकर नही टाल सकते कि यह सयोगवश या आकस्मिक रूप से हो रहा हे। यह किसी उद्देश्य का फल है। किन्तु अजैविक वस्तुए विवेकशून्य है। अत वे स्वत किसी उद्देश्य की ओर नही प्रेरित हो सकती हे, जब तक कि कोई ऐसी बौद्धिक शक्ति न हो, जिसे उस उद्देश्य का ज्ञान हो और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेरित करे। उदाहरण के लिए वाण स्वत लक्ष्य भेद की ओर प्रेरित नही होता। उसे ऐसा करने के लिए एक धनुर्धर की आवश्यकता होती है।[3] अत कोई ऐसी बौद्धिक सत्ता अवश्य है जो सभी वस्तुओ की प्रेरक है। थामस इस तर्क को दूसरे रूप मे भी प्रस्तुत करते है-

हम दैनिक जीवन मे यह देखते है कि विभिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी गुणो से युक्त वस्तुए भी एक उद्देश्य की पूर्ति मे परस्पर सहयोग प्रदान करती है। इससे यह मानना पडता है कि कोई ऐसी शक्ति है जो इस सबको एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए सचालित करती है। अत सिद्ध होता है कि इस विश्व का भी कोई शासक या शिल्पी है। और वह शिल्पी ईश्वर है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन दार्शनिको के अनुसार ईश्वर की पूर्णता विश्व पर आश्रित नहीं है, बल्कि विश्व ईश्वर पर आश्रित है। ईश्वर विश्व से परे है। ईश्वर की इच्छा के बिना सृष्टि की उत्पत्ति नही हो सकती है। ईश्वर स्वय मे पूर्ण होते हुए भी जीवन के प्रति प्रेम के कारण सृष्टि क्रिया मे लीन होता है। किन्तु यह दृष्टिकोण आधुनिक युग मे स्वीकार नही किया जा सकता है।

ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी विभिन्न प्रमाणो की व्याख्या के पश्चात् स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि- क्या ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता है? धार्मिक व्यक्ति के लिए ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणीकरण का प्रश्न ही निरर्थक है। वह ईश्वर के अस्तित्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेता है। धर्म का केन्द्र ईश्वर हे। इसलिए धर्म मे ईश्वर को पूर्व मान्यता के रूप मे माना जाना चाहिए। यहीकारण है कि धार्मिक व्यक्ति अपनी श्रद्धा और विश्वास के कारण ईश्वर की सत्ता को मान लेता है तथा उनके प्रति भक्ति और प्रेम का प्रदर्शन करता है। अत धार्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने की

---

1 फ्राम द डिग्रीज ऑफ पर्फेक्शन इस तर्क मे टॉमस ने अरस्तू, सीना और मैमून का अनुकरण किया है।

2 डा० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 158

3 वही पृष्ठ- 158

थामस यह मानते हुए कि इस प्रकार के निर्णयो का वस्तु मूलक अस्तित्व है, यह निष्कर्प निकालत हे कि एेमी कोई परम् सत्ता है जिसमे सत्यता, सुन्दरता, शुभत्व और ईमानदारी आदि विशेषताएँ अपनी पूर्णतम मात्रा मे विद्यमान हे, यह परम् सत्ता ईश्वर हे।आवश्यकता ही नही है। सतो और धार्मिक महापुरुषो की आध्यात्मिक अनुभूतियां ही ईश्वरीय सत्ता को प्रमाणित करने मे समर्थ हे।

विज्ञान के क्षेत्र मे विशेषज्ञो के निर्णय नतमस्तक होकर हम स्वीकार कर लेते है, तब इन सतो के निर्णयो को स्वीकार करने मे हम क्यो हिचकते है। संत हमे ईश्वर दर्शन का मार्ग समझाते है। जब तक हम उनके उपदेशो पर नही चलेंगे तब तक ईश्वरानुभूति सम्भव नही है। भौतिकता मे पगा मन परमसत्य को नही समझ सकता है। सत के अनुभव को हम मिथ्या नही कह सकते है, क्योकि यह इहलोक और परलोक का अनुभविता होता है। वेज्ञानिक को आध्यात्मिक सत्य को झुठलाने का कोई अधिकार नही हे क्योकि उसका ज्ञान एकदेशीय है। सतयाना का कथन है- ओ विश्व तू अच्छे भाग का वरण नही कर रहा है। केवल शाब्दिक ज्ञान प्राप्त करने से बुराई नही आती। अपनी अंर्तदृष्टि को खोल और निहार। वास्तविक समझदारी हृदय पर भरोसा करने मे है।[1] व्यक्ति को श्रद्धा के मार्ग पर चलना होगा, साधना का पथ अपनाना होगा, दृढव्रती बनना होगा, विश्व के चटकीले और रगीले आकर्षणो को भुलाना होगा। तब कही ईश्वर का दर्शन सम्भव होगा। ईश्वर तो व्यक्ति के अति निकट है, परन्तु व्यक्ति जब तक उसे देखने की पात्रता नही प्राप्त कर लेता, तब तक ईश्वर उससे ओझल ही रहता है। जॉन बेली का आभिमत है-जिन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया है, उनके लिए तर्क अनावश्यक है और जिनको ऐसी अनुभूति नही हुई है उनके लिए तर्क बेकार है।[2] निष्कर्षतः ईश्वर सत्ता विषयक सभी प्रमाणो को आस्था की ही भाषा मे पढना चाहिए, विज्ञान की भाषा मे नही।

---

1 डा० दुर्गादत्त पाण्डेय- धर्मदर्शन का सर्वेक्षण, पृष्ठ- 281

2 जे० बैली- आवर नालेज ऑफ गॉड, पृष्ठ- 132

तृतीय भाग - इस्लाम धर्म के सन्दर्भ में

फरिश्ते या देवदूत

जिस प्रकार हिन्दू धर्म के पुराणो मे परमेश्वर के अलावा अनेक देवी-देवता भिन्न-भिन्न काम करन वाले माने जाते है, जैसे- यमराज मृत्यु का अध्यक्ष, इन्द्र वृष्टि के देवता, इत्यादि है, उसी प्रकार इस्लाम ने फरिश्तो को माना है। इस्लाम के अनुसार फरिश्ते अल्लाह के बन्दे है।[1] वे सर्वदा अल्लाह के तसदीह (यशोगान) मे लगे रहते है।[2] इस्लाम के धर्मग्रन्थो मे फरिश्ते को मलक या सदेशवाहक माना गया है। फरिश्ते के सम्वन्ध मे क़ुरान मे आये कुछ वाक्यो पर ध्यान देना आवश्यक है जो निम्नोक्त है-

"जब हमे (परमेश्वर) ने फरिश्तों को (आदम के लिए) दण्डवत् करने को कहा तो सवने दण्डवत् की। किन्तु इब्लीस ने इनकार किया, घमण्ड किया और (वह) नास्तिको मे से था।" [3]

"जव हमने फरिश्तो को दण्डवत् करने को कहा तो इब्लीस के अलावा सबने किया। इब्लीस बोला- क्या मै उसे दण्डवत् करूँजो मिट्टी से बना है।"[4]

"जब हमने फरिश्तो को कहा- आदम का दण्डवत करो, तो (उन्होने) दण्डवत् की। किन्तु इब्लीस जो जिन्नो मे से था- ने न किया।"[5]

ऊपर के वाक्यो में फरिश्तो का वर्णन आया है। भगवान ने आदम (मनुष्य जाति के आदि पिता) को बनाकर उन्हे आदम को दण्डवत करने को कहा। सबने वैसा किया, किन्तु इब्लीस ने नही किया। यह इब्लीस उस समय फरिश्तो मे सबसे ऊपर (देवेन्द्र) था। तृतीय वाक्य मे उसे 'जिन्न' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि फरिश्ते और जिन्न एक ही है। या जिन्न फरिश्तो के अन्तर्गत् कोई जाति है। इब्लीस ने यह कहकर आदम को दण्डवत करने से इनकार किया कि वह मिट्टी से बना है। अत. मालूम पडता है कि फरिश्तो की उत्पत्ति किसी अच्छे पदार्थ से हुई है। अन्यत्र इब्लीस के वाक्य ही से मालूम होता है कि इनकी उत्पत्ति अग्नि से हुई है। अपने भक्तो की रक्षा के लिए ईश्वर इन फरिश्तो को भेजते है। क़ुरान मे आया है- 'हे ईमान वालो! अपने ऊपर ईश्वर की कृपा को स्मरण करो जब तुम्हारे ऊपर (शत्रुओ की) फौज आयी, तो हमने इन (शत्रुओ की फौज) पर ऑधी भेजी तथा एक (फरिश्तो की) फौज भेजी जिसे तुमने नही देखा।[6] यह एक युद्ध के सम्बन्ध मे वर्णन है, जब कि शत्रुओं की सख्या मुसलमानों से कई गुनी थी। उस वक्त ईश्वर का कोप ऑधी रूप से उनके ऊपर पड़ा और ईश्वर ने मुसलमानो की

1 डॉ० बी० एन० सिह- विश्व धर्म दर्शन की समस्यायें, पृष्ठ- 230

2 वही, पृष्ठ- 230

3 क़ुरान- 2 4.5, 20 7 1

4 क़ुरान- 17 7 1

5 क़ुरान - 20 116

6 क़ुरान- 32 2.1

सहायता के लिए फरिश्तो की फौज भेजी।

यह फरिश्ते आस्तिको के पास आते है- जो कहते है कि हमारा मालिक परमेश्वर है और दृढ हे। उनके ऊपर फरिश्ते उतरते है, ओर कहते है - डरो नही अफसोस न करो। और स्वर्ग का शुभ सदेश सुनो जिसके मिलने के लिए तुम्हे वचन दिया गया है।[1] प्रत्येक मनुष्य के शुभाशुभ कर्मो के लेखक तथा रक्षक फरिश्ते है, जिनके विषय मे कहा गया हे- नि सन्देह तुम्हारे ऊपर रखवाले है, किरामन् कातिबीन। जो कुछ तुम करते हो उसे वह जानते है।[2] हदीस और भाष्य (तफसीर) ग्रन्थो मे आता है कि प्रत्येक मनुष्य के दोनो कन्धों पर किरामन् और कातिबीन यह दो फरिश्ते बेठ रहते हे, जिसमे से एक उसके सारे सुकर्मो को और दूसरा सारे दुष्कर्मो को लिखता रहता है।

इन फरिश्तो के पर भी होते हे-प्रशसा परमेश्वर के लिए है जो दो-तीन-चार पख वाले फरिश्तो को दूत बनाता है।[3] कुछ फरिश्तो के नाम भी कुरान मे मिलते है- " कह (हे मुहम्मद) नि सन्देह जिसने ईश्वर की आज्ञा से तुम पर इस (कुरान) को उतारा। उस जीब्रील को जो शत्रु है, जो ईश्वर उसके रसूलो (दूतो, ऋषियो) का, फरिश्तो का, जीब्रील का, मीकाल का शत्रु है, नि.सन्देह भगवान (ऐसे) काफिरो (नास्तिको) का शत्रु है।[4] फरिश्ते अनेक है तथा उनके कार्य भी अनेक है। सर्वप्रमुख फरिश्ता का नाम जीब्रील या जिब्राइल है, जो ईश्वर के सन्देश का वाहक माना जाता है। इसे पवित्र फरिश्ता कहा जाता है। यह सब फरिश्तो का सरदार है। मीकाइल मृत्यु का फरिश्ता है अर्थात् यमराज हे। जिसका काम आयु पूरी होने पर सबको मारना है। अच्छे और शुभ कर्मों का व्यौरा रखने वाला किरामन् और बुरे तथा अशुभ कर्मों का व्यौरा कातिबीन रखता है। इस्राफिल जब अपना नरसिंहा बजायेंगे तब महाप्रलय होगी।

फरिश्तो की एक विशेषता यह है कि वे जब चाहे अपना रूप बदल सकते है। इसके कारण यह भ्रम होता है कि ये देवी-देवता है। लोग इनकी पूजा प्रारम्भ कर देते है। कोई इन्हे अल्लाह की औलाद तो कोई इन्हे कष्ट निवारक देवता कहता है। इस्लाम के अनुसार यह 'शिर्क' या अनेकेश्वरवाद की धारणा को जन्म देते है जबकि इस्लाम धर्म मे शिर्क का विरोध हुआ है। मनुष्य तथा फरिश्तो के बीच में जो जीव हैं उनको जिन्न कहा जाता है। जिन्न भी शुभ-अशुभ दोनो प्रकार के होते है।

फरिश्तो के अतिरिक्त कुरान में एक प्रकार के और भी अदृष्ट प्राणी आये है जो आने-जाने मे फरिश्तो के ही समान हैं। वह शुभ कर्म से हटाने और अशुभ कराने के लिए मनुष्यो को प्रेरित करते है। इन्हे शैतान कहते है। शैतानो मे सबका सरदार 'इब्लीस' है। शैतान के विषय में कुरान मे कहा गया है- यह केवल शैतान है जो तुम्हे अपने दोस्तो से डराता है।[5] शैतान किस प्रकार मनुष्य को अशुभ कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं। उसके विषय मे कुरान मे कहा गया है- "शैतान " उनके कर्मो को सॅवार देता है तथा कहता है-अब कोई मनुष्य तुम्हे जीत नही सकता, मै तुम्हारा रक्षक हूँ, किन्तु जब दोनो पक्ष आमने-सामने

---

1 कुरान- 41.4 5
2 कुरान- 82.1.10—12
3 कुरान- 35 1 1
4 कुरान- 2 12.1--2
5. कुरान- 3.18.4

आते है, तो वह मुँह मोड लेता हे ओर कहता है- मै तुमसे अलग हूँ। मे नि मन्देह दखता हूँ जिमे तुम नहीं दखत ओर परमेश्वर पाप का कठोर नाशक है।[1] शैतान भूमि तक ही नही आकाश तक धावा मारते है। "निसन्देह हमने आकाश मे बुर्ज बनाया ओर देखने वालो के लिए उसे सॅवारा और मब दुष्ट शैतानो से उसकी रक्षा की।[2]

यद्यपि शैतान को आकाश की ओर जाना मना है। किन्तु चोरी से कभी-कभी कोई छिपकर आकाश की वात जानने के लिए चला जाता है। यही आकाश के टूटते तारे या उल्का है। शैतान के अनुयायी मनुष्यो का लक्षण वतलाया गया है-मनुष्यो मे जो बिना जाने परमेश्वर के विषय मे विवाद करते है (वह) सब बागी शैतान का अनुगमन करते हे।[3] शेतानो के मरदार इब्लीस का स्वर्ग से निकाला जाना कुरान मे इस प्रकार वर्णित है.- जब हमने तुम्हे पैदा किया फिर तुम्हारी सूरत गढी, फिर फरिश्तो मे कहा-आदम को दण्डवत करो तो उन्होने दण्डवत् की, किन्तु इब्लीस प्रणाम करने वालो मे न था।" फलत ईश्वर कुपित होकर इब्लीस को स्वर्ग से निकाल दिया।

कुरान मे देवदूतो मे विश्वास करने का आदेश दिया गया है। देवदूत सत्यता, अभ्राति, शुद्धता, निष्कपटता आदि गुणो से युक्त है।[4] देवदूतो की सख्या 28 बतायी गयी है। प्रधान देवदूतो मे आदम नूह, इब्राहिम, लूत, इस्माइल, यूसुफ, मूसा, ईसा, और मुहम्मद मुख्य है। मुहम्मद अतिम देवदूत है, उन्हे भगवद्दूत रहा जाता है।

अल्लाह का अर्थ

'अल्लाह' ईश्वर के लिए आया है। अत· प्रस्तुत प्रसग मे अल्लाह का विशेष महत्व है। अत इसके अर्थ का स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है-

इस्लाम धर्म मे ईश्वर या एकमात्र सर्वोपरि सत्ता के सम्बोधन के लिए जो नाम सामान्य रूप से प्रचलित है, वह है, 'अल्लाह'। 'अल्लाह' अल-इलाह है।[5] इस अल-इलाह मे मूल शब्द केवल इलाह है, और इससे पहले जो अल का अश है, वह अरबी भाषा का प्रत्यय है, जो किसी जाति वाचक संज्ञा से व्यक्ति वाचक सज्ञा बनाने के लिए प्रारम्भ मे लगाया जाता है। इलाह का अर्थ है- पूज्य।[6] अत इलाह हर उस व्यक्ति जीव और निर्जीव वस्तु को कहा जा सकता है, जिसकी पूजा की जाय। परन्तु जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से प्रकट भी है, इलाह शब्द पर 'अलिफ' और 'लाम्' बढाकर अल्लाह कर देने का अभिप्राय यह है कि एकमात्र ईश्वर ही पूज्य है और उसके अतिरिक्त कोई भी पूजा या उपासना का अधिकारी नही है।[7] कुरान मे अनेक

---

1 कुरान - 8 6 4
2 कुरान- 15 2 1–3
3. कुरान- 22 1 2
4 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्मदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 59
5 इनसाइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड इथिक्स, पृष्ठ- 248
6 आजाद एम.ए.के. द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-एक), पृष्ठ- 14–15
7 वही, पृष्ठ- 14–15

स्थलो पर अल्लाह के उक्त आशय का समर्थन हुआ है।[1]

इलाह पूज्य के अर्थ मे तो आता ही है, साथ ही साथ इलाह के अर्थ मे यह भाव भी सम्मिलित है कि वह अपार शक्ति और सामर्थ्य का अधिकारी हो, जिसके विस्तार को समझने मे बुद्धि चकित रह जाय।[2] इलाह मे यह भाव भी पाया जाता है कि वह स्वय किसी का मुहताज और आश्रित न हो, और अन्य सभी अपने जीवन के मामलो मे उसके आश्रित और उसकी सहायता मागने के लिए विवश हो।[3] साथ ही 'इलाह' शब्द मे गुप्त या रहस्य का भाव भी पाया जाता हे अर्थात् इलाह उसको कहेगे जिसकी शक्तिया रहस्यमय हो।[4]

इस प्रकार अल-इलाह के अर्थ के उक्त स्पष्टीकरण के पश्चात् हम कह सकते है कि अल्लाह से तात्पर्य उस विशिष्ट सत्ता से है जो सर्वथा पूज्य (इलाह) हे, सर्वोच्च तथा रहस्यमय है एव मानवीय कल्पना से परे है। उसका ज्ञान इन्द्रियो द्वारा सम्भव नही है और जिसकी सत्ता तथा व्यक्तित्व को समझने मे मानवीय बुद्धि चकित है। वह एक ऐसी सत्ता है जो अखिल विश्व का मालिक और हाकिम है। विश्व की सभी चीजे उसी के अधीन और आश्रित है। वही अखिल विश्व का नियन्ता और व्यवस्थापक है। सब चीजे उसकी मुहताज हैं तथा उसी की सहायता पाने के लिए विवश है।

ईश्वर का स्वरूप

इस्लाम धर्म का केन्द्र विन्दु ईश्वर है। क्योकि इस्लाम का अर्थ होता है- 'ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण'। ईश्वर की सत्यता पर कुरान मे अत्यधिक जोर दिया गया है। कुरान का यह वाक्य परमेश्वर सत्य है, इस कथन की पुष्टि करता है।[5] इस्लाम का मूल मन्त्र है-अल्लाह के सिवाय दूसरा ईश्वर नही। ईश्वर को कुरान में सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता माना है। कुरान मे कहा गया है वह (ईश्वर) जिसने भूमि में जो कुछ है (सबको) तुम्हारे लिए बनाया है।[6]

"उसने सचमुच भूमि और आकाश बनाया। मनुष्य को छुद्र वीर्य विन्दु से बनाया। उसने पशु बनाये जिनसे गर्म वस्त्र पाते तथा और भी अनेक प्रकार के लाभ उठाते हो एवं उन्हे खाते हो।[7] वह तुम्हारा ईश्वर सब चीजो को बनाने वाला हे। उसके सिवाय कोई पूज्य नही।[8] ईश्वर सब चीजो का स्रष्टा तथा अधिकारी है।[9] निस्संदेह ईश्वर भूमि और आकाश को धारण किये है कि वे नष्ट न हो जाय।[10] परमेश्वर मारता और जिलाता है।[11] ईश्वर बडा दयालु है तथा अपराधो को क्षमा कर देता है।

---

1 कुरान- 2 163, 3.2, 18, 62, 4 87
2 आजाद एम ए के.- द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-एक), पृष्ठ- 14
3 कुरान मजीद- पृष्ठ- 5
4 आजाद एम ए के - द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-एक), पृष्ठ- 14—15, टी०पी० ह्यूस - ए डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 141
5 कुरान- 31 3 11
6. कुरान- 2 4 9
7 कुरान- 16.1 2—5
8 कुरान- 4 7 2
9 कुरान- 39 6 10
10 कुरान- 35 5 4
11 कुरान- 53.3.12

नि सन्देह तेरा ईश्वर मनुष्यो के लिए उनके अपराधो का क्षमा करनेवाला है।[1] इस्लाम का ईश्वर सत्य है जैसा कि कुरान मे कहा गया है- "परमेश्वर सत्य है" ।[2] ईश्वर का न्यायकारी होना कुरान मे इस प्रकार वतलाया गया है- "कयामत के दिन हम ठीक तौलेगे। किसी जीव पर कुछ भी अन्याय नही किया जायेगा। चाहे वह एक सरसो के बराबर ही लाये है, किन्तु हमारे पास पूरा हिसाव रहेगा" ।[3]

ईश्वर एक अभौतिक वस्तु है अर्थात् वह अदृश्य है। वह व्यक्तित्व पूर्ण है। उसमे इच्छा सन्निहित है। ईश्वर शाश्वत है। उसका न आदि है न अन्त है। ईश्वर और मानव मे स्वामी ओर दास का सम्बन्ध है। इस्लाम मे ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता एकत्व और शुभत्व पर वल दिया गया है। यहाँ ईश्वर का एकत्व कोई दार्शनिक विवेचन नही, वरन् वह धार्मिक लगन ओर धुन का उद्‌गार है।[4]

सम्पूर्ण विश्व की कोई घटना विना ईश्वर के ज्ञान ओर अनुमति के सम्भव नही है। ईश्वर अज्ञात और अज्ञेय है। कुरान मे लिखा है कि कोई भी मरणशील ऑखे ईश्वर को नही देख सकती है, यद्यपि खुदा सबके देखने को देखता है।[5] स्वर्ग और नरक का भी रचयिता ईश्वर ही है। इस्लाम मे सृष्टि के लिए उपादान कारण की उपेक्षा की गयी है। इस्लाम का ईश्वर उपादान कारण के बिना भी सृष्टि की रचना करता है। यदि ईश्वर को स्वय उपादान कारण माना जाय तो वैसी हालत मे ईश्वर का निर्विकार होना, जिस पर की कुरान बल देता है, खण्डित हो जाता है। यदि यह माना जाय कि ईश्वर को दूसरे उपादान कारण की आवश्यकता है तो वैसी स्थिति मे उसका सर्वशक्तिमान होना खण्डित हो जाता है। इस प्रकार इस्लाम मे असत् से सत् की उत्पत्ति का विधान है। परन्तु तार्किक दृष्टिकोण से यह विरोधाभास ही लगता है। क्योकि शून्य से शून्य का ही आविर्भाव होता है।

ईश्वर के गुण

उपरोक्त विवेचन से इस्लाम धर्म के ईश्वर के सामान्य गुण उभर कर सामने आते हैं, जो निम्नोक्त है-

ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ है- अल्लाह सर्व शक्तिसम्पन्न है। सम्पूर्ण सृष्टि पर उसका प्रभुत्व है। उसकी महिमा अपार है। वह सबकुछ करने मे समर्थ है। कुरान मे कहा गया है कि आसमान और जमीन मे और इन दोनो के बीच जो कुछ है अल्लाह का है।[6] सृष्टि के सभी प्राणी उसी की आज्ञा का पालन करते हैं। कोई कार्य बिना उसकी इच्छा के नही होता। कुरान मे कहा गया है-अल्लाह वादशाहो का मालिक है जिसे चाहे बादशाही दे, सम्मान और अपमान उसी के हाथ मे है।[7] उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नही होता है यह सृष्टि उसकी इच्छा शक्ति का विकास है। अल्लाह जो चाहता है, करता है। रात

1 कुरान- 13 1 6
2 कुरान - 31 3 11
3 कुरान - 21 4 6
4 डा० याकू मसीह - तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ- 187
5 कुरान- 6 102
6 कुरान- 101 20
7 कुराम- 3 26

को दिन मे दाखिल करता हे, तथा दिन को रात मे।[1] इस प्रकार इस्लाम धर्म का ईश्वर सर्वशक्ति सम्पन्न शासक हे।

अन्य धर्मा के समान इस्लाम धर्म भी ईश्वर को सर्वज्ञ मानता है। ईश्वर सब कुछ जानता है। भूत, वर्तमान, भविष्य, आगे-पीछे उससे कुछ नही छिपा है। कुरान मे इस सन्दर्भ मे कहा गया है कि वह छिपे हुए को जानता है, जाहिर (प्रकट) को जानता है। वह ऊंचे दर्जे के बडे ज्ञान वाला हे।

<u>**ईश्वर स्रष्टा एवं पालनकर्ता हे-**</u> ईश्वर स्रष्टा है। यह विश्व उसकी रचना हे। इसके सम्बन्ध मे कहा गया है आसमानो और जमीन को पेदा करने वाला जब कहता है, हो जा, तो हो जाता है।[2] उसकी इच्छा रहती है कि उसकी सृष्टि बनी रहे इसलिए उसने प्रत्येक जीव के जोड़े पैदा किये, जिससे सृष्टि का क्रम न टूटे। इसके सम्बन्ध मे बतलाया गया है-उसने आसमान को अपने हाथ से बनाया, जमीन को बिछाया, हर चीज के जोडे पैदा किये।[3] उसने मृत्यु और जीवन बनाया। उसने सागर, पर्वत, नदियॉ तथा आकाश बनाया एव उसको तारो से सुसज्जित किया। जीवधारियो के जीवन धारण के लिए जल, आग तथा प्रकाश की उसने व्यवस्था की। इस प्रकार अल्लाह जगत का स्रष्टा है। सूर्य, चॉद, तारे सब उसके आज्ञा पालक है।

स्रष्टा के साथ-साथ इस्लाम का ईश्वर सृष्टि का पालक भी है। सृष्टि के प्राणियो के लिए उसी ने सब वस्तुओ की व्यवस्था की है। उसी ने सभी को रोजगार दिया है। बहुत से जीव रोजी नही करते फिर भी ईश्वर उनका पालन-पोषण करता है। जीवो के रक्षार्थ उसने सूर्य को ज्योतिर्मय तथा चॉद को शीतल बनाया। कुरान में कहा गया है- उसने जमीन को बिछौना बनाया, पानी बरसाया, मुर्दा भू-भाग को जिन्दा किया। हर प्रकार के जीव पैदा किया, जिन पर तुम सवार होते हो।[4] मनुष्यो के लिए ईश्वर ने खजूर, अंगूर, मेवे, शहद, विभिन्न प्रकार की साग सब्जियॉ, सुगन्धित फूल, अन्न, मूँगे-मोती इत्यादि बनाया। वह ससार के समस्त प्राणियों का पालन-पोषण करता है।

<u>**ईश्वर क्षमाशील करुणामय एवं कृपाशील है-**</u> ईश्वर क्षमाशील है। वह जीवो की गल्तियो को माफ कर देता है। प्राणियो को अभयता प्रदान करना उसका स्वभाव हे। इस सम्बन्ध मे कुरान मे कहा गया है "मेरे बन्दो से कह दो कि मै बडा क्षमाशील और दयावान हूँ।[5] बुरा काम करने वालो को वह क्षमा कर देता है। शर्त यह है कि जीव उसकी शरण मे जाय और अपने किये हुए अपराधो के लिए पश्चाताप करे- वह बन्दो की तौबा कबूल करता है और उनकी गल्तियो को क्षमा करता है।[6] वह सभी के प्रति दया का बर्ताव करता है किन्तु जो सज्जन है, ईमानदार है, परोपकारी है, उनके प्रति वह विशेष रूप से क्षमाशील है।

इस्लाम धर्म का ईश्वर अत्यन्त कृपाशील और दयावान है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के प्रति उसकी दया है। वह प्राणियो के प्रति स्नेह दर्शाता है। जो दु ख मे उसको पुकारता है, दयार्द्र होकर वह उसकी पुकार सुनता है। उसकी दयालुता सर्वव्यापक

---

1 कुरान - 85 16—22

2. कुरान- 102 116—117

3 कुरान- 103 51

4 कुरान- 105 43

5 कुरान- 100 15

6 कुरान - 100.42

है। ईमानदारो के प्रति उसकी दया विशेष रूप से है। कुरान मे कहा गया है कि-अल्लाह ईमान वालो पर दया दर्शाता है।[1] ईश्वर इतना दयालु है कि वह किसी पर उसकी क्षमता से अधिक जिम्मेदारी नही डालता है। ईश्वर की दया के लिए हमे प्रतीक्षा करना चाहिए। जो धैर्य खो देते है व मूर्ख है। कुरान म लिखा है-अल्लाह की दयालुता मे निराश होना गुमराहो का काम है। अल्लाह चाहता है कि इन्सान उससे दुआ माँगे, और वह उन पर कृपा करेगा।

<u>ईश्वर स्वामी है</u>- इस्लाम धर्म मे ईश्वर तथा जीव के बीच वही सम्बन्ध बतलाया गया है, जो सम्बन्ध एक मालिक और उसके दास के बीच होता है। ईश्वर स्वामी है तथा मनुष्य उसका दास है। ईश्वर शासक है तथा मनुष्य शासित है। ईश्वर मनुष्य पर शासन करता है। उसके प्रति कठोरतापूर्ण व्यवहार करता है। गलत कार्य के लिए उसको दण्डित करता है तथा उसको क्षमा भी प्रदान करता है। इस दृष्टिकोण मे ईसाई धर्म का ईश्वर इस्लाम धर्म के ईश्वर से भिन्न है। ईसाई धर्म के ईश्वर तथा मनुष्य के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। जिस प्रकार एक पिता ममत्व के कारण अपने पुत्र के सभी अपराधो को क्षमा कर देता है उसी प्रकार ईश्वर जीव को उसकी गल्तियो के लिए क्षमा कर देता है। अत ईसाई धर्म का ईश्वर इस्लाम धर्म के ईश्वर से बढकर क्षमाशील है। लेकिन इस्लाम के ईश्वर को इस सदर्भ मे अधिक न्यायप्रिय कहना उचित होगा। पिता ममता के वशीभूत होकर पुत्र के अपराध के प्रति ध्यान नही देगा, किन्तु मालिक दास के अपराधो की उपेक्षा नही कर सकता है, क्योकि अपराध को क्षमा करना अपराध प्रवृत्ति को बढावा देना है। मालिक अपने दास को कठोर से कठोर दण्ड देकर उसको सही रास्ते पर लाता है। इस सदर्भ मे कहा गया है- "नियत दिवस के समय न मित्र किसी मित्र का सहायक होगा और न कोई सहायता पायेगा। डरो उस दिन से जब एक जीव दूसरे जीव के कर्म को न बदलेगा और न उसकी शिफारिश स्वीकार होगी।[2]

कुरान की उपर्युक्त पक्तिया इस बात को प्रमाणित करती है कि ईश्वर न्याय प्रिय है। वह गलत काम करने वालो को दण्डित करता है। विश्व का नैतिक शासक होने के नाते उसका कार्य व्यवस्था बनाये रखने के लिए अनिवार्य है। हिन्दू धर्म मे जीव और ईश्वर के बीच कई प्रकार के सम्बन्ध है, ईश्वर अनाथो का नाथ, भिखारियो का पोषक, पापियो का उद्धारक, पिता, माता, मित्र सब कुछ है। इन सम्बन्धो मे से उसे जो अच्छा लगे उसे मानकर जीव का उद्धार करता है। मनुष्य केवल मोक्ष कामना से उसकी शरण मे जाता है।

ईश्वर सर्व व्यापक है

इस्लाम का ईश्वर धरती के कण-कण मे व्याप्त है। कोई भी ऐसा स्थल नही है जहाँ वह नही है। उसकी सर्वव्यापकता के सम्बन्ध मे कहा गया है "वह आदि है, वह अत है, वह बाहर है, भीतर है, वह चीजो का जानकार है।[3] अन्य स्थल पर भी कहा गया है- 'जिधर मुँह फेरोगे, उधर ही अल्लाह का मुँह है। यह अल्लाह सदा तुम्हारे साथ है, जहॉ कही तुम हो।[4]

---

1 कुरान- 100 33

2 कुरान- 44 2, 12

3 कुरान- 57 13

4 कुरान - 2 115

अल्लाह के कुछ नाम

ईश्वर का स्वय का नाम अल्लाह हे। लेकिन इसके अलावा भी कुछ अन्य गुण सूचक नामो की एक लम्बी तालिका मिली है, जिसका सक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता हे।

1 अव्वल-सर्व आदि-जिसकी कोई सीमा नही हे, अनादि

2 आखिर- सर्व अन्त, अनन्त, जिसकी कोई सीमा नही

3 जाहिर- अपनी सृष्टि, रचना तथा अपनी शक्ति ओर गुणो के चमत्कारो द्वारा प्रकट

4 रज्जाक- महान जीविका दाता, सृष्टि के समस्त प्राणियो को उनकी आवश्यकतानुसार जीविका देने वाला।

5 बातिन- अप्रकट, अपने अस्तित्व ओर स्वरूप तथा अपने रहस्यो के अप्रकट होने के कारण अव्यक्त।

6 कदीर- सर्वशक्तिमान, सर्वशक्ति सम्पन्न, अनन्त शक्ति वाला, प्रभुताशाली, जो चाहे करने का सामर्थ्य रखने वाला, सर्वशक्ति का पूर्ण अधिकारी।

7. अहद- अद्वितीय-अपनी सत्ता और गुणो में अकेला।

8 समद- सर्वजगत् और समस्त जीवो का आधार तथा अवलम्बन और स्वय सबसे वेपरवाह निराधार और अवलम्बन मुक्त।

9 वाहिद- सर्वप्रथम अनादि।

10 बदीअ-उपमा ओर समानता से सर्वथा मुक्त, सत्ता, गुण, कर्म मे अद्वितीय, बिना किसी स्वरूप के नवीन आविष्कार करने वाला।

11 अली-उच्चतम्, सर्व उच्च।

12 अजीज - परम प्रभुताशाली, सर्व अधिकारी

13 हकीम- सर्व वैज्ञानिक, हर वस्तु के गुण, कर्म और रहस्य का ज्ञाता परम बुद्धिमान, परम विधायक

14. हमीद - सर्वगुण सम्पन्न, सर्वस्तुत्य, सर्वप्रकार की प्रशंसा और स्तुति का अधिकारी, सारी सृष्टि अपनी उत्पत्ति, रचना, रूप, रग, और गुण से जिसकी स्तुति की जाय।

15. सुब्बहान- अति पवित्र, प्रत्येक त्रुटि और दोष से रहित

16 गनी- सर्व सम्पन्न अपेक्षा-रहित

17 खालिक- सृष्टिकर्ता, उत्पन्न करनेवाला

18 कयूयूम - नित्य, स्थिर, सारी सृष्टि को स्थापित और स्थिर रखने वाला।

19 कुद्दूस- अति पवित्र, प्रत्येक त्रुटि और दोष से रहित

20 हय्य- अजन्मा, अमर, अविनाशी, नित्य

21 नूर- स्वय प्रकाशमान, सर्वसृष्टि प्रकाशक

22 हक- सत्य अल्लाह ही सत्य सिद्ध (और पूज्य) है।

23 अजीम- विशाल, विराट, अन्ध्वनि, शब्द और वाणी को सुनने वाला।

24 रऊफ- स्वभावत स्नेहशील, बिना याचना दया उपकार करने वाला।

25 मुहेमिन- सर्वव्यापक, सर्वजगत ओर समस्त प्राणियो की देखरेख करनेवाला।

26 करीम- महीमा शाली, महिमावान, अतिकृपालु, दानशील,

27 जव्वार- अभिमानी, प्रवल, सर्वजगत को अपने प्रभुत्व और अपनी शक्ति से अधिकार मे रखनेवाला।

28 लतीफ- नम, दयावान, उपकार कर्ता, सद्व्यवहारी।

29 शकूर- भक्तो की भक्ति, सत्कर्मो का आदर करनेवाला तथा पुरस्कार देनेवाला।

30 मौला - सहायक

31. मुजीब-जबाब देने वाला, दीन दु'खियो की पुकार, क्षमायाचको की याचना और भक्तो की प्रार्थना को स्वीकार करनेवाला।

32 मूत्तरव्वीर- स्वभिमानी महिमाशाली, सत्तावान

33. गफूर- पाप और अवज्ञा को क्षमा करनेवाला, पाप से उद्धार करनेवाला।

34 मोमिन- शरणदाता, कष्ट और विपत्ति से बचाने वाला, सुख शान्ति से रहनेवाला।

35 हलीम- नम सहनशील, सहिष्णु, क्रोध से विचलित न होनेवाला।

36 अफूव-क्षमाकर देनेवाला।

37 हफीज-सर्वसृष्टि की देखरेख करनेवाला, सरक्षक,

38. हवीर-सृष्टि मे जो कुछ भी है, जहॉ भी है, जो कुछ भी हो रहा है, सबकी सूचना देनेवाला

39 सलाम- दोषो मे रहित, अविनाशी, शान्तिस्वरूप, शान्ति दायक

40 वदूद-अत्यन्त स्नेही।

41 वली - मित्र, सहायक, प्रबन्धक, सुकर्मी की सहायता करनेवाला।

42. मुहयी-मृत्यु के पश्चात् जीवन देने वाला

43. हवाह- खोलने वाला, न्याय करनेवाला।

44 जमीय-प्रलय के बाद परलोक में सबको एकत्र करनेवाला।

ईश्वर के गुण सूचक नाम

कुरान मे ईश्वर के अनेक नाम हैं, जो उसके गुणों को अभिव्यक्त करते हैं।[1] अबू हनीफा का कहना है कि ईश्वर की सत्ता और नाम दोनो ही अपरिवर्तनीय है। मुस्लिम विद्वानों द्वारा अल्लाह की उपाधि को 'इस्मुज्जात' या ईश्वर का सार-रूपीय नाम कहा गया है और रब सहित अन्य सभी नामों को दैवी सत्ता का गुण समझा गया है। ये गुण श्रेष्ठ नाम कहे जाते हैं।[2] अल्लाह की स्तुति एव उसके गुणों को दर्शाने वाले निन्यानबें नामो की सूची मुस्लिम और बुतारी द्वारा अपने अपने हदीसों के सकलन में प्रस्तुत की गयी है।[3] इस तालिका में 'अल्लाह' चाहे प्रारम्भ में रखा जाय या अन्त में कोई अन्तर नहीं पडता है, क्योंकि सभी गुण उस एक मात्र सर्वोच्च शक्ति अल्लाह में निहित है। चूँकि अल्लाह दैवी शक्ति का व्यक्तिवाचक नाम है, अत यह उन समस्त गुणों को स्वय में सम्मिलित कर लेता है जो भिन्न भिन्न रूपों मे विभिन्न गुण सूचक नामो मे प्राप्त होते हैं।

'अल्लाह' के समस्त गुण सूचक नामों में चार नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं- अर-रब, अर्-रहमान, अर्-रहीम और मालिक। ये सभी नाम कुरान के प्रथम अध्याय 'अल-फातिह' में निर्दिष्ट किये गये हैं, जिसे कुरान का सार माना जाता है। इस सम्बन्ध में मौलाना आजाद कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति कुरान की कोई और चीज न पढ़कर मात्र यही पढ़े और उसके अर्थ को ग्रहण करे तो वह विश्वास के उन सभी तत्वों को समझ जायेगा जो कुरान में विस्तृत वर्णित है।[4] कुरान के प्रथम अध्याय में 'अलफातिह' और अन्य अध्यायों में पाये जाने वाले उक्त प्रमुख ईश्वरीय गुणों के अभिप्राय और महत्व को सक्षेपत निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं-

रबूबियत

'अल-फातिह' नामक अध्याय में 'अल्लाह' के जिन गुण सूचक नामों का उल्लेख हुआ है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण 'अल-रब' है। रबूबियत; अल्-रब् से निकला है।[5] 'रब्' का मौलिक अर्थ है- पालने वाला। लेकिन कुरान में यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जैसे- संरक्षक, देखभाल करने वाला, पालनकर्ता, मालिकस्वामी, प्रभु, व्यवस्थापक, शासक, हाकिम, नियन्ता और विधाता इत्यादि।[6] परन्तु इन सब अर्थों में अल्लाह सम्पूर्ण जगत का रब् है। कुरान में कहा गया है- हर तारीफ खुदा के लिए ही है, जो सारे ससार का रब् है।[7]

---

1 कुरान- 20 8, 59 24
2 टी०पी० ह्यस - ए डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 141
3 वही, पृष्ठ- 141—142
4 आजाद एम ए के - द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 5
5 वही, पृष्ठ- 19
6 कुरान मजीद, पृष्ठ- 25
7 कुरान- 1.1

कुरान मे 'रबूबियत' का अर्थ काफी विस्तृत है, परन्तु अरबी में इसका अर्थ पालन पोषण से है। मुस्लिम धर्म दार्शनिकों के अनुसार 'रब्' का वास्तविक अर्थ- किसी चीज के इस प्रकार पालन करने से है कि वह उस वस्तु की एक स्थिति के बाद दूसरी स्थिति को तब तक प्राप्त करता रहे, जब तक कि वह अपने लक्ष्य की पूर्णता को न प्राप्त कर ले।[1] 'रब्' मे सारी सत्ताओं के रचयिता होने का भी अर्थ निहित है।[2] इन विशेषताओ के साथ-साथ 'रब्' मे दयालुता का पुट भी विद्यमान रहता है, क्योकि मौलाना आजाद के अनुसार ऐसी कोई गतिविधि या क्रिया-कलाप, जिसको दयालुता से गति नहीं प्राप्त हुई है 'रबूबियत' कहलाने का हकदार नहीं है।[3]

अत. 'रबूबियत' किसी को उसके पूर्ण सम्भावित विकास हेतु उसकी सभी कुछ आवश्यकताओ को प्रदत्त करने की एक सचेत प्रक्रिया है। इस प्रकार अल्लाह को सम्पूर्ण सृष्टि रचना के 'रब्' (रब्बिल आलमीन) के रूप मे देखना मात्र ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण चीजों के रचयिता के रूप में समझा जाना नहीं है, बल्कि इसके साथ ही साथ समान रूप से उसे इनका पालन-पोषण कर्ता और आश्रय देने वाले के रूप मे भी समझा जाना चाहिए।

अतएव 'रब्' अल्लाह का वह मुख्य गुण है, जो हमें यह सूचित करता है कि ईश्वर किसी विशेष जाति या वर्ग का पालन करने वाला नहीं है, बल्कि वह सम्पूर्ण मानवता और जगत में स्थित हर एक वस्तु का 'रब्' है। 'रब्' पूर्णता को प्राप्त कराने वाला होने से दैवी सत्ता का मुख्य गुण है और यही कारण है कि प्रार्थनायें साधारणतया 'रब्' को सम्बोधित करके की जाती हैं। यह 'रब्बाना' (ए हमारे स्वामी) से प्रारम्भ होती है। अत· ईश्वर के व्यक्तिवाचक नाम 'अल्लाह' के पश्चात् गुण सूचक नामों में सर्वाधिक महत्व 'रब्' को दिया गया है, और इसका महत्व इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि जब 'रब्' नाम कुरान में नौ सौ साठ (960) बार मिलता है, तब वहॉ अल्लाह का नाम दो हजार आठ सौ बार (2800) आया है। जबकि अन्य कोई नाम इतनी अधिकता से नहीं आया है।[4]

रहमत

ईश्वर के गुणसूचक नाम 'रब' के पश्चात 'अर्-रहीम' और 'अर्-रहमान' आते हैं, जिनकी उत्पत्ति 'रहमत' से मानी जाती है।[5] 'रहमत' दयालुता के उस रूप को सूचित करता है जो दूसरों के प्रति दया करने में अभिव्यक्त होती है। अत हम कह सकते हैं कि 'रहमत' के अर्थ में प्रेम, कृपा, स्नेह, उदारता और परोपकारिता का भाव निहित है।[6] इस्लाम धर्म दार्शनिकों के अनुसार अर-रहमान का अर्थ है- वह सत्ता जो रहमत को धारण करता है, और अर-रहीम वह सत्ता है

1. मोहम्मद अली- द रिलिजन ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 157
2 आजाद एम ए के - द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 19
3 वही, पृष्ठ- 19–20
4 मोहम्मद अली- द रिलिजन ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 158–159
5 आजाद एम ए के.- द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 47
6 असफाक हूसैन- द क्विन्टेन्सेन्स ऑफ इस्लाम, पृष्ठ - 52

जो न केवल रहमत को धारण करती है बल्कि उसको निरन्तर व्यक्त करती है, अर्थात वह सत्ता जिससे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षण दया प्राप्त करती रहती है।[1] कुरान मे उक्त दोनो रूपो की ओर एक साथ ध्यान आकर्षित करने का लक्ष्य रहमत या ईश्वर की दयालुता के सर्वाच्छादित चरित्र को महत्व प्रदान करना है। चूँकि अर्-रहमान और अर्-रहीम एक ही और समान गुण के दो रूप हैं अत इसे रहमत के रूप में लिया जा सकता है।

ईश्वरीय गुण रहमत को कुरान एव हदीसों मे पर्याप्त स्थान प्राप्त है। मनुष्य का पैदा किया जाना और उसके पथ के निर्देशन हेतु 'वह्य' (ईश्वर दत्त ज्ञान) और पैगम्बरो का सिलसिला जारी करना ईश्वरीय गुण रहमत का ही परिणाम है। जैसा कि कुरान में कहा गया है- 'ये पैगम्बर हमने तुमको दुनियॉ-जहान के लोगों पर कृपा करके भेजा है।[2] यह ईश्वर की दयालुता का ही परिणाम है कि वह अत्याचारी, उपद्रवी और अन्यायी लोगों को तुरन्त दण्डनहीं देता अपितु उन्हें सुधारने का भरपूर अवसर देता है। यद्यपि कि ऐसे व्यक्ति उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं करते लेकिन फिर भी वह उनकी जीविका का प्रबन्ध करता है। अखिरत (परलोक) में ईश्वर की दयालुता का प्रदर्शन होता है तथा वह उस दिन न्याय करता है। हदीस में कहा गया है कि- 'वह कयामत के दिन अपने बन्दों पर दया करेगा।'[3] अल्लाह के यहॉ मौलिक स्थान उसके प्रकोप को नहीं उसकी दयालुता को प्राप्त है।[4] विश्व की व्यवस्था ईश्वर की दयालुता और न्याय पर आश्रित है तथा उसकी दयालुता के कारण ही मनुष्य को अखिरत में उद्धार मिलता है। रहमत मृत्यु के पश्चात् जीवन और दैवीय वाणी का भी प्रमाण है।[5] इस्लामी धर्म ग्रन्थ कुरान में बार-बार इस बात का उल्लेख है कि तोराह, बाइबिल और कुरान का प्रदत्त किया जाना दैवी कृपा का ही परिणाम है।[6] कुरान में कहा गया है कि कोई कितना ही गम्भीर पाप क्यों न किया है, उसके पापों का स्वरूप चाहे जो भी रहा हो और चाहे वह बहुत समय से पाप में रहा हो परन्तु जैसे ही वह अल्लाह के द्वार को खटखटाता है तो प्रत्युत्तर में अल्लाह उसे क्षमा कर देते हैं।[7] यह ईश्वर की दैवी क्षमा के क्षेत्र को व्यक्त करता है। एक हदीस में उसके (ईश्वर) रहमत और क्षमा के क्षेत्र को इतना विस्तृत बतलाया गया है कि वह शिर्क (ईश्वर के साथ भागीदारी) जैसो बड़े गुनाहों को भी क्षमा कर देता है। शर्त यह है कि बन्दा तौबा करके शिर्क से बाज आ जाय और अपने को पूर्णतया अल्लाह की सेवा में समर्पित कर दे।[8]

अदालत

दैवी गुण रबूबियत और रहमत के क्रम में ईश्वर के अदालत का गुण कुरान के प्रथम अध्याय अल-फातिह में निर्देशित

---

1 मोहम्मद अली- द रिलिजन ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 159—160
2 कुरान- 21 107
3 हदीस सौरभ, पृष्ठ- 123
4. कुरान- 2 37, 4 43, 6 54, 13 9, 15 49, 39 53 42 30
5 आजाद एम ए.के.- द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 64
6 कुरान- 28 43
7 कुरान- 39.53
8 हदीस सौरभ, पृष्ठ- 121

है। इसके लिए कुरान में प्रयुक्त पदमालिकि यौमिद्दीन[1]-जजा (अतिम न्याय) के दिन का मालिक है। अल-दीन अरबी में प्रतिकार या प्रतिफल को धारण करता है, जिसका अर्थ अच्छे या बुरे कर्मों से सम्बन्धित है। अत इसका अर्थ है- वह जो प्रतिकार के दिन न्याय करने वाला हैं।[2] कुरान के अनुसार यह दैवी न्याय स्वेच्छापूर्वक थोपा हुआ नहीं है बल्कि यह व्यक्ति के स्वय के कर्मो का अनिवार्य रूप में परिणाम है। कोई व्यक्ति जो कुछ अपने लिए अर्जित करता है, यह वही है। मनुष्य के आन्तरिक जीवन मे या व्यावहारिक जगत में उसकी एक विशेष प्रकृति होती है। जैसे- अग्नि तपन तथा पानी शीतलता उत्पन्न करता है। इससे अलग कोई दूसरा परिणाम इनसे उत्पन्न नहीं होते। ठीक यही स्थिति मनुष्य के कर्म के साथ है। उसका भी प्रत्येक कर्म अपने साथ एक विशेष परिणाम उत्पन्न करता है।[3] इसी को कुरान मे प्रतिफल, प्रतिकार या न्याय के अद्भुत अभिप्राय में व्यक्त किया जाता है।[4]

जो गुण प्रकृति में ईश्वर की रबूबियत और रहमत के रूप में कार्यरत हैं, उनसे जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन परिणामों को भय के दबाव से उत्पन्न नहीं किया जाता, बल्कि योग्यता एवं न्याय के बल पर उत्पन्न किया जाता है। जबकि उत्पन्न जगत अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर की 'रबूबियत' और 'रहमत' पर निर्भर है, फिर भी अपनी पूर्णता के लिये यह ईश्वर की हर चीज के साथ न्याय करने वाले गुण पर भी आश्रित हैं।[5] न्याय रूपी गुण की आवश्यकता सृष्टि रचना को पूर्णता प्रदान करने के लिए होती है। जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति 'रबूबियत' और 'रहमत' करते हैं। न्याय का गुण अथवा सिद्धान्त उसके अन्दर छिपे सारे दोषों को मिटाने के लिए सौन्दर्य और संतुलन देता है, जिसकी उसे आवश्यकता है। जीवन के इस पहलू में यदि गहराई से देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि यह न्याय की ही शक्ति है, जो जीवन में जहॉ कही भी व्यवस्था या सौन्दर्य विद्यमान है, उसके लिए उत्तरदायी है।[6]

अरबी में 'अदल' या न्याय का अर्थ है- समरूप बनाना। 'अदल' और न्याय शब्द का प्रयोग तराजू के अर्थ में भी होता है।[7] जीवन में सतुलन लाना न्याय का कार्य है। एकता और समन्वय लाना भी न्याय का ही गुण है। यही वह आधार है, जिस पर सम्पूर्ण जगत की योजना आधारित है। प्रत्येक नक्षत्र और तारा आकाश में उचित सम्बन्ध में गतिशील है। 'रहमत' हमेशा न्याय से युक्त है।[8] कुरान के अनुसार यही उचित धर्म है, और जीवन का सच्चा मार्ग है।[9] कुरान कहता है कि ईश्वर परम् न्याय प्रिय शासक है।[10] ईश्वर अपने न्याय के गुण का प्रयोग मनुष्यों के कर्मो के अनुसार करता

---

1 कुरान- 1 3
2 आजाद एम ए के - द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 89
3 वही, पृष्ठ- 90–91
4 कुरान- 45 21 22
5 आजाद एम.ए के - द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 93
6 आजाद एम ए के.- द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 93–94
7 आजाद एम.ए के.- द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 93
8 आजाद एम.ए.के.- द तर्जुमन-अल-कुरान (वॉल्यूम-1), पृष्ठ- 84–85
9 कुरान- 30 30
10 कुरान- 2 284, 11.111, 18.49, 21.47, 40.17

है। जो प्राणी सत्कर्मों को करता है, 'अखिरत' में उसके साथ न्याय होगा, और वह जन्नत का भागी होकर आनन्द मे निमग्न रहेगा।[1] यदि प्राणी दुष्कर्मी है तो उसे 'दोजख' में जाना होगा और उसे वहाँ तमाम प्रकार की यातनाये सहनी होगी।[2] जो सद्कर्म करेगा वह अपने लिए ही और जो दुष्कर्म करेगा वह भी अपने लिए ही।[3] कुरान मे तो यहाँ तक कहा गया है कि पूर्वजो के सत्कर्मो में भी किसी को कोई हिस्सा नहीं मिलेगा, अर्थात् हमारे किये ही कार्य हमारे सामने आयेंगें।

मुस्लिम रहस्यवादी दार्शनिकों की दृष्टि में ईश्वर के कुछ गुण

ईश्वर के विभिन्न नाम और गुणों के सम्बन्ध में सभी मुस्लिम धर्मानुयायी एकमत नहीं हैं। अपनी रूची और उद्देश्य के अनुसार ईश्वर के नाम और गुण बतलाते हैं। मुस्लिम रहस्यवादी दार्शनिकों ने ईश्वर के 'सप्त गुण' (सिफाते समानिया) पर प्रकाश डाला है, जो उसके अनुसार सृजनकर्ता और उसकी उस सृजन के बीच पायी जाने वाले सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट एव व्याख्यायित करने मे महत्वपूर्ण है, जिसमें मनुष्य और प्राकृतिक जगह दोनों सम्मिलित हैं। ये 'सिफाते-समानिया' निम्नोक्त हैं-

1- हयात 2- इल्म 3- कदर 4- इरादा 5- समाअ 6- बसर 7- कलाम।

हयात

मुस्लिम विचारकों के अनुसार अल्लाह ही एकमात्र पूज्यनीय सर्वोच्च शक्ति है। कुरान में कहा गया है कि यदि पूजितों की सख्या दो होती तो जमीन और आसमान बर्बाद हो गये होते।[4] अल्लाह एक है, सब उसके आश्रित हैं, न उसके पुत्र पुत्री हैं और न वह किसी से जन्मा है, और न कोई उसकी समता का है।[5] अत· सिर्क से वह अछूता है।[6] अल्लाह मानव जाति की समस्त कमियों से परे है। अल्लाह अदृश्य है और रूप, रंग, आकार और खण्डों से रहित है।[7] वही आदि है, वही अन्त है।[8] वह पलक झपकते ही सम्पूर्ण जगत का विनाश और निर्माण दोनों कर सकता है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।[9] ससार की प्रत्येक घटनाओं की लाभ-हानि से वह परे है। यदि सभी धार्मिक अधार्मिक बन जायें और सभी अधार्मिक धार्मिक बन जायें तो भी ईश्वर को कोई हानि-लाभ नहीं है।

---

1 कुरान- 2 25, 19 60, 10 9, 47 12
2 कुरान- 10 4, 19 85—86
3 कुरान- 17 25, 27 88
4 कुरान- 21 22
5 कुरान- 19 88, 112 1—4
6 कुरान- 16 1, 25 2, 30 40, 59 23
7 टी०पी० ह्यूस - ए डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 145—146
8 कुरान- 57 3
9 कुरान- 2 253, 3.40, 5.1, 10 49, 85.16

'इल्म'

कुरान में ईश्वर अपने आप को 'आलिफ-लाम-मीम' के गहन शब्दों द्वारा प्रकट करता है- अर्थात मै अल्लाह हूँ, श्रेष्ठतम् ज्ञाता। अल्लाह को व्यक्त और अव्यक्त समस्त चीजों का पूर्ण ज्ञान है, चाहे, वे आसमान में हो या जमीन पर।[1] वह सर्वज्ञ और ज्ञानमय है।[2] अल्लाह भूत, वर्तमान और भविष्य की समस्त घटनाओं का ज्ञाता है, और मनुष्य तमाम प्रयास करने पर भी उसके ज्ञान पर अधिकार या नियन्त्रण नहीं रख सकता है।[3] वह मनुष्य के हृदय की बातो को भी जानता है, और जो कुछ भी मानव अपने मुख से उच्चरित करने वाले हैं, ईश्वर उसे भी जानता है।[4] वह मस्तिष्क की धारणाओ को और विचारों की गति को भी जान लेता है,[5] क्योंकि उसका ज्ञान अनन्त है। यह ईश्वर का अनादि गुण है। अल्लाह विस्मृति असावधानी और भ्रम से परे है। उसका ज्ञान अनादि और अनन्त है। अत उसे उसके सार के बाद नहीं माना जा सकता है।[6]

'कदर'

कुरान में अल्लाह को सर्वशक्मिान और अविनाशी बताया गया है।[7] वह सम्पूर्ण जगत को सम्भालने वाला है।[8] असावधानी, अचेत और निद्रा से रहित है। ईश्वर चाहे तो मुर्दो को जिला सकता है, और पाषाण को भी वाणी दे सकता है।[9] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का सृजन है।[10] वह जिसको चाहता है उच्चता प्रदान करता है और जिसको चाहता है नीचे गिरा देता है।[11] सर्वत्र उसी का शासन है। वह किसी को कम रोजी देता है तो किसी को नपी-तुली।[12] जिसको चाहता है उसको क्षमा करता है और जिसको चाहता है दण्ड देता है।[13] कोई भी प्राणी ईश्वर से विद्रोह करके उसका कुछ नहीं बिगाड सकता है। ईश्वर जिस अपार शक्ति का स्वामी है, वह किसी की दया पर निर्भर नहीं है। ईश्वर की शक्ति,नित्य, अनादि और अनन्त है।

---

1 कुरान- 3 5, 11 123, 13 9, 18 26, 22 70
2 कुरान- 2 29,6 80,19 64,65 12
3 कुरान- 2 110 – 111
4 कुरान- 2 135,3 39,6 3,1 5,40 19,57 3,67 13
5 कुरान- 20 7,34 3,35 11
6 जेम्स हेसटिंग्स- इनसाईक्लोपीडियॉ ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स (वाल्यूम-VI), पृष्ठ- 300
7 कुरान- 2 106,129,255,3 189,6 17,9 39,15 77
8 कुरान- 1 1, 2 255, 3 2, 13 16, 38 66
9 कुरान- 2 28, 6 95, 29 19
10 कुरान- 2.28, 10.34, 15 86, 25.2
11 कुरान- 3 26–27
12 कुरान- 2 212, 6 14, 15.19
13 कुरान- 3 26, 12 56, 34 26

'इरादा'

अल्लाह जो कुछ भी इच्छा करता है, वह कर सकता है और जो कुछ वह चाहता है वह होकर ही रहता है।[1] सम्पूर्ण जीव जगत की सृष्टि ईश्वर की इच्छा का ही परिणाम है। ईश्वर जिसको चाहता है, उसे अपनी दया के लिए चुनता है, और शक्ति प्रदान करता है।[2] वह अपनी इच्छा का एकमात्र सचालक है, और उसने जो कुछ भी सकल्प या निर्णय लिया है, उसमे परिवर्तन नहीं किया जा सकता और न ही उसमें क्षणमात्र का बिलम्ब हो सकता है।[3] कोई भी चीज चाहे कम हो या अधिक, छोटी हो या बडी, शुभ हो या अशुभ, लाभ दायक हो या हानिप्रद, विश्वासपूर्ण हो या अविश्वासपूर्ण, ज्ञानपूर्ण हो या मूर्खतापूण, सौभाग्यपूर्ण हो या दुर्भाग्यपूर्ण, आज्ञा पालन हो या विद्रोह सभी कुछ उसी की इरादा से सचालित और नियन्त्रित होते है।[4] अल्लाह किसी भी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं है। मनुष्यों में धार्मिकता, अधार्मिकता, विश्वास और अविश्वास सब उसी की इच्छा से उत्पन्न होते हैं।[5] अत हम जो कुछ भी करते हे, उसी की इच्छा से करते हैं।

अब यहॉ एक प्रश्न यह उठता है कि अल्लाह ऐसी इच्छा क्यों नहीं करता कि सभी मनुष्य शुभ कार्य ही करे? इस प्रश्न के उत्तर में मुस्लिम रहस्यवादियो का कथन है कि ईश्वर जो कुछ भी करता है उसके विषय में जाचने का हमें कोई अधिकार नहीं है। ईश्वर अपनी इच्छा के सम्पादन में स्वतत्र है। शुभ या अशुभ जो कुछ भी होता है, उसके निर्णय या इच्छा के पीछे ईश्वर का विवेकपूर्ण लक्ष्य है।[6] ईश्वर की इच्छा उसके सार में रहती है, उसके गुणों के बीच स्थिर रहती है।[7]

'समाअ'

अल्लाह सभी आवाज सुनने में सक्षम है, चाहे वह आवाज तीव्र हो या मंद।[8] कोई भी चीज दूर हो या नजदीक उससे ईश्वर की श्रवण क्रिया में बाधा नहीं पहुँचती है। अल्लाह बिना कानों के सुनता है और बिना ऑखो के देखता है, और बिना हृदय के सब कुछ जान लेता है।[9] तीनों लोकों में जहॉ कहीं भी बात होती है, ईश्वर उन सभी बातों को सुनता रहता है। सुनने में कभी भी उससे भूल नहीं होती है।

---

1 कुरान- 85 16, 2 253, 3 40, 10 49
2 कुरान- 3 13
3 कुरान- 2 17, 3 47, 6 73, 40 68
4 टी०पी० हघ्स - ए डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 146
5 जेम्स हेसटिंग्स- इनसाईक्लोपीडियॉं ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स (वाल्यूम-VI), पृष्ठ- 300
6 टी०पी० हघ्स - ए डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 146
7 जेम्स हेसटिंग्स- इनसाईक्लोपीडियॉं ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स (वाल्यूम-VI), पृष्ठ- 300
8 कुरान- 31 28, 49 1
9 कुरान- 3 29, 6.3, 13 42, 31,23

'बसर'

संसार की कोई भी सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी ईश्वर की दृष्टि से नहीं बच सकती है।[1] अन्धकार हो या प्रकाश, दूर हो या नजदीक कुछ भी उसकी दृष्टि के लिए बाधक नहीं है। ईश्वरबिना किसी शारीरिक अंग की सहायता से अपने समस्त कार्यों को सम्पादित करता है।[2] और बिना किसी यन्त्र की सहायता से उसका सृजन करता है, क्योकि उसका गुण या स्वभाव मनुष्यों के गुण या स्वभाव से उसी प्रकार भिन्न है, जिस प्रकार मनुष्यों के तत्व में और उसके तत्व मे कोई समानता नहीं है।

'कलाम'

अल्लाह देखने और सुनने के समान बोलता भी है। दैवी सत्ता के अन्य गुणों में वाणी या कलाम को भी सम्मिलित किया गया है। जैसा कि कुरान में कहा गया है- अल्लाह ने मूसा से बात-चीत की,[3] अल्लाह ने अन्य पैगम्बरो से बात-चीत की।[4] मनुष्यों के समान ईश्वर आमने-सामने होकर जिह्वा से बात नहीं करता है। कुरान में तीन प्रकार के ईश्वरीय कलाम की चर्चा मिलती है-

1 वह्य या कोई दैवी प्रेरणा या प्रज्ञान द्वारा

2 गैबी आवाज या आवरण की ओर से या आकाशवाणी

3 प्रेषित

ईश्वर अपने सेवकों से बिना किसी मध्यस्तता के बात करता है। ईश्वर अनन्त काल से बोलता आया है, बोल रहा है और भविष्य में भी बोलेगा। उसमें समय-समय पर सभी राष्ट्रों को दैवी-वाणी दिया है और उस राष्ट्र की विशेष भाषाओं में दैवी-प्रकाशनों को प्रतिपादित किया है। ईश्वर सामान्य से सामान्य मनुष्यों से भी बातें करता है। कुरान स्वय ईश्वर का वचन है, और उसे नित्य माना गया है।[5] अल्लाह अपने दूत जिब्राइल के माध्यम से अपने अनन्त,नित्य एव प्राचीन शब्दों द्वारा बोलता है, घोषित करता है, आदेश करता है, निषेध करता है, वचन देता है और नियन्त्रण करता है।[6] अत हम कह सकते है कि कुरान ईश्वरीय वचन के रूप में मानव जाति का पथ प्रदर्शक है।[7]

ईश्वर के उपरोक्त सभी गुण अविनाशी है। अतः इनकी उत्पत्ति और विनाश की कल्पना करना सम्भव नहीं है। ये दैवी गुण समय और परिस्थिति के अनुसार अभिव्यक्त होते रहते हैं।

---

1 कुरान- 2 96, 10 61, 34 3, 65 12
2 कुरान- 3 47, 19 35, 36 82
3 कुरान- 4 164, 7 143
4 कुरान- 2 253
5 कुरान- 2 2, 4 82, 6 155
6 कुरान- 7 3, 14 52, 16 89, 20 2, 25 1
7 कुरान- 2 97, 3 138, 5 15, 10 57, 20 2

'ईश्वर का व्यक्तित्व'

ईश्वरवादी सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर का वैयक्तिक तथा विश्वातीत विचार यह निर्दिष्ट करना है कि ब्रह्माण्ड एक देव द्वारा निर्मित है जिसके स्वरूप को हम स्वय अपने स्वरूप की आकृति द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व उसके शरीर और एक विश्वातीत आत्मा से सयुक्त है। इनमे बाद वाली सत्ता आवश्यक या सारमृत है तथा पहले वाली मत्ता सम्भावित या आकस्मिक है। इद्रियातीत या विश्वातीत आत्मा अपनी क्रियात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा जानी जाती है। ईश्वर भी अपने गुणों के द्वारा ठीक इसी प्रकार जाना जाता है। ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक है। इन गुणो के द्वारा ईश्वर स्वय को अभिव्यक्त करता है।

ईश्वर के व्यक्तित्व का यह भी अर्थ होता है कि यद्यपि ईश्वर ब्रह्माण्ड या मानवीय आत्माओं का स्रोत है फिर भी वह उनसे अलग है। ईश्वर आत्म-चेतन और स्व-सकल्पवान है। ससार मे उसकी उपस्थिति सर्वत्र है, परन्तु वह ससार का एक भाग नहीं है।[1] ईश्वर जगत से परे है। यह कभी भी सम्भव नहीं है कि मनुष्य या ब्रह्माण्ड उसके तुल्य सिद्ध हों या उसके अन्दर विलीन हो जाय।[2] आत्मा अपनी एकरूपता को भौतिक शरीर के नाश हो जाने के बाद भी धारण किये रहती है।

मनुष्य और ईश्वर के बीच ईश्वरवाद मे पूजक और पूज्य का सम्बन्ध है। मनुष्य ईश्वर को प्रेम करता है, उसकी पूजा करता है, उससे प्रार्थना करता है तथा ईश्वर से ही सहायता मांगता है। जब मनुष्य सुख में होता है तब ईश्वर को धन्यवाद देता है तथा उसकी प्रशसा करता है। अपने इन सभी चेष्टाओं या भावों द्वारा मनुष्य ईश्वर की निकटता पाने का प्रयास करता है जिसमे उसकी मुक्ति (निहित) है।

सर्वेश्वरवादी जिन्हे निरपेक्षवादी भी कहा जाता है, ईश्वरीय अवधारणा या ईश्वर के वैयक्तिक अवधारणा का विरोध करती है। सर्वेश्वरवाद ईश्वर के वैयक्तिक या गुण सम्बन्धी स्वरूप का निषेध करता है। उसके अनुसार ईश्वर में गुणों के आरोपण के किसी भी प्रयास का परिणाम उसकी सत्ता को सीमित कर देना होगा। ईश्वर पूर्ण रूपेण अवैयक्तिक और निरपेक्ष है। उसे जानने या ग्रहण करने के हमारे प्रयासो में वह विघ्न उत्पन्न कर देता है। ईश्वर की सत्ता में गुणों का आरोपण करना उसकी सत्ता को सीमित कर देना होगा।

जब ईश्वर अवैयक्तिक, अग्राह्य और गुण-रहित है तब कोई मनुष्य उसके साथ प्रेम और पूजा का कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता है क्योंकि निरपेक्ष ईश्वर से न तो प्रेम किया जा सकता है और न ही उसकी पूजा की जा सकती है। इस प्रकार का सम्बन्ध केवल दो व्यक्तियों के बीच ही हो सकते हैं। यदि सम्बन्ध की एक सीमा अवैयक्तिक है तब सम्पूर्ण सम्बन्ध ही समाप्त हो जायेगा। हम ईश्वर से प्रेम तथा पूजा तभी कर सकते हैं जब ईश्वर हमारे समान वैयक्तिक

---

1 हॉकिम के०ए० - इस्लामिक आडियोलाजी, पृष्ठ- 36,37

2 हॉकिम के०ए० - इस्लामिक आडियोलाजी, पृष्ठ- 38

हो।। सर्वेश्वरवाद में ईश्वर से प्रेम नहीं किया जाता बल्कि वह सिद्धि की एक वस्तु है। मनुष्य या तो यह समझता है कि मात्र ईश्वर की सत्ता है, उसकी सत्ता नहीं है या यह अनुभव करता है कि वह वास्तव मे ईश्वर की सत्ता का एक भाग है।

अत यह कहा जा सकता है कि इस्लाम का ईश्वर वैयक्तिक है। क्योंकि कुरान और हदीसों में प्राप्त ईश्वर का निरूपण वैयक्तिक ईश्वर को प्रकट करता है। कुरान एव हदीस के आधार पर अनेक मुस्लिम विचारकों ने भी ईश्वर को व्यक्तित्व से युक्त माना है तथा ईश्वर की वैयक्तिक अवधारणा को प्रस्तुत किया है।[1] ईश्वर वैयक्तिक है। व्यक्तित्व व्यष्टित्व के अनुरूप नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक है। व्यक्तित्व में आत्म-चेतना, स्वतंत्रता, न्याय और दया सम्मिलित है।[2] एक प्राणी जो इन गुणों से रहित है उसे विधिपूर्वक और तार्किक रूप से व्यष्टि भले कहा जाय किन्तु व्यक्ति नहीं कहा जा सकता।

कुरान एव हदीस के अनुसर केवल ईश्वर ही यह जानता है कि न्याय का दिन कब घटित होगा।[3] के वल वहीं यह जानता है कि गर्भ का भ्रूण पुत्र में या पुत्री में विकसित होगा।[4] मनुष्य के मृत्यु स्थान का और कल का ज्ञान मात्र उसी को है।[5] वही वह शक्ति है जो वर्षा करवाती है।[6] ये ऐसे तथ्य हैं जिसके बारे में मानवीय सत्ताओ को कोई पूर्व ज्ञान नहीं रहता है।

जहॉ तक ईश्वर की कृपा का सम्बन्ध है हम मुस्लिम विचारकों के साथ कह सकते हैं कि अन्तर्ज्ञान से प्राप्त ज्ञान एक दैवी उपहार है।[7] मनुष्य द्वारा अर्जन का उसमे कोई स्थान नहीं। उनके अनुसार ईश्वर के सार के प्रति प्रेम पूर्णत ईश्वरीय कृपा पर निर्भर है। मनुष्य उसे स्वय के परिश्रम या प्रयत्न से प्राप्त नहीं कर सकता।[8]

कुरान के अनुसार ईश्वर पूर्ण स्वतत्र है और सर्वशक्तिमान है।[9] रहस्यवादी विचारक कहते हैं कि वही वह शक्ति है जिसने मनुष्य को सापेक्ष पूर्णता प्रदान किया है।[10] वह जिसको चाहता है सम्मान देता है और जिसे चाहता है उसे तिरस्कृत करता या दण्ड देता है।[11] वह मनुष्य के जीवन मृत्यु का मालिक है और वही इसे सम्पादित करता है।[12] वह

---

1 डॉ० नबी- डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रीलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ- 47,48, 69,70, 88,90,109

2 फारूकी- द मुजदिद्स कनसेप्शन ऑफ तौहिद, पृष्ठ- 62

3 कुरान- 42, 84, 85, 6 80, 41 47

4 कुरान- 13 18—10, 42 49—51

5 वही- ३१ १४

6 वही- 14 34, 16 5—18, 16 65, 66, 22 65, 66, 23 17—22

7 डॉ० नबी- डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रीलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ- 69

8 वही, पृष्ठ- 69

9 कुरान- 16 77, 35 1,2,64 1,2 20

10 डॉ० नबी- डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रीलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ- 70

11 कुरान- 2 247, 3 26, 27, 24 38, 29 62

12 कुरान- 29 19, 30 40, 42 9

एकमात्र दाता है।[1] जब वह किसी को कोई चीज प्रदान करता है तो कोई भी शक्ति उसे रोक नही सकती।[2] वही एकमात्र सृजन कर्ता है।[3] शुभ और अशुभ जो भी कर्म मनुष्य करता है वह ईश्वर द्वारा सृजित है।[4] राजा भी उसकी मुट्ठी मे है।[5] वह अपने प्राणियो पर शासन करने के लिए उनके कृत्यानुसार या तो सहृदय अथवा निर्दयी राजा को नियुक्त करता है। सक्षेप मे यह सभी बाते ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ प्रकट करती हैं, और ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता उसके सृजन में उसकी नितान्त स्वतत्रता को व्यक्त करती है।

न्याय और कृपा अपने प्राणियों के प्रति ईश्वर का व्यवहार है। परन्तु एक दूसरे के प्रति प्राण्यिो का कृत्य सदैव ही न्याय और कृपा पर आधारित नहीं होता। प्राय ऐसे व्यवहार कठोरता पर भी आधारित होते हैं। अन्यायी तथा दूसरों के प्रति जुल्म करने वाले व्यक्ति के कार्यों की समीक्षा ईश्वर स्वयं करता है। ईश्वर के निरपेक्ष न्याय से कोई भी प्राणी नहीं बच सकता है।[6] ईश्वर के न्याय से पैगम्बर भी नहीं बच सकता है। पैगम्बर के शब्दों मे - यदि वह मुझको और मेरे भाई को (मूसा) नरक की अग्नि में फेक देता है तो उस पर निर्दयता या अन्यायी का दोषारोपण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर की सम्पत्ति मानी जाती है और जो कोई अपनी सम्पत्ति को अपनाता है या त्यागता है, तो उसके आधार पर हम उसे निर्दयी नहीं कह सकते हैं।[7]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस्लाम का ईश्वर के व्यक्तित्व से क्या आशय है। इसके अनुसार ईश्वर वैयक्तिक है। ईश्वर का अपने प्राणियों के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध है। वह अपने प्राणियों की पुकार का उत्तर जोशपूर्वक जोश के साथ देता है।[8] ईश्वर उन्हें स्वय साक्षात्कार द्वारा प्रेम करता है, और उन्हें उच्चपद और स्थान से सुसज्जित करता है।[9] ईश्वर का प्राणियो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुस्लिम रहस्यवादी विचारकों के अनुसार ईश्वर अपने प्राणियों के अतिसन्निकट है। ईश्वर अपने प्राणियों में व्याप्त भी है, और साथ ही साथ विश्वातीत भी है।[10]

ईश्वर के विषय में देखने वाला, सुनने वाला, प्रेमी, नियन्त्रणकर्ता आदि कुरान के सम्बोधनों को देखकर ऐसा लगता है कि ईश्वर को भी जीवित प्राणी के सदृश देखने और सुनने के लिए ऑख और कान आदि अंग है। लेकिन कुरान मे प्रयुक्त उक्त शब्दों को किसी ऐसे अर्थ में नही लिया जाना चाहिए जिससे दैवी सत्ता के जीनृर्थोपोमार्फिक (ईश्वर को मनुष्य के तुल्य मानने की) अवधारणा का विकास होता है।[11] कुरान में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि ईश्वर सभी

1 वही- 15 20, 42 19, 51 58
2 कुरान- 3 26, 26 23, 36 38
3 वही- 2 28, 116, 117, 15 86, 16 38, 23 12—22, 24 45, 25 21, 36 79—81, 39 5,6
4 वही- 37 96
5 वही- 23 84—89, 95.8, 2 107, 5 120, 12 40, 20 114, 38.65, 66
6 कुरान- 10 4, 11.111, 21 47, 88 25
7 डॉ० नबी- डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रीलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ- 70
8 कुरान- 2 186, 11 61, 37 75, 40 60, 57 9
9 कुरान- 2 112, 3 26, 15.19, 53 43
10 डॉ० नबी- डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रीलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ- 124
11 मोहम्मद अली- द रिलिजन ऑफ इस्लाम, पृष्ठ- 154

भौतिक धारणाओ या सीमाओ से ऊपर है। यद्यपि कि दृष्टि उसको नहीं पा सकती लेकिन वह दृष्टि को पा लेता है।[1] कोई चीज ईश्वर जैसी नहीं है।[2] अत जब हम कहते हैं कि ईश्वर देखता है या सुनता है तब इसका अर्थ यह नहीं है कि उसको भी मनुष्य के समान ही ऑख या कान है अथवा उसे भी हमारी तरह चीजों को देखने या सुनने के लिए वाह्य साधनो की आवश्यकता है। ऐसे ही जब कुरान मे यह कहा जाता है कि वह चीजों को बनाता है तो इसका अर्थ यह नहीं होता है कि उसके हाथ हैं और उस हाथ से चीजो को बनाने के लिए उपकरण की आवश्यकता है। इसी प्रकार ईश्वर का स्नेह प्रसन्नता या अप्रसन्नता आदि मे जीवधारी रचना से स्वतत्र हैं। कुरान में निर्दिष्ट ईश्वर के 'हाथ' शब्द का आशय जिसे वह चाहता है उसे उसकी कृपा प्रदत्त होने मे उसकी असीमित शक्ति का परिचय देना मात्र है। इसी प्रकार कुरान मे 'अर्श' का भी वर्णन मिलता है।[3] अर्श से यहॉ अभिप्राय उसकी नियन्त्रण शक्ति से है जिस प्रकार से एक राजा की गद्दी उसके शासन करने की शक्ति का प्रतीक है। अत· यहाँ ईश्वर के अर्श का अर्थ राजसिंहासन नहीं लिया जाना चाहिए। ईश्वर के अर्श से तात्पर्य सम्पूर्ण सृष्टि रचना पर उसके नियन्त्रण शक्ति से है।

'तौहीद'

तौहीद अर्थात् ईश्वर की एकता इस्लाम धर्म का मूलाधार है। ईश्वर अपने सार में एक है, अपने गुणों में एक है और अपने कार्यो मे पूर्ण स्वतत्र है। उसकी समता किसी से नहीं है। कुरान में कहा गया है कि प्रत्येक पैगम्बर जो इस जगत में आया है ईश्वर की तौहीद के सदेश को ही लेकर आया है। कुरान में लिखा है- ''और (ये पैगम्बर) हमने तुमसे पहले भी जब कभी कोई पैगम्बर भेजा तो उस पर हुक्म उतारते रहे कि मेरे सिवाय कोई इबादत के काबिल नहीं सो मेरी ही इबादत करो।[4] इस्लाम में ईश्वर की एकता का समर्थन इस बात से भी हो जाता है कि यहॉ अनेकेश्वरवाद या ईश्वर के साथ शिर्क (भागीदारी) का बार-बार निषेध किया जाता है।[5] कुरान में इसे पाप समझा जाता है।[6] एकता का सन्दर्भ इस तथ्य से है कि ईश्वर के समान कोई पूज्यनीय नहीं है।[7] दैवी एकता की सर्वाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति कुरान-वाक्य-'लाइलाह इल-लल्लाह' में निहित है। यह चार शब्दों से मिलकर बना है- ला(नहीं), इलाह (वह जिसकी पूजा की जाती है), इला (सिवाय) और अल्लाह (दैवी सत्ता का व्यक्ति वाचक नाम)। इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ होता है कि सिवाय अल्लाह के कोई दूसरा पूज्य नहीं है, यही वह प्रकाशन है जिसे मुहम्मद की पैगम्बरी (भगवद्दूतता) . . ... मुहम्मदुरैसुलिल्लाह के प्रकाशन से सयुक्त कर इस्लाम में प्रवेश करते समय व्यक्ति को उपदेश के रूप में दिया जाता है।[8] कुरान में इबादत

---

1 कुरान- 6 103
2 कुरान- 112 104
3 कुरान- 23 116, 40 15
4 कुरान- 2 25
5 वही- 3 64, 4 48, 16 51
6 वही- 31 13
7 वही- 2 163, 3 64, 4 87, 28 70, 36 74, 39 65
8 कुरान- 3 144, 33 40

(पूजा) भी दैवी-एकता को ही प्रकट करता है। ईश्वर की एकता के विषय में मीर वली-उद्दीन का कहना है कि जिन्न और मनुष्यो की रचना के उद्देश्य को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने के लिए यह वाक्य "मैने जिन्नो और आदमियो को इसी मतलब से पैदा किया है कि वे हमारी इबादत करें पर्याप्त हैं।[1]

इस्लाम के अनुसार ईश्वर की एकता का अर्थ है ईश्वर अपनी सत्ता में एक है, अपने गुणों में एक है और अपने कार्यो में एक है। अपनी सत्ता मे एक भाव का अर्थ है कि न तो ईश्वरों की अनेकता है और न तो ईश्वरत्व मे सत्ताओ का बहुतायत है। गुणों में उसकी एकता यह अर्थ प्रकट करता है कि अन्य दूसरी सत्ता पूर्णता के साथ एक या अधिक दैवी गुणो को धारण नहीं करती। कार्यो में ईश्वर की एकता इस अर्थ को प्रकट करता है कि ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी उन कार्यो को नहीं कर सकता जिन्हें ईश्वर ने किया है, या जिनको ईश्वर कर सकता है।

दैवी एकता के इस सिद्धान्त 'खालिस तौहीद' (एकेश्वरवाद) को कुरान के एक अध्याय में संक्षिप्त किन्तु अच्छे ढग से समझाया गया है। वहॉ कहा गया है- ईश्वर जिसके हम उपासक हैं अकेला और निराला है। उसका कोई भी शरीक (भागीदार) नहीं है। वह एक ऐसी सत्ता है जिसमे बहुत अशों का योग भी नहीं है।[2] ईश्वर की एकता के सदर्भ में शिर्क (ईश्वर के साथ भागीदारी) का उल्लेख भी कुरान में बारम्बार हुआ है। शिर्क; तौहीद या एकता का विरोधी है। 'शिर्क' का अर्थ होता है- भागीदारी। कुरान में 'शिर्क' शब्द का प्रयोग देवताओं की ईश्वर के साथ सयुक्त करने या साहचर्य प्रदर्शित करने के लिए हुआ है। 'शिर्क' को सभी पापों में गम्भीर माना गया है[3], और यह कहा गया है कि अल्लाह मुश्रिकों (अनेकेश्वरवादियो) को तब तक क्षमा नहीं करता जब तक कि वे शिर्क को त्यागकर तौहीद को नहीं अपना लेते हैं।[4] कुरान में कहा गया है- "कहो कि अल्लाह के सिवाय हम किसी दूसरे की पूजा न करे और किसी चीज को उसका शरीक न ठहरायें और हममें से कोई अल्लाह के सिवाय किसी दूसरे को परवरदीगार न ठहरायें।[5] कुरान में शिर्क के विविध रूपों की चर्चा है किन्तु शिर्क का सर्वाधिक प्रत्यक्ष रूप वह है जिसमें ईश्वर के अलावा किसी अन्य चीज की पूजा की जाती है। जैसे- वृक्ष, पशु, पत्थर, मूर्तियॉ, नक्षत्र, प्राकृतिक शक्तियॉ या वे मानवीय सत्तायें जिन्हें उपदेवता, ईश्वर या ईश्वर के अवतार या ईश्वर के पुत्र-पुत्रियॉ मान लिया जाता है। दूसरे प्रकार का शिर्क जो कम प्रत्यक्ष है वह यह है दूसरी चीजों का ईश्वर के साथ संयुक्त किया जाना । जैसे यह मान लेना कि अन्य दूसरी सत्तायें भी उन्हीं गुणों को धारण करती है जो दैवी सत्ता में है। तीसरे प्रकार का शिर्क वह है जिसमें कुछ लोग अन्य को अपना स्वामी मान लेते हैं।[6] ऑख बन्द करके अपनी इच्छाओं का अनुसरण करना भी शिर्क है।[7]

---

1 कुरान- 55 56
2 कुरान- 112 1
3 कुरान- 31 13
4 कुरान- 4 48
5 कुरान- 3 64
6 कुरान- 9 31
7 कुरान- 25 43

शिर्क के विभिन्न रूपों में से मूर्तिपूजा को सर्वाधिक दोषी माना गया है। कुरान मूर्तियों के प्रति समर्पण का भी निषेध करता है।[1] इसी प्रकार सूर्य,चन्द्रमा, तारे आदि के आगे 'सिज्दा' (दण्डवत्, साष्टांग प्रणाम) न करके मात्र अल्लाह के आगे सिज्दा करने को कहा गया है, अन्यथा यह शिर्क हो जाता है।[2]

ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण

कुरान में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिये गये हैं। कुरान के अनुसार मनुष्य के चारों ओर और स्वय उसके व्यक्तित्व में ईश्वर के अस्तित्व के चिन्ह हैं, जिन्हें कुरान ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण स्वरूप उपस्थित करता है।[3] कुरान में ईश्वर की सत्ता से सम्बन्धित जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, उनको हम निम्नोक्त प्रकार से रख सकते हैं-

1- सृष्टि रचना से सम्बन्धित तर्क

2- मानवीय प्रकृति के प्रमाण

3- मनुष्य के ईश्वरदत्त ज्ञान पर आधारित तर्क

1- सृष्टि रचना से सम्बन्धित तर्क

ईश्वर की सत्ता के सन्दर्भ में इस्लाम धर्मग्रथ कुरान का प्रथम तर्क सृष्टि रचना से है, जो वस्तुत. 'रब' शब्द की परिधि में ही केन्द्रित है। दैवी वाणी जो सर्वप्रथम मुहम्मद को मिली, में कहा गया है कि - 'पढो अपने 'रब' का नाम लेकर, जिसने सबको सृजित किया है।[4] 'रब' का अर्थ 'स्वामी' है। किन्तु इस्लाम धर्म दार्शनिकों के अनुसार इसमें दो भाव निहित हैं। प्रथम 'पालन पोषण' करने वाला और द्वितीय व्यवस्था करने वाला अर्थात व्यवस्थापक। इस प्रकार 'रब' का अर्थ हुआ- जन्य वस्तुओं का पालन पोषण करते हुए प्रारम्भिक अवस्था से सर्वोच्च पूर्णता की अवस्था तक ले जाना। कुरान में एक स्थल पर इस तर्क को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह सब चीजों का सृजन करता है और पूर्णता तक पहुॅचाता है, वह चीजों को एक अन्दाज के अनुसार बनाता है और उन्हें वह मार्ग दिखलाता है जिसके द्वारा वे पूर्णता को प्राप्त कर सकें। कुरान के अनुसार- ''अपने रब के नाम की तस्बीह कर (प्रशंसा कर) जो सर्वोच्च है और जो सृष्टि का सृजन करता है, फिर दुरूस्त करता है, प्रत्येक चीज के लिए एक अन्दाज ठहराता है और उन्हें

---

1. कुरान- 6 137
2 कुरान- 41 37, 6 76, 16 51, 6 101, 4 171
3 वही- 6 100, 13 4, 25 45, 30 20, 35 9, 36 37
4. कुरान- 96 1

उनके लक्ष्य की पूर्णता की ओर मार्ग निर्देशन करता है।[1] ईश्वरीय क्षमता से ही सासारिक वस्तुए विकसित होती है तथा उसी से प्रेरणा पाकर अपने लक्ष्य मार्ग की ओर अग्रसर होती हुई पूर्णता को प्राप्त करती है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि सृजनात्मक शक्ति कोई अधशक्ति नहीं है, बल्कि वह विवेकयुक्त है और एक उद्देश्य के साथ कार्य करती है।[3] यह उद्देश्य है सम्पूर्ण सृष्टि को निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर प्रगतिशील करना। ईश्वर की सत्ता के प्रमाण के रूप में कुरान ने इस बात पर बल दिया है कि विभिन्नता का विस्तार होते हुए भी सम्पूर्ण विश्व के लिए एक ही नियम है, और नियम विश्व मे सर्वत्र व्याप्त है। वह निर्दोष, व्यापक और पूर्ण है। उसमें दोष या अपूर्णता देखने वाली दृष्टि थक कर लौट आती है। कुरान मे कहा गया है- अल्लाह ही है, जिसने तले-उपर सात आसमान बनाये। भला तुमको उस दयावन्त रहमान के पैदा करने में कोई कसर दिखाई देती है? फिर से एक निगाह दौड़ा (और देख) तेरी नजर (खिसयानी) थकी-हारी तेरी तरफ उल्टी लौट आवेगी।[4]

इस प्रकार जगत मे क्रम, व्यवस्था और अत्यन्त विभिन्नताओं मे एकरूपता का विधान होना, दैवी उद्देश्य और विवेक की मान्यता को पुष्ट करता है। इस जगत की वस्तुओ में जो अनुकूलता और एकरसता दिखाई देती है, उसे किसी अध अप्रत्याशित घटना का परिणाम नहीं कहा जा सकता है। निश्चय ही वह दैवी उद्देश्य और विवेक का परिणाम है। कुरान में स्पष्ट कहा गया है कि एक चेतन सत्ता सम्पूर्ण ब्रहमाण्ड का दिशा-निर्देशन कर रही है। और इस तर्क की सत्यता इससे प्रमाणित होती है कि छोटे से छोटे कण से लेकर विशालतम् ग्रहमण्डल तक प्रत्येक चीज नियम और व्यवस्था के अधीन है। कोई वस्तु किसी दूसरे के प्रगति मार्ग में विघ्न नहीं डालती, अपितु सभी चीजें पूर्णता प्राप्ति में सहायक बनती है।[5] अत इस संसार का नियन्त्रणकर्ता एकमात्र सर्वशक्तिमान ईश्वर ही हो सकता है, जो विशाल ब्रह्माण्ड का संचालन कर रहा है।[6]

2- मानवीय प्रकृति से सम्बन्धित तर्क

इस्लाम धर्म का यह तर्क मानवीय आत्मा से सम्बन्धित है। सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य में दैवी सत्ता के लिए एक चेतना है, एक अन्तर प्रकाश है जो उससे कहता है कि कोई एक सर्वोच्च सत्ता या ईश्वर है। यह अन्तर प्रकाश प्रायः एक प्रश्न के रूप में प्रकट होता है और मनुष्य की अन्तरात्मा के लिए एक अपील जैसा है। कभी-कभी कुरान में इन प्रश्नों को

---

1 कुरान- 87 1—3
2 कुरान- 6 97
3 कुरान- 3 191, 16 3, 38 27, 44 38
4 कुरान- 67 3—4
5 कुरान- 36 38, 41 11, 55 5
6 कुरान- 16 48, 45 12

बिना उत्तर दिये ही छोड दिया जाता है, और मनुष्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस प्रश्न पर अत्यन्त गहराई से विचार कर इसका उत्तर स्वय पा लेगा। वे प्रश्न ये हैं- क्या वे आप ही आप वन गये हैं या उनका काई रचयिता है? क्या वे अपने आप को खुद ही वनाने वाले हैं या इन्होनें आसमानों और जमीनों को पैदा किया?[1]

कभी-कभी कुरान मे इसका उत्तर दिया जाता है, कि अगर तुम इन लोगों से पूछो कि आसमानो और जमीनों को किसने पैदा किया तो फौरन वो कहेंगे कि इनको उस जबर्दस्त इल्म (ज्ञान) वाले अल्लाह ने पैदा किया है।[2] कुरान में एक स्थल पर स्वय ईश्वर ने ही सीधे मानवीय आत्मा से प्रश्न किया है कि, जब तुम्हारे परवरदीगार ने आदम के बेटों की पीठ से उनकी औलाद को निकाला था और उनके मुकाबले में अल्लाह ने उन्हीं को गवाह बनाया और पूछा क्या मै तुम्हारा स्वामी नहीं हूँ? सब बोले हॉ, हम आपको स्वामी मानते हैं।[3] यह स्पष्ट रूप से मानवीय प्रकृति का प्रमाण है। कुरान में कहा गया है कि हम उसके जिस्म की धडकती रग से अधिक उसके नजदीक हैं।[4] अत ये कुरान का यह प्रतिपादन की ईश्वर मनुष्य से उसकी अपनी आत्मा से भी निकटतर है, यह प्रकट करता है कि मानवीय आत्मा में ईश्वर के अस्तित्व की चेतना उसके स्वयं के अस्तित्व की चेतना की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट है।

अब यहॉ एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि यदि मानवीय आत्मा को ईश्वर की सत्ता के विषय में इतनी स्पष्ट चेतना है तो फिर कुछ लोग कैसे ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य का अन्त प्रकाश जो उसे ईश्वर की सत्ता के विषय में सचेत बनाता है सभी स्थितियों में समान रूप में स्पष्ट नहीं रहता है। कुछ लोग जो महान दैवी पुरूष हैं उनमें यह प्रकाश अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रकाशित होता है और उनकी ईश्वर के विषय में चेतना दृढ़ एव तीव्र होती है। परन्तु साधारण मनुष्यों में यह चेतना प्राय क्षीण होती है। फलस्वरूप वह ईश्वर में अनास्था प्रकट करता है। लेकिन नास्तिक या ईश्वर और आत्मा को न मानने वाला भी एक आदि कारण या एक सर्वोच्च शक्ति की सत्यता को स्वीकार करता है और खासतौर से विपत्ति या कठिनाई के समय में कभी-कभी यह चेतना उसमे जागृत होती है और अन्त·प्रकाश स्वयं दृढतापूर्वक स्वीकार करता है।

3- ईश्वर दत्त ज्ञान पर आधारित तर्क

ईश्वर की सत्ता से सम्बन्धित सर्वाधिक स्पष्ट और निश्चित प्रमाण दैवी-वाणी है। कुरान में कहा गया है कि ईश्वर कभी भी चुप नहीं रह सकता है।[5] ईश्वर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में अपना संदेश भेजा है। ईश्वर ने अपनी वाणी द्वारा मनुष्य के मन में उठने वाले सदेहो ओर शकाओं का समाधान किया है और यह स्पष्ट किया है कि ईश्वर की सत्ता

---

1 कुरान- 52 35
2 कुरान- 43 19
3 कुरान- 7 172
4 कुरान- 18 17
5 कुरान- 21 25

सदैव रही है। इस प्रकार रसूलो एव पैगम्बरों का आना ईश्वरीय सत्ता का श्रेष्ठतम प्रमाण है। ईश्वर के बारे मे सबसे विश्वसनीय ज्ञान इस्लाम में वही है जो रसूलों द्वारा दुनिया में अवतरित हुआ है।[1] इस्लाम का मानना है कि पैगम्बर प्रत्यक्षत ईश्वर के सम्पर्क मे आता है और सत्य के विषय में दी गयी उसकी सूचनायें असंदिग्ध होती है। पैगम्बर ज्ञान लोक मे सूर्य की तरह चमकते है और अज्ञान के अधकार को नष्ट करते हैं।

कुरान का दृढ विश्वास है कि पैगम्बर मुहम्मद साहब दैवी शक्ति सम्पन्न और ईश्वरीय संदेश के सच्चे वाहक हैं। मानवता की रक्षा के लिए उनके द्वारा किये गये कार्यो की सफलता में दैवी सहयोग की स्पष्ट झलक मिलती है।[2] इस प्रकार इस्लाम ईश्वरदत्त ज्ञान को ईश्वरीय सत्ता का स्पष्ट और निश्चित प्रमाण मानता है।

ईश्वरीय सौन्दर्य

इस्लाम के अनुसार ईश्वर सभी सौन्दर्यपूर्ण नामों से युक्त है, जैसा कि कुरान में कहा गया है- ईश्वर के अनेक सुन्दर नाम है,[3] जिसका आशय उनके अनुसार यह है कि वह सभी प्रकार के सौन्दर्य एव उदारता से युक्त है। कुरान में सौन्दर्य और दयालुता के लिए पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रकाश या ज्योति (नूर) शब्द भी सौन्दर्य को सूचित करते हैं। ईश्वर (अल्लाह) आसमान और जमीन का सौन्दर्य (नूर) है और उसके नाम भी सौन्दर्यूर्ण हैं।[4] तात्पर्य यह है कि अल्लाह अनेक सुन्दर नामों से युक्त है जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसे श्रेष्ठतम रचयिता कहा गया है।[5] जो प्रत्येक चीज को अत्यन्त सौन्दर्यमयी सृजित करता है।[6] यह सभी रूपों को सृजन करता है और उनका उत्तरोत्तर विकास करता है।[7] उसके द्वारा रचित प्रत्येक चीज में अनुरूपता और अत्यधिक सौन्दर्य होता है।[8] तारों से पूर्ण आकाश, जमीन और पेडो के सौन्दर्य इस बात की पहचान हैं।[9] वह मनुष्य को दैवी रग देने वाला श्रेष्ठतम दाता है।[10] उसने मनुष्य को श्रेष्ठतम आकृति (सूरत)[11] और सर्वाधिक सौन्दर्यपूर्ण रूप प्रदान करता है।[12] इतना ही नहीं बल्कि उसने उन जानवरों

---

1 कुरान- 4 13, 19 43, 21 74, 28 14
2 कुरान- 3 11, 20 2, 24 55, 30 4 40 51, 48 28
3 कुरान- 20 8, 59 24
4 कुरान- 7 180, 20 8
5 कुरान- 37 125
6 कुरान- 32 7
7 कुरान- 59 24
8 कुरान- 32 7
9 कुरान- 37 6
10 कुरान- 2 138
11 कुरान- 95 4
12 कुरान- 40 64

को भी सौन्दर्य से युक्त बनाया है जिन्हे मनुष्य सुबह चराने ले जाते हैं और शाम को वापस घर लौटा कर लाते हैं।[1]

इस प्रकार कुरान के उक्त मतो से यह प्रकट होता है कि ईश्वर सौन्दर्य से युक्त है। यदि ईश्वर में सौन्दर्य न होता तो सम्पूर्ण जगत मे सौन्दर्य का प्रादुर्भाव भी न हुआ होता। स्वय इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद का कथन है कि - ''ईश्वर सुन्दर है और सुन्दरता को पसन्द करता है।''[2] वस्तुत अल्लाह की ही वह महान ज्योति है जिसकी अन्धकारहीन आभा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित है। सम्पूर्ण जगत उसी से परिपूर्ण है और उसी से शोभा पा रहा है। उसका सौन्दर्य या छवि सम्पूर्ण जगत मे व्याप्त है।[3]

---

1 कुरान- 16 5–6

2 मु० फारूख खॉ- एक ईश्वर की कल्पना, पृष्ठ- 77 पर उद्धृत

3 कुरान- 24 35

चतुर्थ अध्याय

ईश्वर – जीव सम्बन्ध

प्रथम भाग – हिन्दू धर्म के संदर्भ में

आत्मा का स्वरूप

आत्मा हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण एव मूल्यवान वस्तु है। बृहद्. उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु है, क्योंकि आत्मा के लिए ही विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रिय कही जा सकती है।[1] छादोग्य उपनिषद में आत्मा को अजर अमर तत्व कहा गया है। यही वह तत्व है, जो पुत्रों से भी प्रियतर है, भौतिक समृध्दि से भी उच्चतर है और सभी वस्तुओं से मूल्यवान है।[2]

सामान्य व्यक्ति के लिए आत्मा ही जीव है। जीव शब्द का अर्थ है ऐसी वस्तु जिसमें श्वास का आवागमन हो। इसलिए सामान्य व्यक्ति जीव को वह भौतिक पदार्थ समझता हो, जो जाग्रत, स्वप्न तथा निद्रावस्था में वर्तमान रहता है। किन्तु आध्यात्मिक जगत में यह मत भ्रान्ति समझा जाता है, जैसा कि गीता में कहा गया है ईश्वर का एक अश मात्र जीव के रूप में पाया जाता है।[3]

भागवत का कथन है कि भगवान का एक सूक्ष्म रूप है, जो शरीर आदि गुणों से रहित होता है और न तो जिसे देखा जा सकता है, न सूना जा सकता है। इसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। जब इसमें आत्म तत्व को देखा जाता है, तो इसे जीव कहते है।[4] यदि हम असख्य प्राणियों को, जो हमारे इस भूतल पर विद्यमान हैं, देखें तो पायेंगे कि वे सब अलग है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से ये उनका कृत्रिम रूप है। तात्विक रूप से वे सब एक हैं। मोटापन, दुबलापन, चिन्ता, व्याधि, भूख, प्यास, भय, विग्रह, इच्छा, वार्द्धक्य, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान, दुख, आदि भावनाएं एक जीव अनुभव करता है, क्योंकि अज्ञानवश वह अपने शरीर को ही आत्मा समझता है। वास्तव में ये सब वस्तुएं आत्मा से सम्बन्धित नहीं हैं।[5]

तात्विक दृष्टि से शरीर आदि में आत्मा अवश्य है, किन्तु वह उससे पृथक है, तथा परमेश एवं आत्मा में अतर नहीं है। ईश्वर तथा जीव में तात्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।[6] उनमें एक ही अंतर है और वह अंतर यह है कि जीवात्मा

---

1 'आत्मानस्तु कामाय सर्व प्रियो भवति'- वृहद उपनिषद - 2/4/5
2 प्रेयोपुत्रात प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्व स्मात् -छादोग्य उपनिषद।
3 गीता 15/7
4 भागवत् 1/3/32
5 भागवत् 5/10/10
6 भागवत् 4/28/40–41

माया के वश मे होता है और ईश्वर माया का स्वामी है।[1] इसलिए जीव में जन्म, अनुभव, अस्तित्व, विकास, विनाश, ह्रास तथा लाभ की अनुभूति करना अज्ञान का ही प्रतीक है। वस्तुत पूछा जाय तो आत्मा शाश्वत, विशुद्ध, एक द्रष्टा, शरीर का आधार, स्वयप्रकाश, अपरिवर्तनशील आदि है। शरीर इसके विपरीत अशाश्वत, नश्वर, अपवित्र तथा अनेक हैं।[2]

शरीर को प्रकाशित करने वाली आत्मा ही है और वह शरीर से पूरी तरह अलग है। जिस तरह काष्ठ में अग्नि प्रकट होने पर उसमे नाश, दीर्घता, लघुता अनेकता आदि गुण जो काष्ठ में पाये जाते हैं, अग्नि मे प्रतीत होते हैं, जबकि वे गुण वस्तुत अग्नि के नहीं होते हैं, इसी तरह जब आत्मा अपने आप को शरीर समझ लेती है तो शरीर के गुणों को अज्ञानवश अपने गुण मानने लगती है। जिस तरह काष्ठ से मिलकर अग्नि प्रकट होती है और उससे वियुक्त होने पर अदृश्य हो जाती है, इसी तरह आत्मा के जीव रूप में प्रकट होने तथा अदृश्य होने को जन्म तथा मृत्यु का नाम दिया जाता है।[3] जिस तरह कोई व्यक्ति गेहूँ बोता है तथा पकने पर उन्हें काटता है, किन्तु वस्तुत वह उसे बोने तथा काटने से प्रभावित नहीं होता, वह तो उनका मात्र द्रष्टा रहता है, उसी प्रकार शरीर की समस्त क्रियाओं जैसे गर्भ में आना, जन्म लेना, बाल्यकाल, किशोरावस्था, यौवन, बृद्धावस्था तथा मृत्यु से आत्मा प्रभावित नहीं होती।[4]

तात्विक रूप से ईश्वर तथा आत्मा एक ही हैं। उनमे अन्तर नहीं है। छांदोग्य उपनिषद मे कहा गया है- ''तत् त्वमसि''।[5] बृहद उपनिषद घोषणा करता है- अहं ब्रह्मास्मि।[6] इस प्रकार ईश्वर तथा जीव की एकता का प्रतिपादन किया गया है। श्वेताश्वेतर उपनिषद जीव की एक ऐसे हस से तुलना करता है, जो ऊँचा ही ऊँचा उडता जाता है और जब ब्रह्म से तदाकार हो जाता है तो अमर हो जाता है।[7] वेदान्त सूत्र में भी आत्मा तथा परमात्मा की एकता पर जोर दिया गया है।[8] एक ही तत्व अनेक रूप में इसलिए दिखाई देता है क्योंकि माया का प्रभाव व्यक्ति पर छा जाता है। जिस तरह एक चन्द्रमा सरिता की तरगों में अनेक रूपों में प्रकाशित होता है, उसी तरह एक ही तत्व अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है। जिस तरह चन्द्रमा अपने प्रतिबिम्ब की पीडा से असंपृक्त होता है उसी तरह परमेश्वर जीवात्मा की वेदना से अप्रभावित होता है।[9]

जीव अपने प्रारब्ध के अनुसार विभिन्न रूप ग्रहण करता है। जब तक कर्म का क्षय नहीं हो जाता है तब तक यह चक्र चलता रहता है। जब तक धर्म तात्विकता के इस ऊचें धरातल पर नहीं पहुचता तब तक मर्म की बात पकड में आती ही नहीं और सत्य उपासक से दूर रहता है। हमें अपनी पशु बुद्धि को छोड़नी चाहिए क्योंकि इसी के कारण हम भेदों के

---

1 भागवत 4/28–63
2 भागवत 7/7–49
3 भागवत 11/22/45
4 भागवत 11/22/49
5 छा० उप० 6/8/7
6 बृहद 1/4/10
7 श्वेताश्वेतर उपनिषद - 1/6
8 वेदान्त सूत्र - 1/3/33
9 भागवत् - 3/7/10 – 3/3/10

चक्कर मे पडते हैं और आन्तरिक सत्यो के सत्य को समझ नहीं पाते है।[1]

छादोग्य उपनिषद मे आत्म तत्व को समझाने के लिए एक आख्यापिका का वर्णन है। इन्द्र तथा विरोचन, जो क्रमश देवताओ तथा असुरो के प्रतिनिधि हैं, प्रजापति के पास आत्मा विषयक सत्य जानने के लिए जाते हैं। प्रजापति इन्द्र के अज्ञान को दूर करते हुए कहते हैं कि आत्मा अजर अमर तत्व है। यह ससार की सभी वस्तुओं से मूल्यवान है।[2] हमें इस आत्मतत्व को समझना चाहिए और इसे अनात्मतत्व से अलग रखकर स्पष्टतापूर्वक हृदयगम करना चाहिए। इसके बिना अध्यात्म का रहस्य समझ मे नहीं आ सकता है।

आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति से भी आत्मा के विषय में जानकारी मिलती है। शंकराचार्य ने एक प्राचीन श्लोक को उदधृत कर समस्त व्युत्पत्तियों को एक साथ प्रदर्शित किया है। आत्मा जगत के समस्त पदार्थो में व्याप्त रहती है (आप्नोति), समस्त वस्तुओ को अपने स्वरूप मे ग्रहण कर लेती है (आदत्ते), स्थिति काल मे वह विषयो को खाती है अर्थात अनुभव करती है (अत्ति), तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है (सन्ततो भाव)। इन्हीं कारणों से आत्मा का आत्मतत्व है। आत्मा को ब्रह्म समझ कर ब्रह्ममय हो जाना ही मोक्ष है। यही सच्चिदानन्द है।[3]

आत्मा का शरीर से सम्बद्ध होना उसकी आत्मिक उन्नति में बाधक होता है। शरीर के कारण आत्मा विचार- शीलता के उस उच्चतम् धरातल तक नहीं पहुँच पाती जिस धरातल तक उसे पहुँचना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

ज्ञानी की आत्मा मृत्यु के पश्चात् अदृश्य जगत में चली जाती है, जहॉ वह देवताओं के साथ आनन्द की स्थिति मे रहती है, किन्तु अपवित्र आत्माए भूत-प्रेत आदि बन कर इसी जगत में मॅडराती रहती हैं। ज्ञानी जानता है कि शरीर आत्मा से चिपका दिया गया है। जब तक ज्ञान आत्मा को शरीर से मुक्त नहीं करता, वह बन्दीगृह की सलाखों में से ही सत्य को देखने के लिए विवश है। ज्ञानी जानता है कि इस जगत की ऐषणायें उसके बन्धनों को और भी अधिक जकड़ देती हैं।

जीवात्मा के शरीर

भौतिक गुण की दृष्टि से जीवात्मा के तीन शरीर हैं। वे हैं- स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। आत्मा का स्थूल शरीर माता-पिता की देन है। स्थूल शरीर पॉच स्थूल भूतों से निर्मित है। स्थूल शरीर का विकास अन्न से होता है। इस लिए इसे अन्नमय कोश भी कहा जाता है।

1 भागवत 7/5/12

2 छांदोग्य उपनिषद- ''प्रेयोपुत्रात प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्''

3 डॉ० दुर्गादत्त पाण्डेय- धर्मदर्शन का सर्वेक्षण, पृष्ठ - 420

दूसरे प्रकार का शरीर जो आत्मा ग्रहण करती है, उसे सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। इसे लिग शरीर भी कहा जाता है, क्योंकि यह चिन्ह का काम करता है जिसके द्वारा हमे आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है। सूक्ष्म शरीर पाँच ज्ञानेद्रियो, पॉच कर्मेन्द्रियो, प्राण, मनस और बुद्धि इन तेरह तत्वों से बना रहता है। इसलिए इसे प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय का सयोजन कहा जाता है। पाप-पुण्य सूक्ष्म शरीर में सचित रहते हैं और जब जीव दूसरे शरीर में जन्म लेता है तब सूक्ष्म शरीर ही उसके साथ जाता है।

तीसरे प्रकार का शरीर कारण शरीर कहा जाता है। यह अविद्या से निर्मित होता है। कारण शरीर उपर्युक्त दोनो जीवात्माओ के शरीरों का कारण है। मानसिक गुणों की दृष्टि से आत्मा तीन प्रकार की मानी गयी है- ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक। आत्मा मे ज्ञान, इच्छा, क्रियाशीलता, सुख, दु ख आदि निवास करते हैं, परन्तु ये गुण आत्मा मे तभी तक निवास करते हैं जब तक कि वह बन्धन ग्रस्त रहती है। ज्यो ही आत्मा मुक्त होती है त्योहि आत्मा के ये सारे गुण लुप्त हो जाते हैं।

आत्म चेतना की अवस्थायें

आत्मा का स्वरूप चेतन है, परन्तु माण्डूक्य उपनिषद में चेतना की चार अवस्थायें बतलायी गयी हैं।[1] वे हैं- जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय।

चेतना की पहली अवस्था जाग्रत है। इस अवस्था में चेतना या ज्ञान का विषय भैतिक जगत या बाह्य संसार है। इस अवस्था में बाह्य ससार का ज्ञान प्राप्त होता है। इस अवस्था में चेतना को "वैश्वानर" कहते हैं।

स्वप्न चेतना की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में चेतना या ज्ञान के विषय आन्तरिक होते हैं। चेतना सूक्ष्म विषयों का उपभोग करती है। इस अवस्था मे चेतना को "तैजस" कहते हैं।

चेतना की तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। इस अवस्था में आत्मा बाह्य और आन्तरिक किसी भी विषय का उपभोग नहीं करती वरन् केवल आनन्द का उपभोग करती है। इस अवस्था में चेतना का नाम 'प्राज्ञ' है।

तुरीय आत्म चेतना की चौथी अवस्था है। यह शुद्ध चेतना की अवस्था है। इस अवस्था में चेतना बाह्य, आन्तरिक, आनन्द आदि किसी भी विषय का भोग नहीं करती है। यह आत्मा की शुद्ध अवस्था है, जिसे चेतन, अचेतन, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी चेतना आत्मा को परमतत्व माना गया है। यह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य है। यह प्रपञ्चोपशम शात, शिव और अद्वैत है। यही परम तत्व है।

---

1 माण्डूक्य उपनिषद - 1/2-4

जीवात्मा की चार अवस्थाओ की तरह ब्रह्म की भी चार अवस्थायें हैं। सारा स्थूल जगत विराट या वैश्वानर का शरीर है। सारे सूक्ष्म पिण्ड हिरण्यगर्भ के शरीर हैं। माया सूत्रात्मा या ईश्वर का शरीर है। वह आत्म चेतन है और माया उसकी चेतना का विषय है। कार्य-कारण और आत्मा-अनात्मा से परे जो केवल चैतन्य है वह ब्रह्म कहलाता है। वह शुद्ध चैतन्य है जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है। वह लोकोत्तर आनन्द और पूर्ण स्वातत्रय है। इस प्रकार आत्मा ब्रह्म है। तुरीयावस्था का आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं।[1]

आत्मा के कोश

तैतरीय उपनिषद में आत्मा के पच कोशों का वर्णन किया गया है।[2] पचकोशों में मूल परमतत्व की खोज की गयी है। ये पच कोश है- अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमयकोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश।

स्थूल शरीर अन्नमय कोश है। यह अन्न पर आश्रित है। अन्नमय कोश के अन्दर प्राणमय कोश है। इसमे शरीर को जीवित रखने वाले वायु शामिल है। प्राणमय कोश प्राण पर आश्रित है। प्राणमय कोश के अन्दर मनोमय कोश है। यह मनस पर आश्रित है। इसमें स्वार्थ-साधक इच्छायें शामिल हैं। मनोमय कोश के अन्दर विज्ञानमय कोश है। इसमें विवेक बुद्धि और ज्ञाता ज्ञेय का भेद करने वाला ज्ञान शामिल है। यह बुद्धि के ऊपर आश्रित है। विज्ञानमय कोश के अन्दर आनन्दमय कोश है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से शून्य शुद्ध चैतन्य और आनन्द का निवास है। यह पारमार्थिक है और आनन्द रूप है। वास्तव में आनन्द आत्मा का कोश नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप ही है।[3]

परमसत्य या तत्व क्या है? जिससे जगत की उत्पत्ति होती है, जिसमें जगत की स्थिति रहती है तथा अन्त में जिसमे जगत का लय होता है।[4] उपनिषदों में बताया गया है कि यह परमतत्व अन्न, प्राण, मन, बुद्धि नहीं वरन आनन्दमय आत्मा (ब्रह्म) है।[5] शुद्ध शाश्वत आत्मा स्थूल देह, प्राण, मन, बुद्धि, आदि से भिन्न है। यह शुद्ध आनन्दमय चेतना है, यही ब्रह्म है।

1 माण्डूक्य उपनिषद - 1/9–12
2 तैतरीय उपनिषद- 3/1/2–6
3 तैतरीय उपनिषद- 3/1/2–6
4 माण्डूक्य उपनिषद- 2/7
5 'अन्योन्तर आत्मा आनन्दमय ----।" तैतरीय उपनिषद - 11/2/5

जीवों की कोटि

जितने व्यक्ति विशेष हैं, उतने जीव हैं। आत्मा मुक्त है किन्तु जीव बन्धन ग्रस्त है। जीव अमर है। शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव आत्मा मे लीन हो जाता है।[1] जीव को अपने किये हुए शुभ और अशुभ कर्मो के फल को भोगना पडता है। इसलिए जीव सुख और दु ख, पुण्य और पाप का भागी होता है। जीव शरीर और प्राण का आधार है।[2]

नैतिक दृष्टि से जीव की तीन कोटियॉ हैं- नित्य,मुक्त और बद्ध। नित्य जीव वे हैं, जो निरन्तर मुक्त रहे हैं। ये कभी भी बन्धनग्रस्त नहीं हो सके हैं। नारद, प्रह्लाद, शुक्र, सनकादि इस कोटि के जीव हैं।

मुक्त जीव उन आत्माओ को कहा जाता है, जो कभी बन्धनग्रस्त थे, परन्तु अब मुक्त हो चुके हैं। जनक, वशिष्ठ, व्यास आदि इस कोटि के जीव हैं। बद्ध जीव वे हैं, जो निरन्तर बन्धन में रहते हैं। इस कोटि के जीव का उदाहरण साधारण मनुष्य हैं, जो माया के दल-दल में फॅसे हुए है। ऐसे मनुष्य को ज्ञान नहीं रहता है कि मैं क्या हूँ? माया क्या है? तथा ईश्वर क्या है? न वे अपने को जानते हैं, न माया को और न ही ईश्वर को।

आत्मा का परिमाण और स्थान

हिन्दू धर्म में आत्मा के परिमाण और स्थान के विषय में अनेक महत्वपूर्ण विचार पाये जाते हैं। बृहद उपनिषद में बतलाया गया है कि आत्मा हृदय मे स्थित है और एक चावल या जौ के दाने के समान लघु, फिर भी यह सर्वाधिपति है और विश्व की सत्ता पर शासन करता है।[3] कठोपनिषद में बतलाया गया है कि आत्मा का आकार अगुष्ठ के बराबर है, और शरीर के मध्य भाग(हृदय) में निवास करता है।[4]

छादोग्य उपनिषद में आत्मा को प्रादेश मात्र बतलाया गया है।[5] तैतरीय उपनिषद में आत्मा का स्थान हृदय बतलाया गया है और हृदयान्तवर्ती आत्मा को मनोमय पुरूष कहा गया है।[6] हृदय में स्थित आत्मा को वाक्पति, चक्षुष्पति, श्रोत्रपति तथा विज्ञानपति कहा गया है।[7] किसी किसी उपनिषद में आत्मा का स्थान मस्तिष्क भी माना गया है, क्योंकि चेतना का केन्द्र हृदय नहीं, मस्तिष्क है। आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान से भी महान है। कठोपनिषद में आत्मा का सबसे प्रामाणिक विवरण

---

1 डॉ० भगवान मिश्र - विश्व के प्रमुख धर्म, पृष्ठ-4
2 वही, पृष्ठ-4
3 वृहदराण्यक उपनिषद - 11/6/1
4 कठोपनिषद - 11/2/12
5 छादोग्य उपनिषद - 5/18/1
6 तैतरीय उपनिषद -1/6/1–2
7 डॉ० आर० डी० रानाडे - उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृष्ठ- 92

है। इस उपनिषद मे बतलाया गया है कि आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान से भी महान है और इसका निवास हृदय में है।[1] इसी प्रकार का वर्णन छादोग्य उपनिषद मे भी प्राप्त होता है कि मेरे हृदय स्थित आत्मा चावल, जौ, सरसों के दाने से भी सूक्ष्म है, फिर भी पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और सभी लोकों से बडा है।[2]

अर्थात् तात्पर्य यह है कि हिन्दू धर्म की आत्मा नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म और ज्ञानियों से ही गम्य है। ज्ञानी पुरूष इस महान और विभु आत्मा को पहचानकर शोक करना छोड देते हैं।[3] आत्मा की सूक्ष्मता और महत्ता मानव कल्पना से परे है।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

हिन्दू धर्म ग्रथ मैत्री उपनिषद, यद्यपि यह परवर्ती उपनिषदों के अन्तर्गत है, निमित्त कारण का प्रश्न उठाती है और प्लेटो की रीति से आत्मा को क्रियात्मक शक्ति प्रदान करती है। यह हमें बतलाती है कि प्राचीन काल में बालखिल्य नामक ऋषि थे, जो प्रजापति कृतु के पास गये और उनसे पूछा कि शरीर रथ का सारथी कौन है? ''भगवन्! शरीर एक स्थिर रथ की भॉति है। क्या आप कृपा करके हमें यह बतला सकते हैं कि इसका संचालक कौन है? और उक्त उपनिषद हमें बतलाती है कि वे जो उत्तर चाहते थे वह यह था कि इस शरीर रथ का संचालक आत्मा है, जो शुद्ध, शान्त, शाश्वत, अज तथा अपनी महत्ता में संस्थित स्वतत्र सत्ता है।''[4]

इसके अतिरिक्त कौषितकीय उपनिषद का कथन है कि आत्मा को समस्त शारीरिक वृत्तियों की स्वामिनी तथा समस्त ऐन्द्रिक व्यापारों की अधिष्ठात्री समझना चाहिए। ''जिस प्रकार एक छुरा पेटी में रखा जाता है, आग चुल्हें में रखी जाती है, उसी प्रकार यह सचेतन आत्मा नख शिख शरीर में व्याप्त है। ये इन्द्रियॉ आत्मा पर उसी प्रकार निर्भर हैं जिस प्रकार निर्धन पुरूष धनी सम्बन्धी पर। जिस प्रकार धनी पुरूष अपने सम्बन्धियों के साथ भोजन करता है तथा सम्बन्धी धनी के आश्रय पर निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार यह सचेतन आत्मा भी इन्द्रियों के साथ आनन्द का उपभोग करती है तथा इन्द्रियॉ आत्मा के आश्रय में आनन्द का उपभोग करती हैं।''[5]

मैत्री और कौषितकीय उपनिषद के अवतरणों से हमे ज्ञात होता है कि किस प्रकार इन्द्रियॉ आत्मा पर निर्भर हैं तथा किस प्रकार आत्मा समस्त शरीर में परिव्याप्त है। अत· आत्मा और शरीर का अवियोज्य सम्बन्ध है।

---

1 ''अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जतोर्निहितोगुहाया।'' - कठोपनिषद - 1/2/20

2 छादोग्य उपनिषद - 11/14/3

3 मुण्डक उपनिषद - 1/1/6, कठोपनिषद - 2/21

4 मैत्री उपनिषद - 2/3–4

5 कौषितकीय उपनिषद - 4/20

जीव और ईश्वर (ब्रह्म) का सम्बन्ध

चैतन्य के आधार पर यदि विचार किया जाय तो जीव और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार अग्नि की सभी चिनगारियों मे उष्णता पायी जाती है, उसी प्रकार चैतन्य जीव और ईश्वर दोनों में पाया जाता है। इस दृष्टिकोण से जीव और ईश्वर एक दूसरे के अति निकट हैं। इस सदर्भ मे डॉ० राधा कृष्णन का कहना है कि यदि ईश्वर ब्रह्म है और जीव भी आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म के समान है तो ईश्वर तथा जीव के मध्य का भेद बहुत न्यून हो जाता है।[1]

जीव और ब्रह्म का भेद व्यावहारिक दृष्टिकोण से है, पारमार्थिक दृष्टिकोण से नहीं। जब श्रीरामचन्द्र जी ने हनुमान जी से प्रश्न किया कि तुम कौन हो? तो हनुमान जी ने उत्तर दिया- "व्यावहारिक दृष्टिकोण से मैं आपका दास हूँ तथा आप मेरे स्वामी है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से जो आप हैं वही मैं भी हूँ।" जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की विभिन्न सतहो पर पडता है तब जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और मलिन दिखलाई पडता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब अविद्या पर पड़ता है तो अविद्या की प्रकृति के कारण जीव भी विभिन्न आकार प्रकार का दिखलाई पड़ता है।

यहॉ पर ईश्वर-जीव सम्बन्ध के सदर्भ में 'तत्वमसि' महावाक्य का अर्थ जानना आवश्यक हो जाता है। उक्त वाक्य के अर्थ के सदर्भ में रामानुज और शकराचार्य परस्पर भिन्न विचार रखते हैं।

शकर मत में 'तत्' का अर्थ है- अल्पज्ञ चेतन जीव तथा त्वम् का अर्थ है- सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म। यहॉ अल्पज्ञ तथा सर्वज्ञ दोनों आपस में विरूद्ध धर्म हैं। ऐसे धर्मों के रहने पर भी शंकराचार्य जीव तथा ब्रह्म में अभेद सम्बन्ध स्थापित करते हैं। विरूद्ध धर्मों को छोड देने पर केवल 'चैतन्य' अश को ही लेकर दोनों में अभेद सिद्ध हो सकता है, अर्थात्- चेतन आत्मा और चेतन ब्रह्म दोनों एक हैं। भाग-त्याग-लक्षणा के द्वारा यह एकता सिद्ध की जाती है। इसप्रकार जीव तथा ब्रह्म दोनों में पूर्ण अभेद है।

यद्यपि रामानुज भी 'तत्वमसि' का अर्थ बतलाते हैं, परन्तु उनके अनुसार यह एक विशेष प्रकार का अभेद है। रामानुज ने तत्वमसि का अर्थ विशेष प्रकार से किया है। इस वाक्य में 'त्वम्' शब्द साधारणत· जीव के लिए आता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार त्वम् (तुम) का अर्थ है वह ईश्वर जो अचित-विशिष्ट-जीव-शरीरक है।[2] यानि अचेतन शरीर से विशिष्ट जीव के रूप में है। इस प्रकार 'त्वम' का अर्थ है- 'अचिदाविशिष्ट-जीव-शरीर वाला ब्रह्म'। इसमें जो तत् (वह) शब्द है उसका अर्थ भी ईश्वर ही है पर उसके एक भिन्न पक्ष की दृष्टि से, यानि जगत् के कारण के रूप में, जैसा कि छांदोग्य

---

1 डॉ० राधाकृष्णन - भारतीय दर्शन (भाग-2), पृष्ठ- 78

2 रामानुज - श्री भाष्य - 1/1/1
वेदार्थ संग्रह - पृष्ठ - 44

उपनिषद के उस सदर्भ मे प्रकट होता है, जिसमे यह वाक्य आता है। इस प्रकार 'तत्' (वह) पद से अभिप्राय है सर्वज्ञ, सत्यसकल्प जगत कारण ईश्वर।[1] इस प्रकार रामानुज के मत से तत्वमसि का अभिप्राय अन्तर्यामी तथा विश्व प्रपञ्च का निर्माता ईश्वर दोनो की तात्विक एकता है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से रामानुज और शकरमत में भिन्नता परिलक्षित होती है। अद्वैतमत मे आत्मा और ब्रह्म मे भेद नहीं माना गया है। 'तत्वमसि' का अर्थ शकर ने आत्मा और ब्रह्म में समस्त द्वैत के निषेध से लगाया है। आत्मा ब्रह्म के अलावा कुछ नहीं है। शकर के अनुसार आत्मा को ब्रह्म से अलग समझना ही अविद्या है और इसी अविद्या को दूर करना वेदान्त का लक्ष्य है। परन्तु रामानुज ने आत्मा और ब्रह्म में अद्वैत तो माना है, परन्तु यह अद्वैत एक विशिष्ट प्रकार है। रामानुज के अनुसार तत्वमसि का अर्थ आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य न होकर उनका अपृथक सिद्ध सम्बन्ध है।[3] तत्वरूप मे आत्मा और ब्रह्म एक हैं जैसे अश और अशी एक हैं, परन्तु इससे अश को अंशी नहीं कहा जा सकता है।

यद्यपि कि हिन्दू धर्म में जीव और ईश्वर मे अभेद सम्बन्ध माना गया है, तथापि दोनो में कुछ अन्तर भी है। ईश्वर अकर्त्ता है, जबकि जीव कर्त्ता है। ईश्वर मायोपहित ब्रह्म है, जबकि जीव अविद्या ग्रस्त है। ईश्वर तटस्थ द्रष्टा तथा कर्माधयक्ष है, किन्तु जीव पक्षधर तथा कर्मफल भोक्ता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है। ईश्वर एक है, जीव अनेक हैं। एक पूर्ण है, दूसरा अपूर्ण है। इस प्रकार ईश्वर तथा जीव में परस्पर भेद भी है।

जीव की प्रवृत्तिया अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी दोनों होती हैं। यदि वे प्रवृत्तियॉ बहिर्मुखी होती हैं तो वे विषयों को प्रकाशित करती हैं, और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं तो कर्ता को अभिव्यक्त करती हैं। इसलिए जीव की उपमा नृत्यशाला के दीपक से दी जाती है। जिस तरह रगस्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्यजन तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है और इनके अभाव में स्वत प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करती है और इनके अभाव में स्वत उद्भासित होती है।[4] वस्तुत जीव शान्त है, किन्तु उसमें चचलता उत्पन्न होने तथा उससे युक्त होने पर जीव चचल सा प्रतीत होता है। उसका शात स्वरूप विकृत हो जाता है।

मृत्यु का रहस्य

भगवत गीता कहती है कि जो व्यक्ति उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु सुनिश्चित है।[5] महाभारत में यक्ष ने जो प्रश्न

---

1 वेदार्थ सग्रह , पृष्ठ- 44—48

2 श्रीभाष्य - 1/1/1

3 श्रीभाष्य - 1/1/1

4 'अहकार प्रभु सम्याविषया नर्तकी मति ।
तालादि धारीण्य क्षाणि दीप साक्ष्यलमासक'।'पंचदशी- 10/140

5 'जातस्यहि ध्रुवोमृत्यु ध्रुव जन्म मृतस्य च', गीता- 2/27

युधिष्ठिर से किये थे, उनमे से एक इस प्रकार था कि विश्व का सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है और युधिष्ठिर ने उसे सन्तुष्ट करने वाला जो उत्तर दिया था वह यह था कि ससार का सबसे विचित्र सत्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि वह मरणशील है किन्तु वह इस सत्य को कभी भी अपने जीवन में आचरण करते समय स्मरण नहीं रखता। आधुनिक काल मे अस्तित्व-वादी चितक हाईडेगर के दर्शन मे मृत्युवाद खुब उभरा है। वह मानता है कि चूँकि मृत्यु एक सनातन, अटल, अचल वास्तविकता है, इसलिए हमारी शिक्षा को उसके सम्बन्ध में सोचना भी व्यक्ति को सिखाना चाहिए। इसलिए उसका आदर्श मृत्यु को सामने रखने वाली शिक्षा है।

मृत्यु एक रहस्य है। इस रहस्य को समझने का प्रयास मनुष्य आदिम काल से करता रहा है। यह सही है, जैसा लुडविंग विट्गेन्स्टाइन ने लिखा है कि मृत्यु जीवन की घटना नहीं है, क्योंकि हम मृत्यु का अनुभव करने के लिए जीवित नहीं रहते हैं। किन्तु मानवीय विचारशीलता ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही इसके रहस्य के परदे के पीछे झॉकने का प्रयत्न किया है। अंग्रेज कवि शैली ने लिखा है कि मृत्यु वह परदा है जिसे जीवित लोग जीवन कहते हैं। वे सोते हैं और वह परदा उठ जाता है।

हिन्दू धर्म के दर्शन जगत मे मृत्यु के रहस्य को जानने का उत्कट प्रयास किया गया है। बृहद्. उपनिषद के अनुसार मृत्यु के बाद भी सूक्ष्म शरीर जीवित रहता है। जब शरीर जरा या रोग से जर्जर हो जाता है तो सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर से उसी प्रकार अलग हो जाता है, जिस प्रकार आम, उदुम्बर(अजीर) या पीपल के वृक्ष से फूल अलग हो जाता है और फिर कर्मानुसार प्राप्त शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी इच्छाओं,कामनाओं में बधता है, वह मुक्त नहीं हो सकता है, वह नये शरीर को प्राप्त करने के लिए बाध्य है। पर जो व्यक्ति अपनी समस्त इच्छाओं, कामनाओं आदि से मुक्त हो जाता है, वह अपने शरीर तथा पुनर्जन्म को उसी तरह हमेशा के लिए त्याग देता जैसा सर्प अपनी केंचुल को।[1] कठोपनिषद का कथन है कि हृदय में एक सौ एक प्रधान नाडिया हैं जो वहॉ से सब ओर फैली हुई हैं। जिसकी सुषुम्ना नाडी से प्राण बाहर निकलता है, वह परमेश्वर को प्राप्त करता है। अन्य नाडियों से प्राण निकलने पर पुनर्जन्म होता है।

मृत्यु के बाद व्यक्तियों के कर्मानुसार दो मार्ग जीव के सामने रहते हैं- पितृ-यान मार्ग और देवयान मार्ग। यदि व्यक्ति जीवन मुक्त हो जाता है, तो मृत्यु के बाद वह देवपान मार्ग से जाता है अन्य लोग पितृपान मार्ग से जाते हैं और पुन· शरीर धारण करते हैं। गीता का कथन है कि मनुष्य मृत्यु के समय जिस भाव को स्मरण करता है और शरीर त्यागता है वह उसी प्रकार का शरीर प्राप्त करता है। जो व्यक्ति मृत्यु के समय ईश्वर को स्मरण करता है, वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है।

बौद्ध धर्म की भी मान्यता है कि व्यक्ति मृत्यु से दूर नहीं भाग सकता है। धम्मपद कहता है कि भले ही व्यक्ति आकाश पर चला जाये या समुद्र गर्भ में, या गिरि शिखर पर, मृत्यु उसे ढूढ ही लेती है। यह शरीर जरा तथा रोग का एक मंदिर है। जीवन का अन्त मृत्यु से अनिवार्य है।

---

1 वृहदारण्यक उपनिषद - 2/4/5

शकराचार्य ने यह माना है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के माध्यम से सत्य ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है और सत्य ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही व्यक्ति मृत्यु से मुक्त हो सकता है। दरअसल मृत्यु का मूल कारण वासना है। हमारे कर्म तथा इच्छायें वासना के रूप मे मृत्यु के बाद विद्यमान रहती हैं और वे ही नये जन्म के लिए उत्तरदायी होती हैं। पर वास्तविक मृत्यु अर्थात पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति तभी सभव होती है जब परमतत्व को व्यक्ति समझ लेता है।

अरबिन्द के अनुसार मृत्यु जड प्रकृति की चेतना मे पूर्णता और विकास की माग को जागृत करने का एक आवश्यक साधन है। मृत्यु पूर्णता की ओर जाने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करती है। उनके अनुसार मृत्यु का कारण यह है कि शरीर आत्मा के विकास मे पर्याप्त रूप से योगदान देने में सफल नहीं है। मृत्यु जीवन का नाश नहीं है, केवल उसका रूपान्तरण मात्र हैं। अरबिन्द के अनुसार मृत्यु आध्यात्मिक जीवन के विकास में योगदान देती है, इसलिए मानवीय आत्मा का पशु आत्मा में पुन जन्म नहीं होता।

यह एक निश्चित बात है कि व्यक्ति की बौद्धिक चेतना उसे मृत्यु के भय से आतंकित करती है। अनिश्चित अनागत का भय उसे चिन्ता से भर देता है। मृत्यु का ज्ञान भय की भावना का सृजन करता है। मनुष्य चाहता है कि कोई रास्ता मिले, जिससे मृत्यु से डरना न पडे। प्रकृति से समुत्पन्न होने पर भी वह उसे अपना शत्रु ही मानता है, क्योंकि मृत्यु प्रकृति की ही एक अनिवार्य क्रिया है। इस मृत्यु भय के कारण व्यक्ति अपने आस-पास के वातावरण से भी खिन्न हो जाता है और इस भींड भरे ससार मे भी अकेलेपन का अनुभव करता है। मृत्यु का भय तथा अकेलेपन की अनुभूति इसे अन्दर से तोडते रहते हैं। यह सब अज्ञान के कारण ही होता है।

अज्ञान का विनाश ज्ञान से होता है। ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना ही ज्ञान है। जिसने ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त कर ली है, उसे कोई भय सता नहीं सकता। भय उसके पास जा भी नहीं सकता है। जिसने परमतत्व को पा लिया, उसने मृत्यु को जीत लिया है। वह सम्पूर्ण जगत से एकाकार हो जाता है और अपने वातावरण से कटता नहीं है। वह उसे आत्मीय भाव से देखता है, क्योंकि उसमें उसे अपने प्रभु का अनुभव होता है। इसलिए न उसे अकेलापन सताता है और न मृत्यु भय। व्यक्ति में अमरत्व तथा मृत्यु दोनों ही बातें मौजूद हैं। ज्ञान के द्वारा जब वह अपने अमरत्व को समझ लेता है, तो उसका मृत्यु भय हमेशा के लिए खत्म हो जाता है और तब वह अंग्रेज कवि पोप की भाषा में कहता है- ''अरी मृत्यु तेरा हक कहाँ है?''

द्वितीय भाग - ईसाई धर्म के संदर्भ में

मानव विचार या जीव

ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि है। ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया है। इसलिए ईसाई धर्म मे मनुष्य को ईश्वर की प्रतिमा कहा जाता है।[1] परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि मनुष्य मे ईश्वरत्व निहित है, सर्वथा अनुचित होगा। ईसाई धर्म में इस बात पर बल नहीं दिया गया है कि मानव ईश्वर तुल्य है। हिन्दू धर्म की तरह 'तत्वमसि' का व्यवहार ईसाई धर्म के मनुष्य के लिए करना भ्रामक है। मनुष्य ईश्वरीय चमत्कार से सर्वथा शून्य है।[2]

ईसाई धर्म के अनुसार परमात्मा ने ६ दिनों में (जो वास्तव में युगों के समान हैं) सम्पूर्ण जगत, प्राणी, पशु और अत मे मानव को अपनी छवि मे बनाया। ईश्वर ने मानव को केवल अपने ही बिम्ब में नहीं बनाया, वरन मानव को अपनी सम्पूर्ण सृष्टि पर अधिकार भी दिया।[3] अत मानव ईश्वर के समान ही नीतिवान एवं भव्य जीव है, और सम्पूर्ण सृष्टि पर अधिकार देकर मानव से आशा रखता है कि वह सम्पूर्ण ससार को ईश्वर की इच्छानुसार रूप भी दे देगा। पर यहॉ एक प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर का क्या स्वरूप है, जिसकी छबि के अनुसार ईश्वर ने मानव को बनाया है?

ईसाई धर्म के अनुसार हम जानते हैं कि ईश्वर है, पर हम यह नहीं जानते कि उसका स्वरूप और गुण क्या है। अब यदि हम ईश्वर के स्वरूप को ही नहीं जानते हैं तो उसकी छवि की कल्पना कैसे की जाय? निर्गमन पुस्तक में ईश्वर ने बताया कि "मैं जो हूँ सो हूँ"।[4] इब्रानी भाषा में जिस शब्द का अनुवाद 'मै हूँ' किया गया है, उसमें किसी काल का बोध नहीं होता है, पर ईश्वर अपनी चुनी हुई जाति का प्राचीनकाल से इब्राहिम, इजहाक, याकूब और अन्य नबियों का ईश्वर भी रहता आया है और अत तक बना रहेगा। अतः ईश्वर की प्रकाशना सर्जनात्मक क्रिया है, जो समस्त मानव जाति का मार्गदर्शन करती है। इसलिए ईश्वर की छवि भी इसी सर्जनात्मक शक्ति का बोध कराती है। ईश्वर ने अन्य जीव-जन्तु, वनस्पति तथा पशुओं के स्वभाव में स्थिरता प्रदान की है, पर मानव को निरन्तर प्रगतिशील तथा गतिशील रखा है। उसके विकास का, और इसीप्रकार उसके ह्रास का भी कोई अन्त नहीं है। इसलिए कभी-कभी बड़े विस्मय के साथ विचारक प्रश्न करते आये हैं कि मानव जो धूल के समान है, उसे ईश्वर ने क्यों रचा? क्यों उसे स्वर्ग दूतों की अपेक्षा थोडा ही नीचा रखा है, पर ईश्वर ने उसे कितनी अधिक विकास-शक्ति और महिमा से मडित किया है?

---

1 डॉ० एच० पी० सिन्हा - धर्मदर्शन की रूपरेखा(द्वितीय भाग), पृष्ठ - 78

2 वही, पृष्ठ - 78

3 उत्पत्ति ग्रथ - 1/26—27

4 निर्गमन ग्रथ - 3/14

ईसाई विचारकों के अनुसार ईश्वर ने सम्पूर्ण विश्व को रचकर मानव को अपनी छवि में इसलिए बनाया कि वह विश्व मे स्वर्गिक राज्य की स्थापना करे। अब प्रश्न है क्या ईश्वर मानवों को शुभ संकल्प शक्ति देकर इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता? उसने क्यो मानव को बुरे कर्म के लिए वासना भी दी है? क्या मानव अपने सृजनहार से इस प्रकार प्रश्न कर सकता है? नहीं। परन्तु ईसा ने कहा कि जिसने मुझे देखा, उसने ईश्वर को भी देखा है।[1] इसलिए इस प्रश्न का समाधान ईसाई, ईसा की शिक्षा, उनके काम और मृत्यु के आधार पर करते हैं। ईसा ने स्वय बतलाया है कि उनके जीवन का उद्देश्य है स्वर्गिक राज्य की स्थापना करना। इसलिए मानव का असली स्वरूप इस स्वर्गिक राज्य और तद्नुरूप ईसाई मडली के चित्रण से स्पष्ट होता है।

ईसा मसीह ने अपने प्रचार का काम इस उद्घोषणा से प्रारम्भ की- 'स्वर्गिक राज्य सन्निकट है'। पापों से पश्चाताप करो। यीशु को आने वाला मसीह समझकर उस पर विश्वास करो। पहले स्वर्गिक राज्य की चिन्ता करो तब तुम्हें अन्न, वस्त्र और सभी सामग्रिया ईश्वर-पिता देगा। जब ईश्वर-पिता, पशु-पक्षी और वन के फूलों की देखभाल करता है, तो हे अल्पविश्वासी क्या वे तुम्हारी (जो सृष्टि का उत्तम और अधिकारी जीव है) सुधि न लेगा?[2] परन्तु धर्मी बनना और ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना कठिन है। यह वही प्रश्न है जो गीता में निष्काम कर्म के संदर्भ में किया गया है और दोनों में ही शरणागति के रूप मे समाधान बताया गया है। मसीह का कहना है- "हे सब लोगो! जो भारी बोझ से दबा हो और क्लान्त हो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हे विश्राम दूँगा। मेरा जुआ अपने कंधों पर रखो और अपना जुआ मुझे दो, क्योंकि मेरा जुआ हल्का है"।[3]

मसीह के जुए को अपने ऊपर उठाने का अर्थ है- मसीही विश्वास, आशा और ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना, क्योंकि बाइबिल के अनुसार मसीह मृत्यु-पर्यन्त ईश्वर के अधीन रहा और उसी की ही आज्ञाओं के अनुसार, ईश्वर के प्रेम स्वरूप को स्पष्ट कराने के लिए अपने प्राणो की आहुति दी है। पर मसीह ने स्पष्ट कर दिया कि उसका राज्य ससार का नहीं है। ससार में बडे शासक वे कहे जाते है जो अन्य लोगों पर राज्य करते हैं। पर अच्छा ईसाई वह है, जो सबका दास है, दीन है, विनम्र है और सबकी सेवा करता है। मसीह ने कहा कि जब मैं तुम्हारा प्रभु और गुरू होकर तुम्हारा पैर भी धोता हूँ, तो क्या तुम्हारा कर्तव्य नहीं है कि तुम एक दूसरे का पैर तक धोया करों।[4]

ईसाई धर्म के अनुसार, मानव ससार में रहता अवश्य है, पर वह ससार का नहीं, वरन् ईश्वर का पात्र है। यदि मानव ईश्वर की आज्ञाओं का पालन न करे तो उसे दण्ड भोगना ही पड़ेगा। यहूदी जाति ईश्वर की चुनी हुई थी तो भी इस

---

1 योहन - 14/9/10

2 मत्ती - 6/25–34
मार्क - 1/15
मत्ती - 9/35

3 मत्ती - 11/28–30

4 योहन - 13/14

जाति को ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लघन करने के फलस्वरूप बार-बार दु ख उठाना पडा। ताडना के रूप में अन्य जातियों को इतना समर्थ किया गया है कि वे यहूदियों को उनके पाप के कारण उनका सहार और दमन करे। जब तक मानव इस भूतल पर है, उसे ससार के शासको के शासन को स्वीकार करना है, क्योंकि ईश्वर ही शासक बनाता है और उन्हें बल तथा प्रभुता प्रदान करता है। इसलिए मसीह ने अपने चेलों से कहा-

"जो कैसर का है सो कैसर को दो, और जो ईश्वर का है, उसे ईश्वर को दो"।[1]

फिर फिलातुस ने कहा-

"यदि तुझे ऊपर से (अर्थात ईश्वर से) अधिकार नहीं दिया जाता तो तुम मेरे विरूद्ध कुछ नहीं कर सकते।"[2]

ईश्वर के राज्य को यीशु ने बताया कि यह प्रगतिशील और प्रसार का विषय है, क्योंकि उसने उपमाओं द्वारा यह स्पष्ट किया कि यह बढते हुए बृक्ष के समान है, फिर यह फैलने वाले खमीर के समान है।[3] फिर उसने इस स्वर्गिक राज्य को सम्पूर्ण विश्व का राज्य समझकर उसे व्यापक रूप दिया था। ईसा के अनुसार यीशु की भेंडें केवल यहूदी ही नहीं वरन् अन्य देशीय भी हैं।[4]

बाद मे चलकर यीशु ने इस स्वर्गिक राज्य को ईसाई मण्डली के रूप में समझा।[5] यह मण्डली जितनी वाह्य है उतनी ही हृदय की वस्तु है।[6] सत पितर को ईश्वर का आदेश मिला कि वह इस चर्च के द्वार को समस्त जातियों के लिए खोल दे।[7] इस चर्च के सदस्य समस्त मानव जाति के लोग हो सकते हैं और न इसमें जाति का और न वर्ण विचार का भेद पाया जाता है।[8]

इस चर्च की व्यवस्था ईसीन लोगों के समान साम्यवादी थी, पर बाद में चलकर इसकी व्यवस्था रोमी शासन के समान बन गयी। इस पार्थिव ईसाई संघ को यीशु ने आदेश दिया कि ईसाई धर्म का वे प्रचार और प्रसार करें। इस संघ के विभिन्न लोगों को भिन्न भिन्न वरदान और कार्य क्षमताए दी गयी हैं, पर व्यक्तियों को आपस में मिलकर मण्डली की जैविक व्यवस्था अथवा तन्त्र को स्थापित करना चाहिए। यहॉ कर्मणा भेद पाया गया है, पर जन्मना नहीं, हिन्दू और ईसाई दोनों धर्मो में मानव व्यवस्था को जैविक तन्त्र के रूप में माना गया है। हिन्दू धर्म ग्रंथ ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के अनुसार सभी जातियॉ अत में एक आदि पुरूष के ही अग हैं। ईसाई धर्म में विभिन्न अंग कर्मणा हैं जबकि हिन्दू धर्म में जन्मना हैं।

---

1 मत्ती - 22/21
2 योहन - 19/11
3 मत्ती - 13/31—33
4 योहन - 10/16
5 मत्ती - 16/18, योहन - 21/15—17, लूक - 12/32
6 लूक - 17/21
7 प्रेरितों के नाम पत्र - 10/34—35
8 गलातियों - 3/24
गलातियों - 6/15

मानव का परमेश्वर से सादृश्य

बाइबिल में मानव की एकता पर बल दिया गया है। मानव परमेश्वर के सदृश बना है। जैसा कि उत्पत्ति ग्रथ में लिखा गया है- ''ईश्वर ने कहा- हम मनुष्य को अपने सदृश बनायें।''[1] मानव की परमेश्वर से अनुरूपता का पहला कारण यह है कि मानव को सृष्टि-कर्ता की ओर से सब जीव जन्तुओं पर अधिकार मिला हुआ है।[2] सादृश्य का दूसरा कारण मानव की प्रजनन क्षमता है, जो किसी हद तक परमेश्वर की सृष्टि क्षमता के तुल्य है। ईसा सादृश्य की यह व्याख्या इस वचन पर आधारित है कि ''ईश्वर ने मनुष्य को अपने सदृश्य बनाया, उसने नर और नारी के रूप में उनकी सृष्टि की है।''[3] स्पष्टत इसका निहितार्थ यह नहीं है कि सृष्टिकर्ता में भी नर-नारी का प्रभेद होता है। लिग-प्रभेद सृष्टिकार्य का परिणाम मात्र है उसका कारण नहीं। इस प्रसग का अभिप्राय है नर-नारी की समानता पर बल देना। बाइबिल मानव प्रजनन को पवित्र मानती है, इस क्षमता द्वारा ही मानव सृष्टिकर्ता के सदृश है।

मानव का ईश्वर से सादृश्य का तीसरा कारण दूसरों से बढकर महत्व का है। इसका स्पष्टीकरण प्रज्ञा ग्रंथ में मिलता है। इसके अनुसार-''ईश्वर ने मनुष्य को अनश्वर बनाया है, उसने उसको अपना प्रतिरूप ही बनाया है।''[4] अनुसगत प्रस्तुत कथन पूर्वोक्त उद्धरण से कहीं अधिक स्पष्ट है, मानव को परमेश्वर के सदृश नहीं, उसका प्रतिरूप ही कहा जाता है। इस अनुरूपता के कारण मानव की अमरता मानी जाती है। उल्लेखनीय बात यह है कि यह ईश्वर सादृश्य की व्याख्या प्रज्ञा ग्रथ में ही मिलती है। प्रज्ञा ग्रथ बाइबिल पूर्वार्द्ध की सबसे अर्वाचीन रचना है। पूर्वार्द्ध के अधिकांश ग्रंथों में अमरता की धारणा का अभाव है। ज्योंहि अमरता पर विश्वास उत्पन्न हुआ, त्योंहि मानव को परमेश्वर के सदृश माना गया।

फिर भी यहॉ सादृश्य का अर्थ तादात्म्य नहीं हो सकता है। अमर होते हुए भी मानव अपने आप को परमेश्वर नहीं मान सकता है। ईश्वर सादृश्य के बावजूद मानव का परमेश्वर से तादात्म्य कदापि नहीं होगा, कारण मानव सृष्ट तत्व मात्र है, जबकि परमेश्वर सृष्टिकर्ता है। इसके अतिरिक्त एक महत्व की बात और है। मानव का ईश-सादृश्य बाइबिल शैली की एक विशेषता स्पष्ट करता है, अर्थात् उसका परमेश्वर का मानव ढंग से वर्णन करना। परमेश्वर में मानवतारोप का कोई प्रमाण नहीं है, इसके विपरीत मानव में देवत्व आरोपित है। परमेश्वर इसलिए मानव के रूप में दिखाई पडता है, क्योंकि मानव परमेश्वर सदृश्य निर्मित है।

---

1 उत्पत्ति ग्रथ - 1/26

2 वही - 26/28

3 वही - 27

4- प्रज्ञा ग्रथ - 2/23

मानव के दोनों मौलिक पहलू, जीवात्मा और शरीर

जिस 'जीवात्मा' शब्द का प्रयोग इस सदर्भ में किया जाता है, वह इब्रानी 'नेफेश' शब्द का अनुवाद है। वह 'रूअह' अर्थात 'आत्मा' से भी भिन्न है। जीवात्मा को भौतिक शरीर मात्र न मानकर उसे आत्मिक स्वरूप में स्वीकार करने का दृष्टिकोण बाईबिल सम्मत नहीं है। वास्तव मे जीवात्मा जिस शरीर को अनुप्राणित करती है, उससे अवियोज्य मानी जाती है। बाइबिल की मानव धारण एकात्मक है।

मानव स्वभाव के विषय में सृष्टि का दूसरा वर्णन कुछ और बताता है।[1] यह पाठ मानव की सृष्टि पर विशेष बल देता है। फिर बनावट का स्वभाव भी स्पष्ट जो जाता है। जानवरों के विपरीत जिन्हें सृष्टिकर्ता सिर्फ मिट्टी से गढता है, बाइबिल की कल्पनात्मक शैली के अनुसार मानव इस प्रकार उत्पन्न हुआ- ''प्रभु ने धरती की मिट्टी से मनुष्य को गढा और उसके नथुनों में प्राणवायु फूक दी।''[2] नि:सदेह जानवर भी प्राण रहित नहीं हैं और बाइबिल मनुष्य के समान उन्हें 'जीवात्मा' कहती है।[3] पूर्वोत्त पद इस बात पर बल देता है कि दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मानव परमेश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, उसका प्राण परमेश्वर का विशेष दान है। परमेश्वर से सम्बन्धित होते हुए भी मानव उसके अधीन हैं। जीवन का स्रोत स्वय मानव नहीं, परमेश्वर ही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने स्वभाव के बल पर मनुष्य अमर नहीं है, उसे अपनी जीवात्मा पर भी अधिकार नहीं है।

ध्यान देने योग्य बात है कि बाइबिल का दृष्टिकोण यह नहीं है कि 'जीवात्मा' अभौतिक होने के कारण अनश्वर भी होर्ती है। जीवात्मा न तो आत्मिक है, न शरीर से भिन्न अवयव है। मनुष्य अगर अमर है, तो अपनी सम्पूर्णता में ही। प्रज्ञा ग्रथ के अनुसार 'ईश्वर ने मनुष्य को अनश्वर बनाया है', उसकी जीवात्मा मात्र को नहीं।[4] वास्तव में अपने स्वभाव से मानव मरणशील ही है। मानव एकता के फलस्वरूप शरीर के साथ जीवात्मा का भी मर जाना अनिवार्य है। बाइबिल का पूर्वार्द्ध काफी हद तक लौकिक दृष्टिकोण अपनाता है फिर भी, उसके अर्वाचीन ग्रथों में, और विशेषकर उत्तरार्ध में, इस दृष्टिकोण का उल्लेखनीय विकास मिलता है।

जीवात्मा के अतिरिक्त मनुष्य का दूसरा पहलू उसका 'शरीर' भौतिक स्वरूप है। यह धारणा मानव का बोध उसकी सासारिक दशा में, उसकी भौतिक प्रतीति के रूप में कराती है। ''शरीर'' में न केवल स्थूल पदार्थ, अपितु मनोवैज्ञानिक क्षमता और क्रियाए भी शामिल हैं। अपने शरीर के फलस्वरूप दु:ख, सुख, राग, द्वेष, इत्यादि का अनुभव करते हैं। इस दृष्टिकोण

---

1 उत्पत्ति ग्रथ - 2/4–25

2 वही - 2/7

3 उदाहरणार्थ उत्पत्ति ग्रथ - 1/20

4 प्रज्ञा ग्रथ - 2/23

से मनुष्य, अपनी सम्पूर्णता मे, अर्थात 'जीवात्मा' के रूप मे भी नश्वर है। फिर भी, शरीर को अशुभ नहीं माना जाता है। वह तो भौतिक जगत का अश है। भिन्न-भिन्न भौतिक तत्वों की सृष्टि के बाद हर वक्त कहा जाता है कि- 'यह ईश्वर को अच्छा लगा'। इससे बढकर मानव सृष्टि के पश्चात कहा गया- यह उसको (परमेश्वर) बहुत अच्छा लगा''।[1]

जीवात्मा और शरीर, इन दो पहलुओ से मानव का द्वयर्थक स्वभाव स्पष्ट किया जाता है। शरीर के दृष्टिकोण से वह ससार से सम्बन्ध रखता है, इसलिए पूर्वोक्त उद्धरण के अनुसार मानव मिट्टी से रचित है।[2] आदि मानव का नाम ''आदम'' रखा गया, क्योकि वह इब्रानी मे 'धरती' शब्द से व्युत्पन्न नाम है। इसलिए 'आदम' का अर्थ है, 'जो मिट्टी से पैदा किया गया है।' जीवात्मा के दृष्टिकोण से मनुष्य परलोक से सम्बन्ध रखता है। परन्तु वह द्वयर्थकता द्वैतवाद से बिल्कुल भिन्न है। बाइबिल इस अर्थ में जीवात्मा और शरीर का उल्लेख नहीं करती है, मानो वे भौतिक और आत्मिक परस्पर विरोधी अवयव हों।

आत्मा के लक्षण- 'प्रज्ञा और शब्द'

इसायस नबी ईश- आत्मा की विशेषताये बताते हुए कहते हैं- ''प्रभु की आत्मा उस पर (मसीह) छाई रहेगी- प्रज्ञा तथा बुद्धि की आत्मा, सुमति तथा धैर्य की आत्मा, ज्ञान तथा ईश्वर भक्ति की आत्मा'' ।[3] इस प्रकार 'प्रज्ञा' आत्मा के लक्षणों में से एक है। 'दिव्य' शब्द के साथ वह 'प्रज्ञा' ईश-आत्मा के समान सृष्टि और मुक्ति

कार्य में सक्रिय होती है। सुक्ति ग्रंथ में यह प्रश्न उठाया जाता है कि सृष्टि कार्य में ईश- प्रज्ञा का क्या भाग रहा है?[4] प्रज्ञा स्वय ही सर्जन का परिणाम थी, सभी अन्य तत्वों से पहले, अनन्त काल से ही उसकी सृष्टि मानी जाती है। इसलिए वह सृष्टिकर्ता के सदृश नित्य मानी जाती है। प्रज्ञा अपने आपको सृष्टिकार्य में परमशेवर की सहयोगिनी कहती है- ''जब उसने (परमेश्वर) पृथ्वी की नींव डाली, उस समय मैं कुशल शिल्पकार की भाति उसके साथ थी।[5]

उपरोक्त उद्धरण से अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहला, सृष्ट तत्व के रूप में प्रज्ञा परमेश्वर की मूलभूत अभिव्यक्ति दिखाई पडती है। फिर, पूर्ण सृष्टि परमेश्वर की प्रज्ञा' अभिव्यक्त करती है। वह तो ईश-प्रज्ञा द्वारा ही रचित हुई है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'प्रज्ञा' सृष्टिकर्ता की विशेषता मात्र नहीं, बल्कि उससे पृथक चैतन्य स्वरूप तत्व प्रतीत होती है, मानो एकमात्र परमेश्वर मे अनेकता हो।

---

1 उत्पत्ति ग्रथ - 1/21
वही - 1/31
2 उत्पत्ति ग्रथ - 2/7
3 स्तोत्र ग्रथ - 11/2
4 सूक्ति ग्रथ - 8/22 — 31
5 सूक्ति ग्रथ - 8/29 — 30

प्रज्ञा-ग्रथ मुक्ति कार्य में भी ईश-प्रज्ञा के प्रभावशाली होने का विस्तार से उल्लेख करती है।[1] यही प्रज्ञा आदि मानव का पालन पोषण करती है, कुलपति नूह को जल प्रलय से बचाती है; इब्राहिम आदि पुरखों की भ्रमण के समय रक्षा करती है, मरूभूमि में प्रजा का पथ प्रदर्शन करती है।[2] 'दिव्य प्रज्ञा' जिस प्रकार सृष्टिकर्ता की सहगामिनी थी, उसी प्रकार मुक्तिकर्ता परमेश्वर की भी स्थानापन्न जैसी दिखाई पडती है। ईश-प्रज्ञा यदि इतने महत्व की हो, तो स्पष्टत वह परमेश्वर का मूलभूत विशिष्ट लक्षण है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाइबिल दृष्टिकोण से परमेश्वर न केवल आत्मा स्वरूप है, बल्कि वह प्रज्ञा, चैतन्य और सकल्प स्वरुप भी है।

चैतन्य स्वरूप ईश्वर अपने आपको 'शब्द' द्वारा अभिव्यक्त करता है, जो स्वाभाविक ही है। जो ऋषि इस ईश-शब्द की घोषणा करते हैं, वे 'नबी' कहलाते हैं। दिव्य आत्मा के प्रभाव से वे इतिहास की घटनाओं में मुक्तिकर्ता परमेश्वर का हस्तक्षेप पहचानते हैं। 'नबी' अतीत की घटनाओं की व्याख्या देने के अतिरिक्त भविष्यवाणी भी करते है। अनुभव से उन्हें मालूम है कि ईश-शब्द जो प्रतिज्ञा करता है, उसे पूरा भी कर सकता है। इस बात का प्रमाण पुराना इतिहास उन्हें प्रस्तुत करता है। मुक्तिकार्य में परमेश्वर के प्रभाव से सृष्टिकार्य में भी उसके प्रभाव का अनुमान करना सहज ही है। अपने ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर इब्रानी इस निष्कष पर पहुँचे कि परमेश्वर ने अपने 'शब्द' मात्र द्वारा विश्वमण्डल की सृष्टि की है। 'ईश-शब्द' केवल बोधक नहीं, कार्यकारी भी है। इसलिए सृष्टि के पहले वर्णन में सूर्य और चन्द्रमा, पेड पौधों और जीव-जन्तुओं की सृष्टि परमेश्वर के 'शब्द' मात्र से की जाती है।[3] जैसे- "ईश्वर ने कहा प्रकाश हो जाय, और प्रकाश हो गया।"[4] इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टिकार्य और इसके फलस्वरूप सर्व शक्तिमत्ता की धारणा मानवीयकरण से बिल्कुल विपरीत शुद्ध आध्यात्मिक है।

---

1 प्रज्ञा ग्रथ - 10/11
2 वही - 10/11–14
3 उत्पत्ति ग्रथ - 1/2–4
4 उत्पत्ति ग्रथ - 1/3

मानव मूल्यांकन

ईसाई धर्म की नवीनता मानव मूल्याकन मे है। बन्धुत्व और मानवता उसकी सबसे बड़ी देन है।[1] ईसा मसीह के समय में भी और अब भी, जैसा कि हम देख रहे हैं, मनुष्य केवल कार्य का साधन है, और शोषण किये जाने के लिए सदैव तैयार है। ईसा मसीह ने मानव को मूल्याकित किया। इस मूल्याकन में मनुष्य साध्यमूल्य है, न कि साधन।[2] इसका आधार प्रेम है। ईसाई धर्म के अनुसार जिसको हम प्रेम करते है, हम उसे मूल्य प्रदान करते हैं और जिससे अधिक प्रेम करते हैं, उसको अधिक मूल्य प्रदान करते हैं।

मनुष्य ईश्वर की सतान है। यदि हम ईश्वर को प्यार करते हैं तो उसकी सतान मानव से भी प्यार करते हैं। यहॉ दृष्टव्य है कि वह मूल्य जिससे मानव को प्यार किया जाता है साध्य मूल्य है न कि साधन मूल्य। मानव मूल्याकन के बहुत से तरीकें हैं। हम मनुष्य का मूल्याकन शक्ति की दृष्टि से, वैभव और सम्पन्नता की दृष्टि से या पद की दृष्टि से करते हैं। ये सभी मूल्याकन साधनमूल्य की दृष्टि से किये जाते हैं। निश्चित ही ऐसा मूल्याकन बुरा नहीं है। सामाजिक दृष्टि से यह भी आवश्यक है। परन्तु ईसा मसीह मानव को साधन नहीं साध्यमूल्य मानते हैं। उदाहरण के लिए माता-पिता की दृष्टि में बालक साध्य मूल्य है। वह बालक चाहे प्रतिभावान हो, चाहे मद बुद्धि हो, दुबला हो या मोटा, परन्तु माता-पिता उसे प्यार करते हैं। माता-पिता बालक को प्यार करने के लिए प्यार करते हैं। यह साध्यमूल्य है। मसीह ने यह बताया कि मनुष्य ईश्वर की सतान के रूप में साध्यमूल्य रखता है। प्राचीन मत में मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से नहीं देखा गया है। मसीह ने यह पहचाना कि मनुष्य को मानवतावादी-प्रेम से देखना ही उसको साधन मूल्य के स्थान पर साध्यमूल्य मानना है।

ईसाई धर्म की सबसे बडी देन मानव को प्रेमदान है। सच पूछा जाय तो धर्मों की सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण देन यही है कि उनसे सामाजिक सम्बन्धो में दृढता उत्पन्न होती है। सामाजिक सम्बन्ध केवल साधन मूल्य पर ही आधारित नहीं माने जा सकते। संस्कृति और सभ्यता की स्थिरता और विकास में निश्चित ही इस साध्य मूल्य का ही हाथ है। समाज में देखा जाता है कि जहॉ प्रेम है वहीं आशा और विश्वास भी है। ईसाई धर्म की मानव की धारणा में कहीं निराशावादिता एवं असारता नहीं है। ईसा मसीह ने कही भी मानव प्रकृति में विकृति का दृष्टिकोण नहीं व्यक्त किया है और न कहीं मानवता का हरण किया है। मानवता को साध्यमूल्य मानकर ईसाई धर्म नें कहीं भी मानवता की अवमानना नहीं की है। रही बात पाप की, ईसाई धर्म में पाप को जहॉ स्थान मिला है, वहीं यहूदी धर्म की तरह पापियों को मार डालने और उनका अपमान करने का प्रस्ताव कहीं नहीं है। इसके विपरीत अछूतों और यहॉ तक कि व्याभिचारिणी स्त्री को भी मुक्ति दिलाने का प्रयास

1 डॉ० हृदयनारायण मिश्र - विश्वधर्म, पृष्ठ - 112

2 वही, पृष्ठ - 113

है। ईसा मसीह और उनके धर्म में खोया हुआ सिक्का ढूढा जाना चाहिए, उसको बाजार में चलाना चाहिए। खोयी हुई भेड पुन प्राप्त होनी चाहिए और प्रोदिगाल का पुत्र लौटाया जाना चाहिए।[1] ईसा मसीह को इसका ज्ञान था कि मनुष्य मे दुर्गुण और बुराईया हैं, परन्तु उन दुर्गुणो के प्रेरिको को बदला जा सकता है, यह सम्भव है। शर्त यह है कि मनुष्य ईश्वर को पहचाने और समझे, ऐसा होने पर मनुष्य अवश्य ही ईश्वरीय इच्छा का पालन करेगा। इसीलिए उन्होने कहा कि एक मन फिराने वाले पापी के विषय मे भी स्वर्ग मे भी उतना ही आनन्द होगा, जितना कि निन्नानबे ऐसे धार्मियों के विषय में नहीं होता, जिन्हे मन फिराने की आवश्यकता नहीं।"[2] मानव और मानवता के सम्बन्ध में ईसाई धर्म की ऐसी धारणा यहूदी धर्म से भिन्न और नवीन है।

मध्यकालीन ईसाई धर्म दार्शनिकों की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप

मध्यकालीन ईसाई धर्म दार्शनिकों ने भी आत्मा के विषय में विचार व्यक्त किये हैं, जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है। इन धर्म दार्शनिकों में निम्नोक्त विचारकों का मत उद्धृत किया जा सकता है-

१ सत ऑगस्टाइन

२ सत थॉमस एक्विनस

ऑगस्टाइन के अनुसार मनुष्य ईश्वर की सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। वह आत्मा और शरीर का सघात है।[3] मनुष्य में व्याप्त आत्मा एक सरल आध्यात्मिक द्रव्य है, जो शरीर से तत्वत· भिन्न है। यह शरीर का जीवन सिद्धान्त है, जो उसका सचालन करता है।[4] यह किस रूप में सचालन करता है, यह एक रहस्य है, जिसकी व्याख्या करने मे ऑगस्टाइन असफल रहें हैं।[5]

ऑगस्टाइन आत्मा को एक अभौतिक द्रव्य मानते हैं। यद्यपि आत्मा शरीर से पृथक और अमर तत्व है, तथापि उसमें बुद्धि, संकल्प और स्मृति ये तीनो शक्तिया अन्तर्निहित हैं। ऑगस्टाइन चमत्कारवादी हैं।[6] ईश्वर अपने चमत्कार के द्वारा आत्मा को शून्य से उत्पन्न करता है। ईश्वर की कृपा से ही मानवात्मा में तत्व ज्ञान उत्पन्न होता है।[7] आत्मा की उत्पत्ति ईश्वरीय चमत्कार से काल में हुई है, किन्तु वह मृत्यु से परे है। ऑगस्टाइन ने प्लेटो के समान आत्मा को एक सरल एव

---

1 ल्यूक - 15/1–32
2 ल्यूक - 15/7
3 डॉ० याकू मसीह - पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ - 142
4 वही, पृष्ठ - 142
5 डॉ० सी० एल० त्रिपाठी - मध्यकालीन दर्शन, पृष्ठ - 36
6 वही, पृष्ठ - 36
7 वही, पृष्ठ - 36

अभौतिक द्रव्य माना है। अभौतिक एव सरल होने के कारण आत्मा का विभाजन या विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। अत आत्मा अविनाशी है। शरीर से पूर्णतया भिन्न होते हुए भी आत्मा मानव जीवन का मूलाधार है। मनुष्य न केवल आत्मा है, और न केवल शरीर है, बल्कि यह आत्मा और शरीर दोनों का संघात है।[1] आत्मा और शरीर में पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होता है? आत्मा शरीर पर कैसे क्रिया करता है? इत्यादि रहस्यात्मक है। ये सब ईश्वरीय चमत्कार की देन है। ऑगस्टाइन आत्मा के उद्भव का स्पष्ट विवेचन नहीं करता है। किन्तु वह जन्म से पूर्व आत्मा की सत्ता को नहीं मानता है।[2] आत्माये अनेक हैं। ये अनेक जीवात्माए ईश्वर से कैसे उत्पन्न होती हैं? यह केवल आस्था का विषय है। इस पर किसी प्रकार का तार्किक बहस करना ठीक नहीं है।[3]

मानव जीवन का परम लक्ष्य आत्म-ज्ञान एव ईश्वर-लाभ है। किन्तु ईश्वर-लाभ इस लौकिक जगत में सम्भव नहीं है।[4] सच्चा धार्मिक जीवन एक आदर्श रहस्यात्मक जीवन है। इस ससार में मनुष्य अपने जीवन के परमलक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता है। यह प्राकृतिक जगत दु:खमय एव निराशा जनक है। आशावादी जीवन इस लौकिक जगत से परे "ईश्वर के नगर" में प्राप्त हो सकता है।[5] ईश्वरीय कृपा से ही ईश्वर के नगर में प्रवेश सम्भव है।[6] ईश्वरीय कृपा ईश्वर के प्रति प्रेम से ही मिल सकती है। इस प्रकार ऑगस्टाइन ईश्वर के प्रति आध्यात्मिक प्रेम को ही समस्त सद्गुणों का मूल आधार मानता है। प्रेम और आशा दोनों का आधार ईश्वर के प्रति श्रद्धा अथवा दृढ विश्वास है।[7] इससे सिद्ध होता है कि ईश्वरीय कृपा के बिना मानव को आनन्द और शान्ति नहीं मिल सकती है।

ऑगस्टाइन का आत्मा से सम्बन्धित सिद्धान्त इस युग मे प्रचलित आत्मा सम्बन्धी सृष्टिवाद[8] और जीवानुवाशिकतावाद[9] इन दोनों से भिन्न है। ऑगस्टाइन इन दोनो मतों से भिन्न चमत्कार-वाद का प्रतिपादन करता है। आत्मा का आविर्भाव ईश्वर के दैवी चमत्कार से हुआ है। यद्यपि ऑगस्टाइन आत्मा को प्लेटो के ही समान एक अभौतिक एवं सरल द्रव्य मानतें हैं, तथापि वे आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए नित्य और कूटस्थ प्रत्ययों का सहारा नहीं लेते हैं।[10] ऑगस्टाइन का दावा है कि आत्मा का आविर्भाव काल में हुआ है, तथापि उसकी मृत्यु नहीं हो सकती है।[11] किन्तु ऑगस्टाइन की यह मान्यता

---

1 डॉ० याकू मसीह - पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ - 142
2 डॉ० सी० एल० त्रिपाठी - मध्यकालीन दर्शन, पृष्ठ - 36–37
3 वही, पृष्ठ - 36
4 वही, पृष्ठ - 36
5 डॉ० याकू मसीह - पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ - 143
6 वही, पृष्ठ - 143
7 रामचरित मानस में भी माना गया है- "बिनु विश्वास भगति नही, तेहि बिनु द्रवहि न राम।
रामकृपा बिनु जीव नहीं, सपनेहुँ लह विश्राम ।।"
8 Creationism - इस मत के अनुसार प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति के समय ईश्वर एक आत्मा की सृष्टि करता है।
9 Traductionism - इस मत के अनुसार जिस प्रकार और जिस समय माता-पिता के शरीर से बच्चों के शरीर का निर्माण होता है, उसी प्रकार और उसी समय माता-पिता की आत्माओं से बच्चों की आत्माओं का भी निर्माण होता है।
10 डॉ० याकू मसीह - पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ - 143
11 फ्रैंक थिली - ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, पृष्ठ - 181

तर्क सगत नही प्रतीत होती है। जिसकी उत्पत्ति काल के अन्तर्गत हुई है वह काल और मृत्यु से परे कैसे हो सकता है? जो नित्य है उसका आरम्भ नहीं हो सकता है और जिसका आरम्भ काल में हुआ है वह नित्य नहीं हो सकता है।[1] यदि आत्मा का आविर्भाव काल मे हुआ है तो यह नित्य नहीं हो सकता है। किन्तु ऑगस्टाइन आत्मा को ईश्वरीय चमत्कार से प्राद्रूर्भूत मानते हैं।[2] आत्मा को अविनाशी कहा गया है। आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए दी गयी ऑगस्टाइन की युक्तिया प्लेटो के द्वारा दिये गये तर्कों की पुनरावृत्ति मात्र है।[3] उसकी युक्तियों का अन्तर्भाव प्लेटो की ज्ञानमीमांसीय और तत्वमीमासीय युक्तियों के अन्तर्गत किया जा सकता है। यहॉ पर आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने के लिए ऑगस्टाइन की युक्तियो का उल्लेख अनावश्यक विस्तार होगा। वस्तुत· ये युक्तियॉ प्लेटो के तर्को के रूपान्तरण मात्र हैं।[4] किन्तु इस सदर्भ मे ऑगस्टाइन का एक सूत्र प्रसिद्ध है। वह कहता है- "मैं धोखा खाता हूॅ, इसलिए मैं हूॅ। (Sai Fallor Sum) । वह धोखा खाने वाले तत्व के रूप में आत्मा को स्वत सिद्ध मानता है। ऑगस्टाइन का यह सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है। इससे प्रभावित होकर आधुनिक युग में रेने डेकार्ट ने आत्मा को स्वत सिद्ध एव समस्त सशयों की तार्किक प्रागपेक्षा के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है।

सत थॉमस एक्विनास का आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त भी इसाई धर्म और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित आत्मा की अवधारणा से प्रभावित है। ईश्वरीय सृष्टि के अन्तर्गत तीन तत्व आते हैं- प्रकृति, मानवीय आत्माएं या जीवात्माएं और देवदूत।[5]

इस प्रकार एक्वीनास के अनुसार ईश्वर ने प्रकृति, मानवीय आत्माओं और देवदूतों की सृष्टि की है। सभी बौद्धिक तत्व दैवी और अव्यभिचार्य हैं। देवदूत विशुद्ध रूप से दैवी तत्व हैं।[6] उनमें भूत-तत्व का लेशमात्र भी नहीं है, उनकी कोई उपजाति नहीं है। वे किसी उपजाति के सदस्य नहीं हैं। प्रत्येक देवदूत स्वमेव एक उपजाति है। देवदूतों के शरीर नहीं होता है।[7] मानवीय आत्मा देही है।[8] वह विशुद्ध चैतन्य और भूततत्व दोनों ही का योग है। मानवीय आत्मा उसके शरीर का प्रेरक तत्व है। इसकी तीन क्रियायें हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि मानव में तीन आत्माए हैं, अथवा मानवीय आत्मा अशी हैं, जिसमें तीन अश हैं। मानवीय शरीर में केवल एक आत्मा है, जो अपने पूर्ण रूप में शरीर के प्रत्येक अश

---

1 इसी मत की अभिव्यक्ति शकराचार्य ने तैत्तरीयोपनिषद भाष्य की प्रस्तावना में किया है-
"नहि नित्यम् केनचिद् आरभ्यते, लोके यदारब्धम् तद् नित्यम्"

2 डॉ० सी० एल० त्रिपाठी - मध्यकालीन दर्शन, पृष्ठ - 36

3 डॉ० याकू मसीह - पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ - 143

4 उनके एक तर्क की छाया हमें देकार्त के अग्राकित तर्क में मिलती है। देकार्त कहते हैं- आत्मा के अस्तित्व में सदेह करना आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना है। क्योंकि सदेह करने के लिए सोचना अनिवार्य है और सोचने के लिए अस्तित्व का होना अनिवार्य है। अत हम चिन्तनशील प्राणी या आत्मा हैं।

5 डॉ० हरिशकर उपाध्याय,पाश्यात्य दर्शन का उद्भव और विकास, पृष्ठ- 98—99

6 वही, पृष्ठ - 99

7 फ्रैंक थिली - ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, पृष्ठ - 231

8 वही, पृष्ठ - 231

9 डॉ० हरिशकर उपाध्याय, पाश्यात्य दर्शन का उद्भव और विकास, पृष्ठ- 99

में विद्यमान है।[9] कार्य व्यापार की दृष्टि से आत्मा के तीन रूप हैं-

1 गतिशील अथवा क्रियाशील भाग

2 सवेदनशील और

3 बौद्धिक

गर्भ में केवल जैविक सवेदन शील आत्मा होती है। बौद्धिक आत्मा का प्रवेश शरीर में जन्म के समय होता है।[1] ईश्वर आत्मा की सृष्टि शरीर की सृष्टि के साथ अथवा उस समय करता है जब शरीर में उसे धारण करने की क्षमता होती है। मानवीय आत्मा में बुद्धि और संकल्प शक्ति विद्यमान है।[2] पशुओं और वनस्पतियों की आत्माओं में ये गुण या विशेषतायें नही पायी जाती हैं।[3] यद्यपि मानवीय आत्मा शरीर में विद्यमान है, किन्तु इसका बौद्धिक तत्व अति जैविक है जो शरीर से बिल्कुल स्वतंत्र है। मानवीय आत्मा एक बौद्धिक, सवेदनशील और सजीव तत्व है। यह एक त्रयी है जो शरीर की सृष्टि करती है, और उसको गतिशील बनाती है। यह सवेदना का अनुभव करती है, सोचती है और इच्छा करती है।

शरीर का बौद्धिक तत्व शरीर के न रहने पर भी अपना कार्य करने में समर्थ है। यह अमर और नित्य है तथा शरीर के विनाश के बाद भी सक्रिय रहता है।[4] इसके विपरीत पशुओं की आत्मायें मरणशील हैं। थामस एक्विनास इब्न रोश्द के इस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं कि सृष्टि में केवल एक ही आत्मा व्याप्त है और अन्य आत्मायें उसमें साझीदार हैं। इसके विपरीत उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा भिन्न है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य को उसके विवेकपूर्ण और नैतिक कार्यों का श्रेय नहीं दिया जा सकता है। उसके चिंतन और संकल्प शक्ति किसी अन्य व्यक्ति के कार्य होंगे। थॉमस एक्विनास के अनुसार मात्र एक आत्मा नहीं जो मनुष्य के वीर्य के साथ स्त्री के शरीर में प्रवेश करता है। प्रत्येक व्यक्ति की सृष्टि के साथ उसकी आत्मा का अलग-अलग सृजन होता है।[5]

प्रसिद्ध दार्शनिक बट्रेण्ट रसेल के अनुसार थॉमस एक्विनास के इस सिद्धान्त पर एक आपत्ति की जा सकती है और वह यह है कि यदि किसी व्यक्ति का जन्म विवाहित दम्पत्ति से न हो तो ऐसी स्थिति में ईश्वर को व्याभिचार का सहयोगी बनना पडेगा, क्योंकि वह उसके (नवजात शिशु) के लिए भी आत्मा का सृजन करता है।[6] इसके अतिरिक्त इसे स्वीकार कर लेने पर ईसाई धर्म में मान्य मूल पाप की अवधारणा का भी खण्डन हो जाता है। प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न आत्माओं की सृष्टि की है तो आदम के द्वारा किया गया मूल पाप प्रत्येक मनुष्य के शरीर में कैसे प्रवेश कर जाता है? इसके साथ-साथ इस मान्यता से मनुष्य के संकल्प की स्वतंत्रता का भी निषेध हो जाता है। यदि

---

1 फ्रैंक थिली - ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, पृष्ठ - 231-232

2 डॉ० हरिशकर उपाध्याय, पाश्यात्य दर्शन का उद्भव और विकास, पृष्ठ- 99

3 वही, पृष्ठ - 99

4 फ्रैंक थिली - ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, पृष्ठ - 232

5 डॉ० हरिशंकर उपाध्याय, पाश्यात्य दर्शन का उद्भव और विकास, पृष्ठ- 99

6. फ्रैंक थिली - ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, पृष्ठ - 232

मूल पाप को जीवात्मा के स्वभाव मे निहित मान लिया जाय तो सकल्प की स्वतत्रता कैसे सुरक्षित हो सकती है? यदि सकल्प स्वातन्त्र्य सभव न हो तो किसी व्यक्ति को उसके पाप के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी कैसे कहा जा सकता है? इन प्रश्नो का कोई तार्किक और सतोषजनक समाधान थॉमस एक्विनास के दर्शन में नहीं मिलता है।[1]

सत थामस एक्विनास ने आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु उसमे कोई नवीनता नहीं है। उन्होने प्लेटो के ही तर्कों की पुनरावृत्ति की है जो ईसाई और अरबी दार्शनिकों की सम्मिलित धरोहर है। उदाहरण के लिए थॉमस कहते हैं कि आत्मा को सामान्यों का ज्ञान है, अत वह दैवी है और इस कारण शरीर से अलग होने पर भी उसका विनाश सभव नहीं, पुनश्च यह एक वास्तविक आकार है, इसका विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि वास्तविकता में अविच्छिन्न अस्तित्व निहित है अर्थात, जो वस्तु वास्तविक है, वह सदैव रहेगी। पुनश्च आत्मा की अमरत्व की इच्छा से भी उसकी अनश्वरता सिद्ध होती है, क्योकि प्रत्येक सहज इच्छा की अवश्य तृप्ति होती है।[2]

मनुष्य के ऐन्द्रिक ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान के अनुरूप मानव में ऐन्द्रिक इच्छा तथा बौद्धिक इच्छा या सकल्प शक्ति है। वह अपनी इच्छाओं अथवा कार्यों में पशुओं की भाति इन्द्रिय सवेदनों के पूर्ण रूप से अधीन नहीं है। उसमें आत्म विवेचन की शक्ति है जिसकी सहायता से वह यह निर्णय ले सकता है कि वह कोई कार्य करे या न करे।[3] किन्तु किसी कार्य का सम्पादन करने के लिए सकल्प शक्ति के समक्ष शुभ का आदर्श होना चाहिए। अत बुद्धि सकल्प शक्ति को प्रेरित करती है, किन्तु उसे बाध्य या आतकित नहीं करती है। वह सकल्प शक्ति के समक्ष एक लक्ष्य रखकर उसे सम्पादित करती है। इसके विपरीत संकल्पशक्ति आत्म जगत में मुख्य प्रवर्तक है।[4] यह बुद्धि और इन्द्रियों को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। किन्तु जैविक जीवन पर इसका नियन्त्रण नहीं है। अत थॉमस के अनुसार बुद्धि और इन्द्रियां परस्पर एक दूसरे को नियन्त्रित करती हैं, किन्तु फिर भी बुद्धि का सकल्प से कहीं अधिक महत्व है, क्योंकि संकल्प शक्ति उसी लक्ष्य या शुभ द्वारा नियन्त्रित या प्रेरित होती है, जिसे बुद्धि बौद्धिक उद्देश्य द्वारा शुभ निर्धारित करती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यहॉ कोई बाध्यता है। बाध्यता तो तब होती जब मनुष्य किसी बाह्य कारण द्वारा अपरिहार्य रूप से नियन्त्रित होता। वह स्वतन्त्र है क्योंकि वह अपनी सहमति के बिना, कोई कार्य करने के लिए बाध्य नहीं है तथा शुभ एवं अशुभ के बीच चुनाव करने में स्वतन्त्र है।[5]

---

1 वही, पृष्ठ - 232–236

2 फ्रैंक थिली - ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, पृष्ठ - 232

3 डॉ० याकू मसीह - पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ - 158–160

4 फ्रैंक थिली - ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी, पृष्ठ - 232
The will is the Prime mover in the Kingdom of the soul

5 वही, पृष्ठ - 233

तृतीय भाग - इस्लाम धर्म के संदर्भ में

'रूह' या आत्मा

कुरान के अनुसार ईश्वर ने सूक्ष्म मिट्टी से मानव की रचना की और उसमें अपनी 'रूह' (आत्मा) फूँक दी।[1] ईश्वर ने मानव को स्वर्गदूतों से भी बढकर दर्जा दिया है,[2] क्योंकि मानव में इच्छा स्वातन्त्र्य है, जो स्वर्गदूतों में नहीं है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर ने जिस सूक्ष्म मिट्टी से मानव की रचना की है, वह मिट्टी अचेतन है, और अचेतन से चेतन की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। शरीर के विभिन्न अगों का विश्लेषण करने पर आत्मा का न होना यह प्रकट करता है कि कोई ऐसी सत्ता है जो दृष्टिगोचर नहीं है तथा शर्रार के विभिन्न अंगों से पृथक है एव जो मानर्वाय शरीर को चतेन बनाती है, इसी को कुरान में 'रूह' या आत्मा कहा गया है।[3] 'रूह' या आत्मा के ससर्ग में आने पर मनुष्य को जीवन प्राप्त होता है और शरीर से पृथक हो जाने पर मनुष्य निर्जीव हो जाता है।

कुरान में आत्मा के विषय में कम ही प्रकाश डाला गया है। यद्यपि कि हदीस के अनुयायी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे आत्मा की प्रकृति और सार के विषय मे कुछ नहीं कहते हैं। कुरान की आयतों से ही थोडा-बहुत आत्मा के विषय में कुछ पता चलता है। कुरान के इस कथन से "ऐ पैगम्बर, 'रूह' (आत्मा) के विषय में यदि तुमसे पूछा जाय तो कह दो कि रूह मेरे परवर दिगार की ओर से ही आती है। इतना समझ लेना काफी है, क्योंकि तुम लोगों को थोड़ा ही ज्ञान दिया गया है,"[4] स्पष्ट होता है कि ईश्वर ने स्वय आत्मा की सत्ता के विषय में प्राणियों को सूचित तो किया है, परन्तु ज्यादा कुछ कहना उचित नहीं समझा है। इससे यह लगता है कि आत्मा से सम्बन्धित प्रश्न अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर है और मानवीय मस्तिष्क उसका ज्ञान पाने में समर्थ नहीं है। यही कारण है कि ईश्वर ने भी उसकी व्याख्या पर रोक लगा दी।[5] अल्लाह की कृपा से ही मनुष्य को आत्मा के विषय में कुछ ज्ञान हो पाता है।

कुरान में उपलब्ध विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आत्मा या 'रूह' अल्लाह की तरफ से आती है, जिसने मानव को उसके विषय में थोडा ज्ञान कृपा करके दिया है।[6] अत· आत्मा विचार शक्ति से परे है। वह एक दैवी वस्तु है।[7] उसकी रचना ईश्वर ने की है और उसमे श्रेष्ठता की प्रतिष्ठा की है, जिससे वह दैवीय उत्तराधिकार का प्रतिनिधित्व

---

1 कुरान - 23 12—14, 30 11
2 कुरान - 7 11
3 कुरान - 32 8
4 कुरान - 17 85
5 डॉ० नबी, डेवेलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ-117
6 कुरान - 17 85
7 कुरान - 15 29

बन सके। कहीं-कहीं यह भी सकेत किया गया है कि आत्मा एक है, जिससे अनेक आत्माओं का आविर्भाव होता है।[1]

अत हम कह सकते हैं कि इस्लाम धर्म के अनुसार आत्मा एक आध्यात्मिक पदार्थ है। दैवी वस्तु है। ईश्वर का अंश है। आत्मा अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित है। ईश्वर ही आत्मा का स्रष्टा है। आत्मा सृजित जीवों से सम्बन्धित है। यह मनुष्य का मूल तत्व है। इसके अभाव मे शरीर जल है, पानी है, अकर्मण्य है। प्रत्येक आत्मा अपने व्यक्तित्व को जीवित एव सुरक्षित रखता है। शरीर का नाश होता है, क्योंकि वह अल्लाह द्वारा भौतिक पदार्थों से निर्मित है, परन्तु आत्मा अविनाशी है, क्योकि वह अनादि, अनत, पूर्ण एव अविनाशी ईश्वर का अंश है। आत्मा भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों जगत से सम्बन्धित है। वह कुछ कारणों से आध्यात्मिक जगत से भौतिक जगत की ओर आता है और मानवीय शर्रार को धारण करता है, परन्तु मानवीय शरीर या भौतिक जगत, उसका वास स्थान नहीं है। आत्मा दिव्य लोक की निवासी है। एक निध ारित समय के उपरान्त पुन वापस उसी ओर लौट जाता है, क्योंकि आत्मा अल्लाह की ओर से आता है और उसी की तरफ लौट कर जाता है।[2]

कुरान के अनुसार आत्मा एक नहीं, अपितु अनेक है। भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्मायें अवस्थित हैं। प्रत्येक मनुष्य के निर्माण के बाद वह उसमें अपनी 'रूह' फूँक देता है।[3] अत मनुष्यों में जो चेतना शक्ति पायी जाती है वह पदार्थों के भौतिक अथवा रासायनिक मिश्रण या प्रक्रिया की देन नहीं है, बल्कि उसका मूल स्रोत अल्लाह की सत्ता है। मानवीय चेतना, वास्तव में अल्लाह के गुणों की एक हल्की प्रतिच्छाया है। वह अग्राह्य है। मानवीय मस्तिष्क आत्मा से सम्बन्धि ात प्रश्नों का समुचित उत्तर पाने में असमर्थ है। वह मानवीय सीमाओं से परे है और ईश्वर की कृपा से ही उसके विषय में थोडा बहुत ज्ञान हो पाता है।[4]

'नफ़्स और रूह'

सूफी धर्म दार्शनिकों ने भी आत्मा के विषय में अपने अपने विचार व्यक्त किये हैं। आत्मा को लेकर सूफी दार्शनिक एकमत नहीं हैं, उनमे पर्याप्त मत भिन्नता पाई जाती है।

सूफी आत्मा के दो भेद करते हैं- 'नफ़्स और रूह'। नफ़्स सभी प्रकार की कुप्रवृत्तियों का आश्रय एव निम्न कोटि का है। रूह सद्प्रवृत्तियों का उद्गम स्थल है।[5] नफ़्स भावा-वेग से परिचालित होता है, जबकि 'रूह' विवेक के द्वारा। आपस

---

1 कुरान - 7 189, 39 6

2 कुरान - 6 36, 10 4

3 कुरान - 15 29

4 कुरान - 17 85

5 डॉ० नबी, डेवेलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ- 126

में सदैव इन दोनो का सघर्ष चलता रहता है और अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार आत्मा को दिशा प्रदान करते हैं।[1] सूफी दार्शनिको के अनुसार उच्चतर आत्मा शरीर मे पहले से विद्यमान रहता है। परमात्मा ही आत्मा विशेष को मानव शरीर मे भेजता है। इस उच्चतर आत्मा के भी तीन भेद हैं- (अ) कल्ब अथवा दिल (ब) रूह अथवा जान (स) सिर्र अथवा अन्त करण। यह सिर्र ही सबसे भीतर का हिस्सा है, जहॉ सूफी साधक परमात्मा का दर्शन किया करता है। यहॉ पर किसी भी प्रकार की कुप्रवृत्तियों का प्रवेश सम्भव नहीं है। यही मानो परमात्मा का वास स्थान है, जहॉ वह मनुष्य को जान पाता है और मनुष्य वहीं परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करता है।[2]

सूफियो का विश्वास है कि आत्मा इस ससार में आने से पहले परमात्मा से अभिन्न रहता है।[3] वह इस ससार में रहते समय अपने निर्माता के पास निर्वासित रहता है और जितने काल तक वह मनुष्य शरीर में रहता है, वह उसका निर्वासन काल है। यह आत्मा अपार्थिव है और वास्तव में यह जगत उसका वास स्थान नहीं है।[4] आत्मा उस आध्यात्मिक जगत से कुछ कारणवश इस जगत में आता है और इस जगत में वास करने के लिए इस जगत के अनुरूप उसे शरीर धारण करना पडता है, फिर भी उसका खिचाव अपने वास्तविक स्थान की ओर ही रहता है। शरीर तथा जड जगत के नाना प्रलोभन कुछ इस प्रकार से उस पर प्रभाव डाले हुए रहते हैं कि उसके लिए अपने उद्‌गम स्थल और अपने वास्तविक जगत् का ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

आत्मा पवित्र रूप से निर्मित हुआ है, लेकिन नफ्स उसे सदैव नीचे की ओर ले जाने की चेष्टा करता है। नफ्स के कारण ही आत्मा कलुषित होता है और उसमें तमाम बुराईयॉ आती हैं।[5] नफ्स आत्मा को नरक की ओर ले जाता है। अब यहॉ एक प्रश्न यह उठता है कि परमात्मा ने नफ्स को बनाया ही क्यों जो आत्मा को दूषित करता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सूफी दार्शनिकों का कहना है कि परमात्मा ने नफ्स को इसलिए बनाया कि वह आत्मा को बराबर आघात देता रहे जिससे कि आत्मा परमात्मा को भूलने न पाये।

रूह आत्मा को ऊपर की ओर ले जाता है। परमात्मा सम्बन्धी वृत्तियों का यह वास स्थान है। अत साधक रूह के द्वारा नफ्स पर नियन्त्रण कर सकता है। साधना के द्वारा आत्मा में लगे हुए कलुष को दूर किया जा सकता है और उसे पूर्वावस्था प्राप्त हो सकती है। प्रसिद्ध सूफी विचारक अबु-तालिब का कहना है कि साधक दिल को पवित्र करके परमात्मा की विभूतियों का ध्यान करता हुआ क्रमश उस अवस्था में पहुॅच सकता है जहाँ परमात्मा के स्मरण के सिवा उसकी आत्मा में और कुछ भी नहीं रह जाता है। यह स्थिति जिक्र(स्मरण) और मुराकूबत (ध्यान) के द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

---

1 वही, पृष्ठ- 71—72
2 आर०ए० होल्सन, स्टडीज इन इस्लॉमिक मिस्टिसिज्म, पृष्ठ- 50—51
3 वही, पृष्ठ- 184
4 डॉ० नवी, डेवेलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ-71
5 वही, पृष्ठ- 117—126

आत्मा, कल्ब, रूह, नफ्स आदि के सम्बन्ध मे भी कई प्रकार के मत प्रचलित हैं। कल्ब मनुष्य की बौद्धिक क्रियाओं का आधार है। यह अन्तरतम् के अत्यन्त गोपन और सच्चे भावों का उद्भावना करने वाला है।[1] यह वाह्य इन्द्रियों के द्वारा दृश्यमान जगत में अभिव्यक्त होने वाला परमात्मा विषयक ज्ञान को ग्रहण करता है और उन्हें अन्तस्थल में प्रकाशित करता है। अन्तस्थ की सूक्ष्म इन्द्रियों को उनसे अवगत कराता है। इसका बुद्धि से योग है। बुद्धि के द्वारा परमात्मा को नहीं जाना जा सकता लेकिन कल्ब कुछ ऐसा है जो पदार्थों का सार-तत्व जान सकता है, और जब ज्ञान और इमान का प्रकाश उस पर पडता है तो अध्यात्म जगत के सारे रहस्यों का ज्ञान वह प्राप्त कर लेता है। साधारणत: कल्ब पर पर्दा पडा रहता है और पापों से दूषित बना रहता है। वह इन्द्रियों का शिकार बना हुआ कभी तर्क से एक ओर खिचता है और कभी वासनाओं से दूसरी ओर। यह भौतिक स्थूल जगत् तथा आध्यात्मिक जगत् के बीच स्थित है।

विश्व ब्रहमाण्ड के दो भाग हैं। एक दृश्य-मान पार्थिव जड जगत है, जो आदि भूत से उत्पन्न हुआ है। इसे आलमें खल्क कहते हैं। दूसरा अदृश्य आध्यात्मिक जगत् है जो परमात्मा की आज्ञा से एक निमेष में सृष्ट हुआ। परमात्मा ने आदेश दिया- 'कुन' (हो जाओ) और यह हो गया। इसे आलमे अम्र कहते हैं। कल्ब इन दोनों के बीच स्थित है। वास्तव में यह रूह और नफस के मध्य में है। प्रकाश और अन्धकार के सन्धिस्थल पर स्थित यह मानो एक युद्ध क्षेत्र बना हुआ रहता है, जिसमें सद्वृत्तियों और कुप्रवृत्तियों का सघर्ष होता रहता है। एक ओर तो वह परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए खुला रहता है, तो दूसरी ओर इन्द्रिय-जनित-माया-मरीचिका का प्रवेश होने देता है। दर्पण की तरह यह परमात्मा के नामों को प्रतिबिम्बित करता है। इब्नुल अरबी का कहना है कि परमात्मा के जिस नाम (इस्म) का साक्षात यह करता है, उसी के जैसा यह रूप ग्रहण करता है, जैसे मोम तरह-तरह की आकृतियों में परिवर्तित हो जाता है। यह कल्ब, रक्त मांस के बने हुए हृत्पिण्ड से भिन्न है, फिर भी इस शरीर में हृदय के साथ यह एक रहस्यमय ढंग से जुड़ा रहता हैं।[2]

रूह को अमर और अदृश्य जगत का निवासी बताते हुए इब्नुल फरीद ने कहा है कि इसमें बुराई आ ही नहीं सकती है।[3] परमात्मा का प्रेम रूह का ही विषय है, नफ्स का नहीं।[4] परमात्मा के प्रेम का आश्रय स्थल रूह है। जीली ने रूह तथा रूहुल-कुद्स दो विभाजन किये हैं। रूह को जीली ने देवदूत माना है, तथा उसे कुत्ब कहा है।[5] जीली के अनुसार परमात्मा ने अपनी ज्योति से रूह की सृष्टि की और फिर उससे जगत का निर्माण किया।[6] रूहुल-कुद्स (पवित्र आत्मा) मानव शरीर में सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक इन्द्रिय है।[7] मनुष्य के शरीर में रूहुल-कुद्स के प्रवेश के सम्बन्ध में जीली का कहना है कि जब

---

1 डी०वी० मैकडोनाल्ड, द रीलिजियस लाइफ एण्ड एटिट्यूड इन इस्लाम, पृष्ठ-221
2 आर०ए० निकोलसन, स्टडीज ऑफ इस्लॉमिक मिस्टिसिज्म, पृष्ठ- 159
3 वही, पृष्ठ- 162–166
4 वही, पृष्ठ- 203
5 वही, पृष्ठ- 110–111
6 वही, पृष्ठ- 110
7 वही, पृष्ठ- 109

परमात्मा अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता है तो वह मनुष्य के भीतर 'फना' की अवस्था ला देता है। उस अवस्था मे मनुष्य के भीतर से मानवीय ज्योति और जीव जगत के विशेषत्व का अवसान हो जाता है और तब परमात्मा एक आध्यात्मिक द्रव्य को उस स्थान पर मनुष्य के भीतर प्रविष्ट करता है। यह द्रव्य परमात्मा से अलग नहीं है, और मनुष्य से सयुक्त भी नहीं है। इसी मे परमात्मा अपने आपको अभिव्यक्त करता है। परमात्मा की अभिव्यक्ति परमात्मा के सिवा कहीं नहीं होती है। यही द्रव्य रूहुल-कुदूस है।[1] इस पवित्र आत्मा को जीली ने अनित्य और परमात्मा द्वारा सृष्ट माना है। रूह और रूहुल-कुदूस ये दोनों परमात्मा की ही आत्मा जैसी हैं, और परमात्मा के सम्बन्ध से ये नित्य हैं और मनुष्य के सम्बन्ध से अनित्य हैं।

सुफी दार्शनिक हुजवीरी ने रूह को एक सूक्ष्म द्रव्य विशेष माना है। यह गुण नहीं है। यह सूक्ष्म जिस्मी लतीफ (द्रव्य विशेष) है। यह केवल चश्मेदिल (हृदय के नेत्र) से देखा जा सकता है। हुजवीरी ने इसे अनित्य माना है और वह इसे परमात्मा द्वारा निर्मित मानता है। उसका कहना है कि शरीर के पहले यह विद्यमान था। परमात्मा शरीर और रूह को मिलाने वाला है। ये दोनो दो अलग-अलग पदार्थ हैं, जो परमात्मा द्वारा निर्मित हैं। शरीर का निर्माण जब हो जाता है, तब परमात्मा उसमें रूह फूॅक देता है।

सामान्य तौर पर 'नफ्स' शब्द का अर्थ बुराईयों को द्योतक नहीं है। इसका अर्थ किसी वस्तु का तत्व और वास्तविकता है, लेकिन लोगों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में इसका व्यवहार किया है। साधारणत सूफी दार्शनिक इसे जड़ आत्मा कहते हैं, जो बुरे मार्गों पर ले चलने वाला है।[2] यह बराबर मनुष्य को पतन की ओर प्रवृत्त करता है। नफ्स को जानना और उस पर विजय प्राप्त करना प्रत्येक सुफी के लिए आवश्यक है, क्योंकि बिना इसके परमात्मा से मिलन सम्भव नहीं। मुहम्मद बिन अली, अल तिरामिघ, जुनैद, अबू मजीद बिस्तानी, और जून-नून आदि साधकों ने नफ्स को जानने और उससे संघर्ष करने तथा उसका दमने करने पर जोर दिया है।[3] जुनैद ने तो यहॉ तक कहा है कि नफ्स द्वारा परिचालित होने वाला व्यक्ति काफिर है।[4] जीली, इब्लीस† को नफ्स से उत्पन्न हुआ मानता है और इसे ही सभी बुराईयों की जड कहता है।

नफ्स भी एक द्रव्य विशेष है, जो नाना रूप धारण करता है। इसका विनाश नहीं किया जा सकता, भले ही इसकी बुराईयों को दूर करने की चेष्टा की जा सकती है। इसके अस्तित्व की आवश्यकता है, जिससे कि साधक बराबर सावधान रहे और अपने आध्यात्मिक मार्ग पर अविचल रहे।

---

1 वही, पृष्ठ- 128

2 एम०एम० शरीफ, ए हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम फिलॉस्फी (खण्ड-1), पृष्ठ-363

3 वही, पृष्ठ- 340–345

4 वही, पृष्ठ- 344

† पाद टिप्पणी- इब्लीस' शब्द का अर्थ होता है अत्यन्त निराश शोक ग्रस्त और इकार करने वाला। इब्लीस का 'लकब' (उपनाम) है, जिसने अल्लाह का हुक्म नहीं माना और आदम के आगे झुकने से इकार कर दिया और इस बात का बीड़ा उठाया कि वह आदमी की सतान को बहकाएगा और उन्हें सतमार्ग से विचलित करने की पूरी चेष्टा करेगा।

संकल्प स्वातन्त्र्य

ईश्वर ही सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एव सर्वज्ञ है और वही सृष्टिकर्ता है, ऐसा ईश्वरवादी दार्शनिको की मान्यताए हैं। इस ससार के समस्त कार्य उसी की इच्छा से सचालित होते हैं। मनुष्य ईश्वर की ही सृष्टि है तथा अपनी इच्छा से वह कुछ भी करने मे असमर्थ है। दूसरा पक्ष यह मानता है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है, वह आत्मचेतन है, तथा अपने कार्यों का स्वय निर्णय कर सकता है। कोई बाह्य शक्ति उसके कर्मों का नियन्त्रण नहीं करती है। वह अपना आत्म विकास स्वनिर्मित साधनो से कर सकता है। परस्पर इन्हीं दो विपरीत मान्यताओं से सकल्प स्वातन्त्र्य की समस्या का उदय होता है।

संकल्प स्वातन्त्र्य की समस्या समस्त दार्शनिक समस्याओं में अत्यन्त जटिल समस्या है। स्वयं कुरान में उपरोक्त दोनों मतों के समर्थन में आयतें प्राप्त होती हैं। यही कारण है कि इस्लाम के प्रारम्भ से ही इस समस्या पर विवाद होने पर दो अलग-अलग सम्प्रदाय बन गये जो एक दूसरे के विरूद्ध विचार रखते हैं तथा कुरान द्वारा अपने मत की पुष्टि करते हैं। इनमें से एक को भाग्यवाद कहा जाता है, जिसकी मान्यता के अनुसार ईश्वर एक निरपेक्ष सम्राट है, वह अच्छी और बुरी सभी चीजों को निर्दिष्ट करता है, वह जो कुछ चाहता है, वही करता है, और मनुष्य इस दैवी कार्य के हाथों में मात्र एक खिलौना है।[1] दूसरी विचारधारा जिसे इच्छा स्वातन्त्र्य कहा जाता है, यह मानता है कि कर्म की पूर्ण स्वतन्त्रता है। ईश्वर द्वारा मनुष्यों को शक्ति और सामर्थ्य प्रदान किया गया है और मनुष्य अपनी स्वेच्छा के अनुसार उसका सदुपयोग या दुरूपयोग करने अर्थात उचित या अनुचित व्यवहार करने में पूर्ण स्वतन्त्र है।[2]

उपरोक्त दोनों मतों में गुण और दोष दोनों हैं। एक तरफ जहाँ भाग्यवादियों ने ईश्वर में असीम शक्ति और इच्छा की पूर्णता का आरोपण करके उसकी स्थिति को सर्वोच्च बना दिया है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने मनुष्य को अपने भाग्य की रचना करने में कोई हिस्सा न देकर उसे निम्न से भी निम्नतर स्थान प्रदान करके उसे महत्वहीन बना दिया है।

इस्लाम धर्म इन दोनों सीमाओं के बीच मध्यममार्ग के अनुसरण का प्रयास करता है। यहॉ भाग्यवाद और पूर्ण स्वतन्त्रता के बीच समन्वयव का प्रयास किया गया है। एक ओर जहॉ सर्वोच्च सत्ता में असीमित शक्तियों की सत्ता की दृढता के साथ स्थापना होती है वहीं दूसरी ओर मनुष्य के लिए अपूर्ण स्वतन्त्रता और जिम्मेदारी के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। कुरान की आयतें प्रकट करती हैं कि मनुष्य ईश्वर की दिव्य शक्तियों के अतिक्रमण किये बिना ही अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी है।[3] समन्वय के उक्त दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि ईश्वर अत्यन्त विस्तृत शक्तियों से

1 एस०एम० नबी - मुस्लिम थॉट एण्ड इट्स सोर्स, पृष्ठ- 13

2 वही, पृष्ठ - 13–14

3 कुरान- 2 48, 34 25, 35 18, 36 54

युक्त एक सर्वोच्च प्रभुताशाली सत्ता है। परन्तु मानवीय सत्ताओं का भी अपने भाग्य की रचना करने में कुछ हाथ है, क्योंकि मनुष्य सद्मार्ग और कुमार्ग (अर्थात शुभ और अशुभ) और उचित और अनुचित के बीच चुनाव या निर्णय करने मे समर्थ है। इसलिए जहॉ भाग्यवादिता या पूर्व निर्धारण का समर्थन मिलता है, उसका सामान्यत· तात्पर्य यह होता है कि उसके द्वारा सामान्य क्रियाविधि (कार्यप्रणाली) या प्रकृति के नियम को दृढता और मान्यता प्रदान की गयी है।[1] मनुष्य अपनी सत्ता के सीमित क्षेत्र के भीतर अपने चरित्र का निर्माता और अपनी भाग्य का शिल्पी है, जो परम बुद्धि के नियन्त्रण और निरीक्षण के अधीन है।[2]

सूफी विचारक इमाम जफर-अज सादिक का इस सम्बन्ध में कहना है कि जो "जब्र" (दबाव या भाग्यवाद) का समर्थन करते हैं, वे ईश्वर को अपने द्वारा किये गये प्रत्येक पाप या अपराध में सहयोगी मानते हैं और उन पापो को दण्डित करने के लिए ईश्वर को एक निष्ठुर शासक समझते हैं। यह नास्तिकता है। 'जब्र' का सिद्धान्त ईश्वर को एक अन्यायी स्वामी के रूप में बदल देता है।[3] इमाम जफर पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रतिकूल सिद्धान्त (जिसका अर्थ शक्ति या अधिकार का प्रतिनिधित्व है, मात्र मानवीय इच्छा की स्वतंत्रता नहीं है) के विषय में सूचित करते हैं कि यदि इस प्रकार के सिद्धान्त को प्रमाणित या स्वीकार किया गया तो यह नैतिकता के सभी आधारों को ध्वस्त कर देगा और सभी मानवीय सत्ताओं को अपनी पाशविक प्रवृत्तियों मे लिप्त हो जाने का पूर्ण अधिकार दे देगा, क्योंकि यदि प्रत्येक मनुष्य 'क्या उचित है क्या अनुचित है' के चुनने मे विवेक या निर्णय से युक्त किया जाता है तब किसी भी विधान या नियम और किसी बन्धन का कोई भी प्रभाव नहीं रह जायेगा।[4]

इस प्रकार उपरोक्त दोनो मतों के समर्थन एव विरोध में अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ है जो अपने तर्कों से तथा कुरान की आयतों की व्याख्या से अपने पक्ष का समर्थन एव दूसरे पक्ष का खण्डन करते हैं। इन सम्प्रदायों में जब्र के सिद्धान्त (भाग्यवाद) के समर्थन करने वाले सम्प्रदायों मे अशअरी सम्प्रदाय और उम्मैदी सम्प्रदाय प्रमुख हैं।[5] शहर अस्तानी भी जब्र के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए इसकी दो शाखाओं का निर्देश करते हैं। एक शाखा के अनुसार मानव में कर्म करने की योग्यता एवं क्षमता नहीं है और दूसरी शाखा के अनुसार मानव में कर्म करने की योग्यता एवं क्षमता तो है किन्तु वह कर्म के फल को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।[6] जब्र के सिद्धान्त के विरोध में जुदैनी का कद्र का सिद्धान्त है, जिसका समर्थन मुअतजिला सम्प्रदाय द्वारा भी किया गया है। इस सिद्धान्त में कर्म स्वातन्त्र्य पर विशेष बल दिया जाता है।[7]

---

1 एस०एम० नबी - मुस्लिम थॉट एण्ड इट्स सोर्स, पृष्ठ- 16–17
2 वही, पृष्ठ- 17
3 एस० अमीर अली- द स्पिरिट ऑफ इस्लाम, पृष्ठ - 36
4 एस०एम० नबी - मुस्लिम थॉट एण्ड इट्स सोर्स, पृष्ठ- 17–18
5 वही, पृष्ठ- 18–19
6 वही, पृष्ठ- 19
7 वही, पृष्ठ - 42

नैतिक बन्धन और पूर्ण स्वतन्त्रता के ठीक बीच इस्लाम का दृष्टिकोण है। इमाम अल-अर-रिदा ने इस्लाम के दृष्टिकोण का सार प्रस्तुत करते हुए कहा है- "ईश्वर ने तुम्हे दो मार्गों का निर्देश किया है, जिसमें एक तुम्हें उसकी ओर ले चलने का नेतृत्व प्रदान करता है और दूसरा तुम्हें उसकी पूर्णता से दूर ले जाता है। तुम दोनों को, सुख या दुख को, पुरस्कार या दण्ड को ग्रहण करने में स्वतन्त्र हो और यह तुम्हारे चरित्र पर निर्भर करता है। परन्तु मनुष्य के पास सामर्थ्य नहीं है कि वह बुराई को अच्छाई में या पाप को पुण्य में बदल दें।"[1]

मनुष्य और ईश्वर

इस्लाम धर्म की मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य का ईश्वर से सीधा सम्बन्ध होता है। मनुष्य ईश्वर के प्रति स्वय उत्तरदायी है।[2] ईश्वर और जीव के बीच किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं है, अर्थात मनुष्य को अपने पूज्य अल्लाह की पूजा के लिए किसी भी माध्यम जैसे मूर्ति या किसी अन्य प्रतीक का उपयोग नहीं करना चाहिए।[3] इमाम अथवा धर्माधिकारी भी जीव को ईश्वर से मिलाने के माध्यम नहीं है। इमाम मस्जिद में केवल नमाज का नेतृत्व करता है। व्यक्ति को अपने सभी कर्तव्यों का ज्ञान कुरान में सकलित दैवी ज्ञान तथा पैगम्बरवादी परम्परा से होता है। इमाम अल गजाली का कहना है कि यथार्थ एकतत्ववादी सिवाय ईश्वर के कुछ नहीं देखता है। वह अपने को देखता है और स्वय को ईश्वर का आज्ञा पालक समझता है। इसी कारण मनुष्य और ईश्वर के बीच पूजक और पूज्य का सम्बन्ध है।[4] इस्लाम धर्म के अनुसार जब मनुष्य और उसका सब कुछ ईश्वर का है, तो प्रत्येक व्यक्ति को, हर समय, हर अवस्था तथा हर कार्य में ईश्वर का भक्त होना चाहिए। इबादत अथवा भक्ति मनुष्य के कुछ समय अथवा कुछ कार्य क्षेत्र से ही सम्बन्धित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण जीवन का प्रश्न है। इसी कारण इस्लाम धर्म यह आदेश देता है कि तू अपने सम्पूर्ण जीवन में जीवन के समस्त साधनों के साथ ईश्वर का भक्त बन, उसकी आज्ञाओं का पालन कर।[5] इस आदेश को मानकर किये गये प्रत्येक कार्य में वही महानता होगी, उसी पवित्रता का समावेश होगा जो सच्ची इबादत (भक्ति) में होती है।

इस्लाम धर्म के अनुसार मनुष्य का सरक्षक मित्र तथा सहायक अल्लाह ही है।[6] चूँकि वह सम्पूर्ण सृष्टि का 'रब' है, अत संसार की प्रत्येक वस्तु का नियन्ता वही है।[7] मनुष्य अपने जीवन मरण के लिए उसी पर आश्रित है।[8] न्याय के

1 एस० अमीर अली- द स्पिरिट ऑफ इस्लाम, पृष्ठ - 364
2 कुरान - 2 134, 52.21
3 कुरान - 10 34, 16 209, 17 56, 21 21, 21 43, 22 11, 25 3, 28 70, 36 74—75, 46 4
4 कुरान - 7 156
5 कुरान - 2 185, 24 37, 27 3
6 कुरान - 22 78
7 कुरान - 1 1, 2 139, 19.65, 45 36
8 कुरान - 2 28, 6 95, 10 55

दिन वही कर्मों का फल प्रदान करेगा।[1] कोई भी चीज ईश्वर के लिए असम्भव नहीं है, और वह जब और जैसे चाहता है सभी जीवधारियों के जीवन में क्रियाशील रहता है।[2] अत. विश्व के जितने भी जीव हैं। वे सब अल्लाह के बन्दें हैं। वह मालिक है, स्वामी और दाता है तथा मनुष्य उसका दास है। वस्तुत ईश्वर और मनुष्य के बीच स्वामी और दास के सम्बन्ध द्वारा बन्दे के हृदय मे ईश्वर के प्रति आस्था एव निष्ठा को दृढ करने का प्रयास किया गया है।[3]

यदि कुरान की भाषा में कहा जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि रचना और प्राणियों का अपने रचयिता के साथ सम्बन्ध ऐच्छिक या अनैच्छिक आज्ञा-पालन का है। सबसे अधिक उच्च तथा पवित्र मानवीय सत्तायें भी प्राणी ही हैं, और रचयिता के साथ प्राणियों की एकता पूर्ण आत्म-समर्पण के द्वारा प्राप्त होती है जो इस्लाम का शाब्दिक अर्थ है, अर्थात् 'ईश्वर की इच्छा के सम्मुख पूर्ण समर्पण'। इतना ही नहीं बल्कि यह आत्म-समर्पण सम्पूर्ण प्रकृति में पाया जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि उसका प्रकाशन है। ईश्वर का कोई शरीर नहीं है।[4] वह मनुष्य के करीब से करीब है और दूर से भी दूर है।[5] जो मनुष्य उसके आदेशों का पालन करते हैं, उनके वह सन्निकट है, उनका संरक्षक और सहायक है, परन्तु जो उसके आदेशों का उल्लघन करते हैं, उन्हें नरक में अत्यन्त दु ख का सामना करना पड़ता है।[6] वह प्रत्येक मनुष्य के कार्यों को देख रहा है, यहाँ तक कि प्रत्येक मनुष्य के दिल का हाल तक उसे मालूम रहता है।[7]

सूफी परम्परा में ईश्वर-जीव सम्बन्ध

इस्लाम धर्म ग्रथ कुरान में अल्लाह और उसके बन्दों का सम्बन्ध मालिक और गुलाम जैसा बतलाया गया है। जबकि सूफी दार्शनिक अल-गजाली, इब्न-सीना आदि विचारकों ने ईश्वर से प्रेम के सम्बन्ध का वर्णन किया है। जीव को विरह की अनुभूति प्रेम के कारण ही होती है। प्रेम से ही प्रेरणा पाकर जीव उस सत्ता में फिर मिल जाने का प्रयास करता है, जिस सत्ता से वह तथा सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। इस्लाम में बन्दे को अल्लाह का गुलाम बताया गया है। इसी गुलामी के भाव के स्थान पर सूफियों ने प्रेम को स्थापित किया और इसके आ जाने से ही इस्लाम में रहस्यवाद का समावेश बढ़ने लगा। सूफियों ने ईश्वर को प्रियतम् के रूप में माना है।

---

1 कुरान - 3 30, 11 111, 7 7, 21 47
2 कुरान - 2 20, 3 47, 12 21, 16 40, 85 16
3 कुरान - 16 65, 16 67
4 कुरान - 2 163, 9 129, 25 2
5 कुरान - 50 16
6 कुरान - 4 13, 19 85, 23 10, 25 65, 27 89, 33 66
7 कुरान - 31 16 40 19, 2 74, 3 29, 6 80, 10 61 64 4

सूफियों ने अनेक बार ईश्वर को साकी के रूप में वर्णित किया है, जिसका अर्थ जीवन की शराब देने से है।[1] इसका आशय प्रियतम से भी होता है। अब प्रश्न है कि प्रियतम स्त्री है या पुरूष? यह सदेहास्पद है, वह दोनो ही हो सकता है। वस्तुत मुख्य बिन्दु तो यह है कि प्रियतम एक तीव्र या अगाध प्रेम का विषय है, और इसी कारण से प्रेम करने वाले भक्त पर इसका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। सूफियों ने 'अन-अल-हक' का सिद्धान्त माना है, जिसका अर्थ है 'मै ईश्वर हूँ।[2] इस प्रकार जीव 'हक' हो गया। वह सत्य, नित्य और एक मान लिया गया। अल्लाह और बन्दे में कोई अन्तर नहीं है। यह मत कुरान में प्रतिपादित ईश्वर-जीव सम्बन्ध में भेद के स्थान पर अभेद की स्थापना करता है। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मुस्लिम दार्शनिकों ने कभी भी 'अब्द' (मनुष्य) और 'माबूद' (ईश्वर) के बीच 'इत्तिहाद'(एकता) के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया है। यहाँ तक कि जब कभी मुहम्मद साहब से पूछा गया आप कौन हैं? तो पैगम्बर का उत्तर था कि, मैं तुम्हारे ही समान मनुष्य हूँ, सिर्फ इसे छोड़कर कि मुझे दैवी वाणी की प्राप्ति होती है।[3]

सूफी सन्त बयाजिद विस्तामी ने कहा है- 'मै पवित्र हूँ' मेरी कीर्ति कितनी महान है। मंसूर हल्लाज ने भी कहा है कि 'मै ही सत्य हूँ'। परन्तु इन कथनों का अभिप्राय मनुष्य और ईश्वर के बीच तादात्म्य नहीं है। बयाजित विस्तामी ने 'सुक्र' (उन्माद) और 'फना' (लय प्राप्त होना) के सिद्धानत का प्रतिपादन किया है। सुक्र ईश्वर के लिए अपार आनन्द या हर्ष के प्रेम को सूचित करता है। इसी में चेतना, पूर्वज्ञान और चुनाव के समान मानवीय गुणों का समर्पण और ईश्वर में मनुष्य के आत्म-नियन्त्रण का पूर्ण विलय निहित होता है। 'सुक्र' के अनुसार आदमी ईश्वर के द्वारा स्थिर रहता है। 'फ़ना' मनुष्य की अपनी आत्मा का ईश्वर में पूर्ण विलय हो जाना है। यह ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण है और आत्म-समर्पण ईश्वर के प्रभुत्व के लिए पूर्ण आज्ञा पालन है।

अत· 'सुक्र' और 'फना' के द्वारा एक मनुष्य ईश्वर से संयोग प्राप्त करता है और संयोग की इस स्थिति में मनुष्य मनुष्य रहता है और ईश्वर ईश्वर है।[4] इस मान्यता को अन्य सूफियों ने भी स्वीकार किया है।

मंसूर इल्लाज के अनुसार जीव हमेशा के लिए ब्रह्म नहीं बन सकता। उसकी सत्ता बनी रह सकती है, पर उसकी पूरी तरह समाप्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार एक शरीर में दो प्राण हैं, जो परस्पर प्रेम से बंधे हैं।[5]

---

1 डॉ० रामपूजन तिवारी, सूफी मत- साधना और साहित्य, पृष्ठ- 316

2 एम० एम० शरीफ- ए हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम फिलॉस्फी(भाग-1), पृष्ठ- 342
ए० जे० अरबरी- सूफीज्म, पृष्ठ - 60

3 कुरान - 18 10

4 आर०ए० निकोलसन, स्टडीज इन इस्लॉमिक मिस्टिसिज्म, पृष्ठ- 230
डॉ० नबी, शेड्स ऑफ मिस्टिसिज्म, पृष्ठ- 18

5 एम० एम० शरीफ- ए हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम फिलॉस्फी(भाग-1), पृष्ठ- 346
ए० जे० अरबरी- सूफीज्म, पृष्ठ - 60

अल-गजाली ने तौहीद की वास्तविकता को व्याख्यायित करते हुए तौहीद की चार स्थितियॉ बतलायी हैं। तौहीद की प्रथम[1] और द्वितीय[2] स्थिति सामान्य स्तर की है। तौहीद की तीसरी स्थिति में 'ईश्वर के अलावा कोई पूज्य नही', यह दिव्य प्रकाश द्वारा दैवी ढग से प्रकाशित होता है। यह स्थिति उन लोगों से सम्बन्ध रखती है जो ईश्वर की निकटता में हैं। इस स्थिति में साधक ईश्वर के अलावा अन्य चीजों के प्रति भी सचेत रहता है, किन्तु इस जागरूकता के रहते हुए भी यही समझता है कि सभी चीजे 'एक' से प्रकट होती हैं जो सत्ता का एकमात्र मूल या आदि कारण है।

तौहीद की चौथी[3] अवस्था में केवल एक ही सत्ता को इन्द्रियों या मन द्वारा जाना जाता है, और वह है ईश्वर। सूफियों द्वारा यह 'फना-फिल-तौहीद (एक में फना) कहा गया है। तौहीद में उसके अपने निजी व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। यही वह अवस्था है जहॉ अनुभव होता है कि 'मै ही सत्य हूँ: और मै 'पवित्र हूँ' मेरी कीर्ति कितनी महान है'।

शेख शफरूद्दीन यहया मुनेरी ने कहा है कि जिस प्रकार सूर्य की चमकीली किरणों में धूल के कण दिखलाई नहीं पडते हैं, उसी प्रकार एक भक्त जब ईश्वर के आमने सामने होता है तो वह अपनी सत्ता को भूल जाता है और मात्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है।[4]

शेख निजामुद्दीन औलिया के अनुसार आत्मा का ज्ञान ईश्वर की ओर ले जाता है। जिस प्रकार से आत्मा शरीर से सम्बन्धित है, उसी प्रकार से ईश्वर अपने प्राणियों से सम्बन्धित होता है, और यही परम्परा का अर्थ है, जो स्वयं को जानता है, वह ईश्वर को जानता है।[5]

इस प्रकार ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध के विषय में सूफियों के 'बहदूतुल-वजूद' (सत्ता का एकत्व) सिद्धान्त के अनुसार सत्ता एक है अर्थात ईश्वर की सत्ता,और अन्य सभी सत्तायें अर्थात् जगत और आत्मा ये सभी ईश्वर के रूप में ही विद्यमान हैं।

---

1 तौहीद (एकत्व) की प्रथम स्थिति वह है, जब मनुष्य अपनी जिह्वा से उच्चारित करता है। (ईश्वर के अलावा कोई पूज्य नहीं), परन्तु उसका हृदय उससे रिक्त रहता है और उसे स्वीकार नहीं करता है। यह एकत्व एक छल या पाखण्ड है।
डॉ० नबी०, अल-गजाली कासेप्ट्स ऑफ तौहीद, पृष्ठ-34

2 तौहीद की दूसरी स्थिति वह जब मनुष्य अपनी जिह्वा से, ईश्वर के सिवाय कोई पूज्य नहीं, इस प्रकार उच्चारित करता है कि उसका हृदय दृढतापूर्वक मान लेता है। यह ईश्वर का वह एकत्व है, जैसा कि साधारण मनुष्य द्वारा समझा जाता है।

3 यह तौहीद की सर्वोच्च स्थिति है और इस स्थिति में वह मनुष्य इस अभिप्राय में एकत्ववादी है कि वह सिवाय ईश्वर के कुछ नहीं देखता है। वह प्रत्येक चीज को एकत्व में देखता है, न कि अनेकत्व में।
वही, पृष्ठ- 36–37

4 डॉ० नबी,–डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ- 113

5 वही, पृष्ठ- 72

पंचम अध्याय

ईश्वर – जगत सम्बन्ध

प्रथम भाग - हिन्दू धर्म के संदर्भ में

जगत का स्वरूप

हिन्दू धर्म मे जगत् को ब्रह्माण्ड कहा जाता है, और ब्रह्माण्ड का अर्थ होता हे- (Egg of Brahma) विश्व या जगत का विकास ब्रह्म मे हुआ हे, जो ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति का दूसरा नाम है।[1] अन्यत्र ब्रह्माण्ड का अर्थ वतलाते हुए कहा गया है कि जगत जिसमे सात लोक सन्निहित होते हे-ब्रह्माण्ड है।[2] ब्रह्माण्ड के ऊपर सात लोक निम्नलिखित हे-

1 भूर लोक या पृथ्वी

2 भुवर लोग (आकाश, चॉद, सूर्य, तारे, ग्रह)

3 स्वर लोक (प्रथम स्वर्ग)

4 महरलोक (द्वितीय स्वर्ग)

5 ज्ञानलोक (तृतीय स्वर्ग)

6 तपोलोक (चतुर्थ स्वर्ग)

7 सत्यलोक (पचम स्वर्ग)

उपरोक्त ब्रह्माण्ड के नीचे सात लोक है जो निम्नोक्त है-

1 अतल

2 वितल

3 सुतल

4 रसातल

5 तथातल

6 महातल

7 पाताल

हिन्दू धर्म के अनुसार ससार ईश्वर की सृष्टि है। हिन्दू धर्म विश्व की उत्पत्ति शून्य से नही मानता हे। यहॉ पर हिन्दू धर्म ईसाई धर्म से मेल नही रखता है। ईसाई धर्म के अनुसार विश्व की सृष्टि शून्य से हुई है। हिन्दू धर्म विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण ईश्वर को मानता है। ईश्वर विश्व का विकास अपने अन्दर से करता है, यद्यपि यह हिन्दू धर्म का सामान्य

1 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 100

2 वही, पृष्ठ - 100

सिद्धान्त है, फिर भी कुछ ऐसे विचार है, जिनमे ईश्वर को विश्व का निमित्त और उपादान कारण नही माना गया है।

वेदो मे जगत को सत्य माना गया है। यद्यपि देवताओ को अनेक माना गया है, फिर भी विश्व जिस पर वे शासन करते है एक है।[1] जहॉ तक विश्व की उत्पत्ति का सम्बन्ध है वेदो मे भिन्न-भिन्न विचार निहीत है। वैदिक मंत्रो मे यह कहा गया है कि ईश्वर ने विश्व का निर्माण पूर्व स्थित जड के द्वारा किया है।[2] ऋग वेद के नासदीय सूक्त मे सृष्टि की क्रिया का वर्णन मिलता है। नासदीय सूक्त के अनुसार- सृष्टि के आदि काल मे न सत था' न असत था, न वायु था, न आकाश, न मृत्यु थी, न अमरता, न रात थी, न दिन उस समय केवल वही एक था जो वायु रहित स्थिति मे भी अपनी शक्ति से सास ले रहा था, उसके अतिरिक्त कुछ नही था।[3] तपस से उस एक की उत्पत्ति हुयी। तपस एक अव्यक्त चेतन था। इससे ही सृष्टि हुई। तपस से इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का विकास हुआ। वेद के अन्य सूक्त मे अग्नि से जगत की उत्पत्ति मानी गयी है। इसके अतिरिक्त सोम से पृथ्वी, आकाश, दिन रात, जल आदि की उत्पत्ति मानी गयी है। अथर्ववेद मे उल्लेख मिलता है कि एक ही सत पर सारा विश्व अवलम्वित है। कहा गया है- इस उच्छिष्ठ (प्रपच-निषेध के बाद अवशिष्ट सत्) पर नामरूप आश्रित है, इसीपर सारा लोक आश्रित है।[4] यजुर्वेद का उद्घोष है- इस पुरुष का एक पाद (अश) यह सारा चराचर विश्व है, इसके तीन पाद इस विश्व के पार अमृत मे स्थित है।[5]

उपरोक्त विवेचन से लगता है ईश्वर ही इस जगत का उपादन एव निमिक्त दोनो कारण है। वह अपने अन्दर से सामग्री इकट्ठी कर इस प्रपचात्मक जगत का निर्माण करता है। जगत ईश्वर की सृष्टि होने के कारण ईश्वर जैसा ही सत्य है।

उपनिषदो मे भी जगत को सत्य माना गया है, क्योकि जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति का कारण है। जगत ब्रह्म मे उत्पन्न होता है, इसी से पलता है और अन्त मे उसी मे समा जाता है। तैतरीय उपनिषद मे कहा गया है कि-ब्रह्म जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का निमित्त और उपादान कारण है। जड चेतन मय समस्त जगत इसी से उत्पन्न होता है, इसी मे स्थित और जीवित रहता है, तथा इसी मे विलीन हो जाता है।[6] माण्डुक्य उपनिषद मे भी उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण ब्रह्म को ही बताया गया है।[7] बृहद० उपनिषद मे कहा गया है कि ब्रह्म सृष्टि की रचना करता है और उसी मे प्रविष्ट हो जाता है।[8] देशकाल प्रकृति आदि ब्रह्म का आवरण है, क्योंकि सभी मे ब्रह्म व्याप्त है। जिस प्रकार नमक पानी मे घुलकर सारे पानी को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म पदार्थों के अन्दर व्याप्त हो जाता है।

उपनिषदो मे जगत को ब्रह्म का विकास माना गया है। ब्रह्म से जगत के विकास का क्रम भी उपनिषदो मे निहित है।

---

1 डॉ० एच० पी० सिन्हा- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 34
2 वही, पृष्ठ - 34
3 ऋग्वेद नासदीय सूक्त- 10—129
4 अथर्ववेद- 11/9/1
5 ऋग्वेद- 10/90/3, पुरूष सूक्त
6 तैतरीय उपनिषद- 3/1, छादोग्य उपनिषद- 3/14/1
7 माण्डूक्य उपनिषद- 6
8 वृहदराण्यक उपनिषद- 3/9/28

विकास का क्रम यह है कि सर्वप्रथम ब्रह्म से आकाश का विकास होता है, आकाश से वायु का, वायु से अग्नि का विकास होता है। जगत् के विकास के अतिरिक्त उपनिषद् मे जगत के पॉच स्तरो का उल्लेख हुआ है जिसे पञ्चकोश कहा जाता है। भौतिक पदार्थो को अन्नमय कहा गया है। पौधे प्राण मय है, पशु मनोमय है। मनुष्य को विज्ञानमय तथा विश्व के वास्तविक स्वरूप को आनन्दमय कहा गया है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय को पञ्चकोष कहा गया है।

सृष्टि की व्याख्या उपनिषदो मे सादृश्यता एव उपमाओ के बल पर किया गया है। जैसे-प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियॉ निकलती है, सोने से गहने बन जाते है, मोती से चमक उत्पन्न होती है, बाँसुरी से ध्वनि निकलती है वैसे ही ब्रह्म से सृष्टि होती है। मकडी की उपमा से भी जगत के विकास की व्याख्या की गयी है। जिस प्रकार मकडी के अन्दर से उसके द्वारा बुने गये जालो के धागे निकलते है, उसी प्रकार ब्रह्म से सृष्टि होती है। सृष्टि को ब्रह्म की लीला भी माना गया है। क्योकि यह आनन्ददायक खेल है।

उपनिषदो मे कही भी विश्व को एक भ्रमजाल नही कहा गया है।[1] उपनिषद के ऋषिगण प्राकृतिक जगत् के अन्दर जीवन-यापन करते रहे और उन्होने इस जगत से दूर भागने का विचार तक नही किया। जगत् को कही भी उपनिषद मे निर्जन एव शून्य नही माना गया है। अत उपनिषद् जगत् से पलायन की शिक्षा नही देता।

साख्य दर्शन के अनुसार विश्व का विकास अचेतन प्रकृति से हुआ है। यह सृष्टिवाद में विश्वास न करके विकासवाद को अपनाता है।[2] सभी सासारिक वस्तुए मे विकास का फल है। सांसारिक वस्तुओं का कोई स्रष्टा नही, अर्थात् इन्हे कोई उत्पन्न करने वाला नही है। सभी वस्तुओ का केवल अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था मे विकास होता है, और इस विकास का कारण पुरुष ओर प्रकृति का सयोग है। जब प्रकृति की साम्यावस्था का खण्डन होता है, तब विभिन्न विषयो का विकास होता है। सर्वप्रथम प्रकृति से महत् या बुद्धि तत्व का विकास होता है।[3] यह सभी जीवो मे विद्यमान है। महत् से अहंकार का विकास होता है। अहकार अभिमान है। अहकार तीन प्रकार का होता है- सात्विक (वैकारिक) राजस (तैजस) और तामस। सात्विक अहकार से ग्यारह इद्रिया (पॉच ज्ञानेन्द्रिय) पाच कर्मेन्द्रिय और एक मन) का विकास होता है। तामस अहंकार से पच तन्मान्त्राओ का आर्विभाव होता है। राजस अहंकार दोनो के आर्विभाव मे प्रेरणा प्रदान करता है। पच तन्मान्त्राओं से आकाश वायु, तेज, पृथ्वी, जल आदि पच महाभूतो की उत्पत्ति होती है।[4] अत साख्य के अनुसार जगत पच्चीस तत्वों का खेल है।

इस प्रकार साख्य दर्शन अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त ससार का विकास स्वीकार करता है। मूल कारण प्रकृति ही है। प्रकृति रूपी कारण से ही सभी वस्तुओ का विकास हुआ है। यहॉ ध्यान देने की बात यह है कि सांख्य का विकासवाद सभी सांसारिक वस्तुओ की सृष्टि नही स्वीकार करता है, वरन् आविर्भाव स्वीकार करता है। अत. सांख्या सृष्टिवादी विचारधारा नही है। सृष्टि के लिए स्रष्टा (ईश्वर) की आवश्यकता है, जबकि सॉख्य निरिश्वरवादी है। यह ईश्वर को जगत का कारण नही मानता है।

---

1 डॉ० एच० पी० सिन्हा- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 63

2 डॉ० बी० एन० सिह, भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 197

3 डा० सी० डी० शर्मा- भारतीय दर्शन आलोचन एव अनुशीलन, पृष्ठ- 150

4 साख्यकारिका- 3

इसके अनुसार कार्य तो अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कारण मे विद्यमान रहता है।[1] यही सत्कार्य वाद है। यदि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी सत् है तो कार्य केवल कारण का रूपान्तरण है। जैसे तेल तिल के कणो का रूपान्तरण है। इसी प्रकार जगत के सभी पदार्थ अपने कारण प्रकृति मे उत्पत्ति के पूर्व भी रहते है। उत्पत्ति तो केवल रूपान्तर है। यह नवीन सृष्टि नही है। अत स्रष्टा की आवश्यकता नही। साख्य के अनुसार विश्व के विकास मे ईश्वर का कोई हाथ नही है।

वैशेषिक परमाणुओ को जगत्कारण मानते है।[2] इस जगत के सारे, भौतिक पदार्थ सावयव और उत्पत्ति विनाशशील है तथा नित्य परमाणुओ के विभिन्न सयोगो से बनते है। अत पदार्थ की उत्पत्ति का अर्थ है परमाणु सयोग ओर विनाश का अर्थ है-परमाणु-सयोग-विभाग।[3] सृष्टि के मूल तत्व परमाणु नित्य है। परमाणु स्वभावतः क्रियाशून्य और नि स्पन्द होते है। उनमे आद्यस्पन्द या गति ईश्वर सचालित अदृष्ट से आती है।[4]

जगत के बारे मे न्याय का मत वही है जो वैशेषिक का है। दोनों मे यदि अन्तर भी है तो वे छोटे-मोटे है। जगत सत्य है और ईश्वर तथा जीवात्माओ से पृथक है।[5] न्याय सीधे-सीधे वाह्यार्थवाद को मानने वाला है। भौतिक वस्तुएं और उनके गुण सत्य है, वे क्षणिक नही है बल्कि स्थायी और टिकाऊ है। द्रव्य सत्य है, और निरन्तर रहते है। गुणो से उनका अस्तित्व पृथक होता है। पृथ्वी, जल, तेजस और वायु प्रमाण वाले द्रव्य है। आकाश एक और विभु है। काल और दिक् ब्राह्यार्थ है। काल एक और अनन्त है। परिवर्तन काल मे होते है। दिक् एक और अनविच्छिन्न है। चीजें साथ-साथ दिक् मे रहती है। जगत को जाना जा सकता है। जीवात्मा उसके ज्ञाता है। ईश्वर जगत का स्रष्टा है।[6] उसने नित्य परमाणुओ से इसकी रचना की है। परमाणुओ को उसने पैदा नही किया है। ईश्वर जगत का निमित्त कारण है। जगत मे जो परिवर्तन होते है वे कारण के नियम के अनुसार होते है। लेकिन जगत एक निष्प्रयोजन यन्त्र नही है। कारण के नियम के साथ-ही-साथ कर्म का नियम भी जगत का शासनकर्ता है। कर्म के नियम को अदृष्ट कहते है। जगत का शासनकर्ता है। जगत की घटनाएं कारण के साथ-साथ धर्माधर्म के नियम का भी पालन करती है। न्याय जगत को नैतिक प्रयोजन का साधन मानता है।[7] कारण का नियम कर्म के नियम अथवा नैतिक नियम के अधीन है। ईश्वर भौतिक व्यवस्था को नैतिक व्यवस्था के अधीन रखता है। वह प्रकृति को आध्यात्मिक प्रयोजन के अनुसार चलाता है।[8]

न्याय द्वैतवाद को मानता है। आत्मा जगत से पृथक है। चेतन और जड का भेद आत्यन्तिक है। न्याय से शेश्वर परमाणुवाद को मानता है। वह नित्य परमाणुओ को भी मानता है और ईश्वर को भी। इन दोनों का अस्तित्व परस्पर आश्रित नहीं है।

1 साख्यकारिका- 9
2 डा० सी० डी० शर्मा- भारतीय दर्शन आलोचन एव अनुशीलन, पृष्ठ- 169
3 वही, पृष्ठ- 169
4 वही, पृष्ठ- 169
5 डॉ० यदुनाथ सिन्हा, भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 130
6 वही, पृष्ठ- 131
7 वही, पृष्ठ- 131
8 वही, पृष्ठ- 131

न्याय ईश्वर-जगत-भेदवादी है। वह ईश्वर को जगत से और जीवात्माओ से बाहर मानता है। सृष्टि और प्रलय मे भी न्याय का विश्वास है।

मीमासा बहुतत्ववादी वस्तुवाद है। वाह्य पदार्थो की प्राप्ति इन्द्रियो के द्वारा होती हे। अत जिस रूप मे जगत की उपलब्धि होती है, उसी रूप मे जगत सत्य हे।[1] मीमासा दर्शन जगत ओर उसके समस्त विषयों को सत्य मानता है।[2] इस जगत के जड़ पदार्थ तथा अनेक जीवात्मा वद्ध और मुक्त, सब सत्य है।[3] इस जगत की न तो सृष्टि हुई है और न इसका प्रलय होगा, जगत के विभिन्न पदार्थ और व्यक्ति, आते जाते और बदलते रहते है, किन्तु यह जगत सदैव वैसे ही चलता रहता है।[4] कर्म के नियम के अनुसार सृष्टि की रचना होती है। जगत की नवीन सृष्टि तथा नाश कभी भी नही होता है। कुछ मीमासक परमाणुवाद को मानते है और जगत को परमाणु-सघात-निर्मित स्वीकार करते है। जबकि कुमारिल का कथन है कि मीमासको के लिए परमाणुवाद मानना आवश्यक नही है।[5]

शकर के अनुसार भी जगत न तो उत्पन्न होता है और न तो विकसित होता है, अपितु केवल प्रतीत होता है। जिस प्रकार रस्सी सर्प के रूप मे प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म जगत के रूप मे प्रतीत होता है।[6] शकर ने विश्व की व्याख्या अत्यंत ही तुक्ष शब्दो मे की है। शकर ने विश्व को पूर्णत· सत्य नही माना है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। शेष सभी वस्तुए ईश्वर, जीव, जगत सभी प्रपच है।[7] शंकर ने जगत को रस्सी मे दिखाई देने वाले साप के समान माना है। यद्यपि जगत मिथ्या हे। फिर भी जगत का कुछ न कुछ आधार हे। सम्पूर्ण जगत ब्रह्म का विवर्तमात्र है। शकर के मतानुसार जगत् को व्यावहारिक सत्ता मे रखा जा सकता हे। जगत व्यवहारिक दृष्टिकोण से पूर्णत सत्य है, यद्यपि कि पारमार्थिक दृष्टि से असत्य है।

साख्य दर्शन मे त्रिगुणात्मिका प्रकृति को जगत् का मूल कारण कहा गया है। रामानुज भी सृष्टि के मूलभूत कारण को प्रकृति कहते है।[8] परन्तु रामानुज साख्य दार्शनिको की तरह पुरुष और प्रकृति मे आत्यन्तिक भेद पर आधारित द्वैत को स्वीकार नही करते हैं। उनके मत मे प्रकृति ईश्वर पर आधारित उसकी विशेष शक्ति है, जिसके द्वारा और जिससे वह ससार का उद्‌भव करता है।[9] माया ईश्वर की सृजन शक्ति है।[10] सृजन या सृष्टि प्रकृति को स्थूल रूप में प्रकट करना है। इस सूक्ष्म प्रकृति को अव्यक्त कहते है।

---

1 श्लोक वार्तिक, पृष्ठ- 404
2 डा० नन्द किशोर देवराज- भारतीय दर्शन, पृष्ठ- 479
3 डॉ० सी० डी० शर्मा- भारतीय दर्शन आलोचन एव अनुशीलन, पृष्ठ- 209
4 श्लोक वार्तिक, पृष्ठ- 404
5 डॉ० सी० डी० शर्मा- भारतीय दर्शन आलोचन एव अनुशीलन, पृष्ठ- 209
6 ब्रह्मसूत्र भाष्य- 219
7 ब्रह्म सत्यम् जगत मिथ्या, जीवों ब्रह्मैव नापर ।
8 श्री भाष्य- 1/4/10
9 श्री भाष्य- 1/4/8
10 श्री भाष्य- 1/4/9

अव्यक्त का विकास रामानुज भी उसी क्रम मे मानते है, जिस क्रम मे साख्य मे माना गया है। अव्यक्त का प्रथमविकार महत् है।[1] महत् से अहकार की उत्पत्ति होती है। अहकार तीन प्रकार का होता हे-सात्विक अथवा वैकारिक, राजस अथवा तैजस और तामस अथवा भूतादि।[2] अहकार के सात्विक रूप से पंच ज्ञानोन्द्रिया पच कर्मेन्द्रिया एव मन, कुल ग्यारह इन्द्रिया उत्पन्न होती हे।[3] मन एक अन्तरिन्द्रिय है। यह ज्ञानेन्द्रियो एवं कर्मेन्द्रियो दोनों का कार्य करता है। इसलिए उसे उभयात्मक कहा जाता है। परन्तु रामानुज ने मन को ज्ञानेन्द्रियो के साथ ही रखा है।[4] रामानुज और शकर दोनो ही मन को जव वह निर्णय करता है, वुद्धि कहते है, अज्ञान से शरीर को जब वह आत्मा समझता है तब उसे अहकार कहते हैं, और जव चिन्तन या विचार करता है, तब चित्त कहते हे। साख्य ओर रामानुज मत मे सृष्टि क्रम में महत्वपूर्ण मतभेद भी हे। साख्य दार्शनिकों के अनुसार तामस अहकार से पच तन्मान्त्राओ की और पचतन्मन्त्राओं से पंचमहाभूतो की उत्पत्ति होती है। परन्तु रामानुज क्रमिक उत्पत्ति मानते है। सबसे पहले भूतादि से शब्द तन्मात्र उत्पन्न होता है। शब्द तन्मान्त्र से आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश से स्पर्श तन्मान्त्र और स्पर्श तन्मान्त्र से वायु महाभूत की उत्पत्ति होती है। वायु से रूप तन्मान्त्र का उद्‌भव होता है, जिससे तेज की उत्पत्ति होती है, तेज रसतन्मान्त्र को उत्पन्न करता है जो जल की उत्पत्ति करता है। जल से गध तन्मान्त्र उत्पन्न होता है और गन्ध तन्मान्त्र से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।[5]

उपर्युक्त चौवीस तत्वो से जीवात्मा और परमात्मा के लिए भोग्य वस्तुओं, भोग के साधन और भोग के स्थानो का निर्माण होता है। निर्माण का यह कार्य ब्रह्म द्वारा किया जाता है।[6] ब्रह्म द्वारा की गयी सृष्टि सद्धारक कहलाती है। सद्धारक सृष्टि की प्रक्रिया पचीकरण है।[7]

रामानुज न्याय वैशेषिक के सिद्धान्त से भी असहमत है। जहॉतक जगत की उत्पत्ति की सम्बन्ध है, रामानुज सृष्टि वाद का समर्थन करते है। रामानुज ईश्वर को जगत का केवल निमित्त करण मानने वाले न्याय-वैशेषिक एव योग से असहमत है। वे ईश्वर को निमिक्त और उपादान दोनो कारण मानते है।

अत· हम कह सकते है कि न्याय वैशेषिक, साख्य योग एव मीमासा को छोडकर समस्त हिन्दू धर्म ईश्वर को ही विश्व का उपादान और निमिक्त कारण मानता है। ईश्वर विश्व का स्रष्टा, पालनकर्ता और सहर्ता है। सभी विषयो का विकास ईश्वर से होता है और प्रलय के समय सभी वस्तुओ का विलय ईश्वर मे ही होता है। हिन्दू धर्म मे कहा गया है कि जिस प्रकार मकडी अपने अन्दर से धागे को निकाल कर जाले का निर्माण करती है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने अन्दर से वस्तुओ को उत्पन्न कर जगत का निर्माण करता है।

---

1 तत्वत्रय - 47, श्री भाष्य– 2/2/1
2. श्री भाष्य– 2/2/1
3 तत्वत्रय - 49
4 श्री भाष्य- 2/2/1
5 यतीन्द्रमतदीपिका – 4
6 वही – 4
7 तत्वत्रय - 60

अब यहाँ पर एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि ईश्वर ने विश्व का निर्माण किस प्रयोजन से किया है? यदि यह माना जाय कि ईश्वर ने किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर विश्व का निर्माण किया है तो ईश्वर की पूर्णता खण्डित हो जाती है। हिन्दू धर्म इस समस्या का समाधान यह कहकर करता है कि सृष्टि ईश्वर का खेल है। ईश्वर अपनी क्रीडा के लिए विश्व की रचना करता है।[1] सृष्टि करना ईश्वर का स्वभाव है। सृष्टि के पीछे ईश्वर का अभिप्राय खोजना अमान्य है। हिन्दू धर्म का उक्त विचार ईसाई धर्म से मिलता-जुलता है। ईसाई धर्म मे भी सृष्टि को ईश्वर का खेल कहा गया है।

हिन्दू धर्म विश्व को परिवर्तनशील मानता है।[2] एक अशिक्षित हिन्दू भी यह मानता है कि विश्व विनाश के अधीन है। जो वस्तु क्षणभगुर है वह सत्य नही हो सकती। यदि कोई वस्तु किसी समय मे प्रारम्भ होती है और समय विशेष मे ही नष्ट होती है तो वह असत्य होगी ही। जब प्रारम्भ और अन्त असत्य है तो मध्य तो असत्य होना ही चाहिए। हिन्दू धर्म की इस धारणा की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह सर्वोच्च दार्शनिक धारणा हिन्दू समाज के निम्न से निम्न वर्ग के लोगो के जीवन मे भी व्याप्त है। इस विश्वास का सम्बन्ध एक दूसरे विश्वास से भी है, वह है आत्मा का अनश्वर होना। इस नाशवान विश्व के पीछे एक सत्य सत्ता आत्मा है। अत इस नाशवान विश्व मे लिप्त रहने के स्थान पर आत्मोपलब्धि ही हिन्दू धर्म का परम लक्ष्य है।[3]

कुछ लोगो का विचार है कि हिन्दू धर्म की विश्व की नश्वरता की धारणा बौद्ध धर्म से ली गयी है। ऐसे विचार को यदि पूर्णतया अस्वीकार कर दिया जाय तो वहुत विवाद का विपय नही होगा। इसके दो कारण है, एक तो यह है कि हिन्दू धर्म मे विश्व की अनित्यता पर प्रारम्भ से ही बल दिया गया है। उपनिषदो मे इसके अनेक उदाहरण विद्यमान है।[4] दूसरे धर्म में इस विश्व मे सर्वजनीनता है। ससार की क्षणिकता का केवल तात्विक आधार ही नही है, वरन् इसका नैतिक और आध्यात्मिक महत्व भी है।

विश्व की नश्वरता का प्रभाव हिन्दू धर्म मे दो रूपो मे देखा जाता है। आचरण के रूप मे सन्यासवाद और धर्म मे रहस्यवाद का महत्व इसी धारणा का फल है। यदि यह विश्व क्षणभगुर, अस्थाई, एव नाशवान् है तो फिर इसके पीछे क्यो दौड लगाई जाय, इससे विरक्ति होना स्वाभाविक है। आध्यात्म के क्षेत्र मे यह धारणा परम तत्व, जो स्थाई एव नित्य है, की ओर अग्रसर करती है। हिन्दू धर्म मे नित्य आत्म तत्व (ईश्वर) को पाना और उससे एकत्व प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य है। स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म इहलौकिक की अपेक्षा पारलौकिक जगत को महत्व देता है।

सृष्टिवाद और प्रलयवाद

हिन्दू धर्म के अनुसार ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि जीवो को कर्मफल का उपभोग कराकर उनपर अनुग्रह करने के लिए किया है। यही वात प्रलय के बारे मे भी है। जव भोग करते-करते जीव थक जाते है तो उन्हे विश्राम दिलाने के लिए ईश्वर

1 शाकर भाष्य- 2/1/33, लीला कैवल्यम
2. डॉ० हृदय नारायण मिश्र- विश्व धर्म, पृष्ठ- 17
3 वही, पृष्ठ- 17
4 कठोपनिषद- 1/2/1–2, 1/2/3, मैत्री उपनिषद– 1, 2–7

प्रलय भी करता है। यह भी जीवो के उपर ईश्वर का अनुग्रह ही है। हिन्दू धर्म के समस्त अनुयायियों ने सृष्टि और प्रलय म समान रूप से सहमति व्यक्त की हे-

ऋग्वेद के सृष्टि विपयक विचार को दो रूपो मे देखा जा सकता है-पुराकथा शास्त्रीय और दार्शनिक। प्रोफेसर मैक्डानेल ने दो भिन्न प्रवृतियो के बारे मे कहा है-एक तो विश्व को यान्त्रिक निर्माण का परिणाम समझता हे, अर्थात् जोडने वाले का कौशल कार्य। दूसरा इसे स्वाभाविक सर्जन के परिणाम के रूप में प्रस्तुत करता है।[1] वेदो मे वाह्य जगत की सत्यता मे कभी भी सदेह व्यक्त नही किया गया है। इसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यूलोक मे विभक्त एक व्यवस्थावद्ध समष्टि के रूप मे ही देखा जाता है। यद्यपि देवता अनेक है, और वे अपने विभाग का शासन करते है, किन्तु जिस विश्व का वे शासन करते है, वह एक है। सृष्टि क्रम के अनेक वर्णन ऋग्वेद मे मिलते है। प्रत्येक परिवर्तनशील पदार्थ के प्रथम आधार के रूप मे उन्होने यूनानी दार्शनिको की ही भांति जल, वायु, अग्नि आदि को ही मौलिक तत्व माना, जिनसे जगत की उत्पत्ति हुई।[2] किन्तु कदाचित पृथिव्यग्नि, वैद्युताग्नि और सौराग्नि की एकता के अनुभव से उन्हे ज्योति-स्वरूप अग्नि के एकत्व का बोध हुआ।[3]

सृष्टि की प्रक्रिया को पहले ठीक उसी रूप मे देखा गया, जैसे कोई तक्षागृह का निर्माण करता है। एक स्थान पर प्रश्न किया गया है- तव कौन सा वृक्ष था, कौन सा वन था, जिससे उन्होने द्यावा-पृथ्वी तक्षण किया? ओ मनीषियों अपने मन से पूछो-वह क्या था। जिस पर भुवनो को धारण करता वह खडा था?[4] तैतरीय ब्राह्मण मे इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि, ब्रह्मन् ही वह वृक्ष था और ब्रह्मन् ही वन जिससे द्यावा-पृथ्वी निर्मित हुए।[5] ऋगवेद मे सविता और विष्णु को द्युलोक को स्कम्भ (खम्भा) पर दृढ करते वर्णित किया गया हे।[6] वेदो मे यज्ञ की अवधारणा के विकास के साथ सृष्टि-प्रक्रिया को यज्ञ के रूप मे कल्पित किया गया है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे पुरुष को विश्व मे व्याप्त होकर भी उसे दस अगुल अतिक्रान्त बताया गया है। पुरुष ही भूत, भावी सव कुछ ओर अमृत तथा अन्न से बढने वाले का स्वामी है। उसका एक चौथाई यहाँ है और तीन चौथाई स्वर्ग मे।[7] आगे चलकर इसमे विराट और उससे पुन पुरुष की उत्पत्ति बतायी गयी है। यह कहा गया है कि पुरुष की हवि बनाकर किये गये यज्ञ से ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तु को रचने की सामग्री प्राप्त हुई। चन्द्रमा उसके मन से उत्पन्न हुआ, उसकी ऑख से सूर्य उत्पन्न हुआ, उसके मुख से इन्द्र और अग्नि पैदा हुए और उसके प्राण से वायु, उसकी नाभि से अन्तरीक्ष, उसके शीर्ष से द्यौस्, उसके चरणो से पृथ्वी और उसके श्रौत से दिशाएं उत्पन्न हुई।[8] यह वास्तव मे दृश्य जगत का उसके भागों मे विश्लेषण है।

---

1 मैकडॉनल- वैदिक मैथोलाजी, पृष्ठ- 17
2 ऋग्वेद- 10/190
3 वही- 6/9/7, 1/164/37, 10/5/7
4 ऋग्वेद- 10/81/4
5 तैतरीय ब्राह्मण- 2/8/9/6
6 ऋग्वेद- 10/149/1
7. ऋग्वेद- 10/90, पुरूष सूक्त
8 ऋग्वेद- 10/90, पुरूष सूक्त

सर्वोच्च देववाद या एकेश्वरवाद और अर्द्ध सर्वेश्वरवाद का विचार वेदो मे मिलता है। इस स्तर तक पहुँचने पर यह प्रश्न उठता है कि-क्या परम सत्ता पूर्व स्थित प्रकृति को उपादान के रूप मे प्रयुक्त कर सृष्टि का निर्माण करती है? या अपने निजी स्वभाव से किसी पूर्व स्थित सामग्री के विना अविर्भूत करती है, ऋग्वेद के हिरण्य गर्भ सूक्त मे हिरण्य गर्भ प्रकृति रूपी उपादान कारण से सृष्टि का निर्माण करनवाला वर्णित है।[1] किन्तु पूर्व वर्णित नासदीय सूक्त मे सृष्टि का अत्यन्त उन्नत सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। नासदीय सूक्त द्वैत परक आध्यात्मिक ज्ञान का अतिक्रमण कर उच्चतर अद्वैतवाद को स्वीकार करता हे। यह प्रकृति और आत्मा दोनो को ही परम सत्ता के दो रूप बतलाता है। परम सत्ता न तो अपने आप मे अहम् हे, और न अहम् का अभाव है, न तो अहम् की प्रकृति की स्वयं चेतना है, और न ही अहम् के अभाव के रूप की चेतना हीनता हे। यह इन दोनो से उच्च श्रेणी की है। यह श्रेष्ठतर चेतना है। विरोध का विकास स्वय इसी के अन्दर हुआ है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार इस सूक्त मे कालरहित पूर्ण सदा श्रृखलावद्ध सत्ताओ मे प्रकट होता वर्णित है। यह सूक्त हमे सृष्टि निर्माण की विधि वतलाते हुए सृष्टि रूपी घटना की व्याख्या करता है।[2] इस सूक्त के सृष्टि विषयक विचार के समान ही विचार शतपथ व्राह्मण मे भी प्राप्त होता है, जहॉ कहा गया है कि आरम्भ मे न तो सत् और न असत् था।[3] अथर्ववेद मे भी स्कम्भ में विश्व के सभी रूपो को सन्निहित बताया गया है।[4]

इस प्रकार वेदो के उपयुक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि परम् सत्ता ने अपने अन्दर से ही सृष्टि का निर्माण किया हे। ऋगवेद मे जगत को मिथ्या मानने के विचार का कही सकेत नही मिलता है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि के परवर्ती विचार का भी प्रतिपादन नही मिलता है। यद्यपि कि ऋगवेद मे इस तरह के विचार की झलक सी प्रतीत होती है किन्तु इसकी विधिवत विवेचना नही मिलती है।[5]

आगेचलक उपनिपदो मे भी सृष्टि की चर्चा मिलती है। गौडपाद ने अपनी माण्डूक्य कारिका से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्तो का वर्णन किया है।[6] और अन्त मे यह निष्कर्ष निकाला है कि उपनिषदो का तात्पर्य सृष्टि विज्ञान नही हे। उनका कहना है कि सृष्टि सत् से होती है या असत् से इस विषय मे उपनिषदो के वचन निर्णायक नही है क्योकि दोनो पक्षो के सिद्धान्त उपनिषदो मे मिलते है। अतएव जो सिद्धान्त युक्तियुक्त लगे वही उपनिषदो का सृष्टि सिद्धान्त है।[7] पुनश्च गौड पाद के अनुसार सृष्टि वादिनी श्रुतियां ब्रह्मतत्व को समझने-समझाने के उपाय मात्र है।[8]

गौडपाद का कहना है कि उपनिपद अज्ञातवाद की शिक्षा देते है और सृष्टिविज्ञान ब्रह्मतत्त्व की व्याख्या करने वाला एक मिथक है। सत्ता और मिथक (आख्यायिका) का ऐसा गाढा सम्बन्ध उपनिषदो मे मिलता है कि एक को दूसरे से पृथक नही

---

1 ऋग्वेद- 10/21, हिरण्य गर्भ सूक्त
2 डॉ० राधा कृष्णन- भारतीय दर्शन- भाग-1 पृष्ठ- 103
3 सतपथ ब्राह्मण- 10/5/3/1
4 अथर्ववेद- 10/7/10
5 ऋग्वेद- 10/190/3
6. माण्डूक्य कारिका- 2/20—28
7 वही- 3/23
8 वही- 3/15

किया जा सकता है। किन्तु फिर भी यह पृथक्करण करना उपनिषद दर्शन को समझाने के लिए आवश्यक है। आधुनिक युग मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपनिपदो के जो अध्ययन किये गये हे, उनसे स्पष्ट होता है कि उपनिषदो मे सृष्टि विज्ञान के प्राय वे सभी सिद्धान्त मिलते है जो प्राचीन ग्रीक दर्शन और आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में पाये जाते है। उदाहरण के लिए प्रा० रानाडे ने दिखलाया है कि उनपनिपदो में सृष्टि विज्ञान के निम्नलिखित सिद्धान्त मिलते हे-

वृहदारण्यक उपनिपद मे बतलाया गया है कि सृष्टिका मूलतत्व 'अप' (जल) है। जल से सत्य उत्पन्न हुआ। सत्य ने ब्रह्म को उत्पन्न किया। ब्रह्म ने प्रजापति को उत्पन्न किया और प्रजापति ने देवो को उत्पन्न किया। तत्पश्चात् शेष सृष्टि हुई।[1]

कठोपनिषद मे कहा गया है कि अग्नि ही सम्पूर्ण भुवन मे विभिन्न रूप से प्रविष्ट है।[2] इस विचार की तुलना प्रो० रानाडे ने ग्रीक दार्शनिक हेराक्लाइट्स के सृष्टि विज्ञान से की हे, जिसके अनुसार अग्नि समस्त वस्तुओं का मूल कारण हे।[3]

प्रवाहणजैवलि का मत है कि आकाश सभी वस्तुओ का मूल स्रोत है। सभी भूतो की उत्पत्ति आकाश से होती है।[4]

सृष्टि का मूल असत् है, ऐसा उल्लेख छांदोग्य, तैतरीय और बृहदराण्यक उपनिषदो मे आता है। असत् से सत् उत्पन्न हुआ। वह सत् एक ब्रह्माण्ड हो गया, फिर ब्रह्माण्ड के दो भाग हो गये-पृथ्वी और द्यौ। फिर इसके अंशो से पर्वत, मेघ, नदिया और समुद्र उत्पन्न हुए। ब्रह्माण्ड से आदित्य उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् आदित्य से अन्य सभी वस्तुये उत्पन्न हुई।[5] अन्यत्र छांदोग्य मे ही सृष्टि का मूल सत् कहा गया है। सत् से तेज उत्पन्न हुआ। तेज से जल उत्पन्न हुआ। जल से अन्न उत्पन्न हुआ। अन्न से अण्डज, जीवज और उद्भिज पैदा हुए।[6] यहॉ कहा गया है कि तेज, अप और अन्न अर्थात् अग्नि जल और पृथ्वी परस्पर मिलकर, त्रिवृत्त होकर, सभी वस्तुओ के कारण है। इस प्रकार त्रिवृत्तकरण का सिद्धान्त उपनिषदो मे मिलता है, जिसका विकास वेदान्त पचीकरण सिद्धान्त मे हुआ।

कौषितकिय उप० मे प्राण को परमतत्व माना गया है।[7] प्राण का यह सम्प्रत्यय बर्गसॉ के इलोन वायटल से मिलता जुलता है। इसी प्राण तत्व से सृष्टि की समस्त वस्तुए उत्पन्न हुई है।[8]

श्वेताश्वेतर उप० मे कहा गया है कि सृष्टिकर्ता ईश्वर है। नारायण सृष्टि के मूल कारण हैं, वे भगवान है और उन्होने अपने सकल्प से सृष्टि की उत्पन्न किया है। प्रश्नोपनिषद मे भी प्रजापति को सृष्टि का कर्ता माना गया है। नारायण उप० मे प्रजापति को भी नारायण से उत्पन्न माना गया है। प्रजापति ब्रह्मा या सृष्टिकर्ता ईश्वर का नाम है। कही कही काल को समस्त भूतो की योनि कहा गया है। श्वेताश्वेतर उपनिपद मे कहा गया है कि सृष्टि विज्ञान के छः मत है-काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा,

---

1 वृहदारण्यक उपनिषद- 5/1
2 कठोपनिषद- 2/5
3 डॉ० याकू मसीह- पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ- 31
4 छादोग्य उपनिषद- 1/9/1
5. छादोग्य उपनिषद- 3, 19/1/3
6 वही- 6, 6/2/3
7 कौषितकीय उपनिषद- 3/9
8 डॉ० जे० एस० श्रीवास्तव- अर्वाचीन पाश्चात्य दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ- 183

पचमहाभूत या पुरुष को भिन्न-भिन्न लोग समस्त भूतो की योनि मानते है। इन छ मतो की वहाँ आलोचना करके यह दिखलाया गया है कि सृष्टि का कारण स्वयं भगवान है।[1]

इस प्रकार उपनिषदो के सृष्टि-सिद्धान्त का अवलोकन करने से ज्ञात है कि वहॉ सृष्टि सिद्धान्त, विकास सिद्धान्त और आविर्भाव सिद्धान्त तीनो मिलते है। उपनिपदो मे मिलने वाले सिद्धान्तो की विविधता की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है-

(1) उपनिपद अनेक है। उनके ऋषि अनेक है। इसलिए उनके सृष्टि विज्ञान भी अनेक हे।

(2) उपनिषदो मे सभी सृष्टि विज्ञान एक क्रम मे विकसित हुए है, जिसे हम स्थूलता और सूक्ष्मता का क्रम कह सकते है। भौतिकवादी सिद्धान्त पहले विकसित हुए, प्राणवादी सिद्धान्त बाद में विकसित हुए और तत्पश्चात् ईश्वरवादी सिद्धान्त का विकास हुआ और अन्त मे आत्मवादी सिद्धान्त विकसित हुआ। सृष्टि विज्ञान के इस विकासक्रम द्वारा उपनिपदो के सभी सिद्धान्तो का समन्वय हो जाता है।

(3) गौडपाद के अजातिवाद के द्वारा भी उपनिषद के सभी सृष्टि वैज्ञानिक सिद्धान्तो का अन्तर्विरोध दूर हो जाता है, क्योकि वे सभी सिद्धान्त आत्मवाद की विभिन्न प्रक्रियाये है।

सृष्टि क्या है, इस प्रश्न के चार उत्तर उपनिषदो मे मिलते है। कुछ लोग सृष्टि को आधिदैविक मानते है, तो कुछ लोग आध्यात्मिक। अन्य लोग इसे आधिभौतिक मानते है। किन्तु ब्रह्मज्ञानी सृष्टि को स्वप्नवत् तुच्छ मानते है। मीमासा दर्शन का विश्वास है कि प्रलय की अवधि समाप्त हो जाने पर विभिन्न प्राणियो को कर्मफल का उपभोग करने के उद्देश्य से परमेश्वर मे सृष्टि करने की इच्छा होती है। उसके वाद उस इच्छा के प्रभाव से ही सभी आत्माओ के फलदान से विमुख अदृष्ट फल देने के लिए उन्मुख हो जाते है। तब फल देने के लिए उन्मुख अदृष्ट से युक्त आत्मा और वायु के परमाणुओ के सयोग से वायु-परमाणुओ मे परस्पर मिलने के लिए अपेक्षित क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया के वायवीय परमाणु समवायि कारण, अदृष्ट युक्त आत्मा तथा इन परमाणुओ का सयोग असमवायि कारण और ईश्वरेच्छा एव अदृप्ट आदि निमित्त कारण होते है। इस क्रिया के कारण दो-दो वायवीय परमाणु मिलकर एक-एक द्वयणुक का उत्पादन करते है। परमाणु इन द्वयणुको के समवायि कारण, परमाणुओ का सयोग असमवायि कारण तथा अदृष्ट आदि निमित्त कारण होते है। पुन उक्त रीति से ही सभी द्वयणुको मे क्रिया होती है, जिससे तीन-तीन द्वयणुको का आपस मे सयोग होता है। इससे एक-एक त्रयणुक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार त्रयणुको की उत्पत्ति हो जाने पर पुनः उनमे क्रिया तथा उससे चार-चार त्रयणुकों के सयोग से एक-एक चतुरणुक और पॉच-पॉच चतुरणुको के सयोग से एक-एक पचाणुक की उत्पत्ति के माध्यम से विकसित होकर एक महावायु नाम स्थूलभूत उत्पन्न हो जाता है। यह नित्य व्यापक आकाश मे अप्रतिहत रूप मे अत्यन्त वेग के साथ बहता रहता है। इसके बाद इसी महावायु को आधार बनाकर उपर्युक्त रीति से ही महान् जल, स्थूल भूतात्मक जल, की उत्पत्ति होती है। यह भी प्रभावित होता रहता है। इस प्रकार स्थूल

---

1 श्वेताश्वेतर उपनिषद- 1/2

जल की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् उपर्युक्त क्रम से ही स्थूल जल मे महापृथ्वी की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी के उत्पादन के बाद उक्त पद्धति से महान तेज-स्थूल तेज का प्रारम्भ होता है। इन सब भूतो मे वायु का आकाश, जल का वायु पृथ्वी और तेज का जल आधार माना गया है।

जल और अग्नि का स्वाभाविक विरोध यद्यपि प्रसिद्ध है, तथापि सृष्टि के प्रारम्भ मे यह विरोध शान्त हो जाता है। इसका कारण है जीवात्मा का अदृष्ट, जिसके फल का उपयोग तेज की उत्पत्ति के विना पूर्ण नही हो सकता।[1] बडवानल और समुद्र मे आधाराधेय भाव की बात भी प्राचीन परम्परा मे आस्था रखने वाले न्याय-वैशेषिक के आचार्यो मे सुप्रसिद्ध थी।[2] इसलिए भी यह सम्भव है कि जल मे तेज की उत्पत्ति हो। बिजली रूपी तेज की उत्पत्ति तो आज भी जल से होती है। इस प्रकार महाभूतो की उत्पत्ति हो जाने पर परमेश्वर की इच्छा से ही तैजस परमाणुओ से एक महान अण्ड (Cosmic egg) उत्पन्न होता है। इसमे पृथ्वी के परमाणु भी लगे रहते है। यही कारण है कि यह अण्ड अग्नि की तरह नही हो पाता। इसी अण्ड मे ईश्वरेच्छा से ही समस्त विश्व के उत्पादक (पितामह) चतुर्मुख ब्रह्मा का, सभी भुवनो - भू , भुव , आदि सात उर्ध्व तथा अतल वितल आदि सात अधोलोको- के साथ-साथ उत्पादन होता है। ब्रह्म का आधार होने के कारण इस अण्ड को (ब्रह्माण्ड) भी कहा जाता है। ब्रह्मा ईश्वर की इच्छा मे ही अतिशय ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर विभिन्न जीवो के कर्म के तत्व को जान लेता है। तत्पश्चात् कर्म के अनुसार भोग करने वाले समस्त जीवो का वह उत्पादन करता है और अपने-अपने कर्म के अनुसार उन्हे फल भी देता है। यही वैशेषिक शास्त्र मे वर्णित सृष्टि प्रक्रिया है।[3]

आचार्य शकर के अनुसार विश्व ईश्वर की सृष्टि है। सृष्टि की विपरीत क्रिया को प्रलय कहते है। सृष्टि और प्रलय का चक्र निरन्तर प्रवाहित होता रहता हे। ईश्वर विश्व का निर्माण माया से करता है। माया ईश्वर की शक्ति है। जगत ईश्वर से उत्पन्न होता है, और उसी मे समा जाता है। इस प्रकार जगत का स्रष्टा पालन कर्ता एवं संहारकर्ता है। वह जीवों के भोग के लिए भिन्न-भिन्न लौकिक वस्तुओ का निर्माण करता है। शकर की दृष्टि मे सृष्टि व्यवहारिक दृष्टि से सत्य है, पारमार्थिक दृष्टि से नही।

सृष्टिवाद के विरुद्ध यहॉ यह आक्षेप उठाया जाता है कि ईश्वर को विश्व का कारण मानना भ्रामक है, क्योकि कारण और कार्य के स्वरूप मे अन्तर है। क्या सोना कभी मिट्टी का कारण हो सकता है? ईश्वर जो आध्यात्मिक है, वह विश्व का कारण नही हो सकता है। क्योकि विश्व भौतिक है। शंकर का इस आक्षेप के विरुद्ध उत्तर है कि जिस प्रकार चेतन जीव मनुष्य से अचेतन वस्तुओ नाखून, केश आदि का निर्माण होता है, उसी प्रकार ईश्वर से जगत का निर्माण होता है।

साधारणत सृष्टिवाद के विरुद्ध एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि ईश्वर को जीवो का स्रष्टा मानने से ईश्वर के गुणो

1 श्रीधर- न्याय कन्दली, पृष्ठ- 129

2 व्योमवती- व्योमशिव, पृष्ठ- 300

3 प्रो० यूई- वैशेषिक फिलॉस्फी, पृष्ठ- 128–129
यह मत रावण का था जिसने वैशेषिक सूत्र पर एक भाष्य लिखा था- ऐसा ज्ञान हमें ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य की टीका प्रकटार्थ विवरण से प्राप्त होता है।

का खण्डन हो जाता है। विश्व की ओर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि भिन्न भिन्न जीवो के भाग्य मे अन्तर है। कोई सुखी है, तो कोई दु खी हे। यदि ईश्वर को विश्व का कारण माना जाय तो वह अन्यायी एव निर्दयी हो जाता है। हिन्दू धर्म इस समस्या का समाधान कर्म सिद्धान्त के द्वारा करता हे। ईश्वर जीवो का निर्माण मनमाने ढग मे नही करता हे, बल्कि वह जीवो को उनके पूर्व जन्म के कर्मो के अनुसार रचता है। जीवो के सुख-दुख का निर्णय उनके पुण्य एव पाप के अनुरूप होता है। इसीलिए हिन्दू धर्म मे ईश्वर की तुलना वर्षा से की हे। जो पेड-पोधो की वृद्धि मे सहायक होता है परन्तु उनके स्वरूप को परिवर्तित करने मे असमर्थ होता हे।

आचार्य शकर के अनुसार-ईश्वर मे विभिन्न वस्तुओ की उत्पत्ति इस प्रकार होती हे-

सर्वप्रथम ईश्वर से सूक्ष्म पॉच भूतो का आविर्भाव होता है। आकाश माया से उत्पन्न होता है, वायु आकाश मे उत्पन्न होता है, अग्नि वायु से उत्पन्न होती है, जल अग्नि से उत्पन्न होता है। इस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से सूक्ष्म भूतो का निर्माण होता है। पॉच स्थूल भूतो का निर्माण पॉच सूक्ष्म भूतो का पॉच प्रकार के संयोग होने के फल-स्वरूप होता है। जिस सूक्ष्म भूत को स्थूल भूत मे परिवर्तित होना है। उसका आधा भाग तथा अन्य चार सूक्ष्म तत्वो के आठवे हिस्से के सयोजन से पॉच स्थूल भूतो का निर्माण होता है।

इस क्रिया को पञ्चीकरण कहा जाता है। जो उपनिषदो के त्रिवृत्तकरण का विकास है। प्रलय का क्रम ठीक इसका विपरीत हे। प्रलय के समय पृथ्वी का जल मे जल का अग्नि मे, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश मे तथा आकाश का ईश्वर की माया मे लय हो जाता है।

विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य भी सृष्टिवाद मे विश्वास करते है। उनके अनुसार सृष्टि सर्वथा सत्य है। क्योकि वे ब्रह्म परिणामवाद को मानते है। यह सम्पूर्ण चेतना चेतन विश्व ईश्वर का शरीर है, ईश्वर का तात्विक परिणाम है, ईश्वर की सत्य सृष्टि है।

उपरोक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि सृष्टिवाद और प्रलयवाद मे विश्वास रखना हिन्दू धर्म की सारभूत विशेषता है। इस धर्म का विश्वास है कि जीवो के दृश्यादृश्य कर्मो का भोग कराने के लिए ईश्वर सृष्टि और प्रलय करता है। समस्त जगत की उत्पत्ति की वात तभी तर्कसगत हो सकती है। यदि इसका पहले अभाव हो अत हम कह सकते है कि जगत का भाव सृष्टि है और जगत का अभाव प्रलय है।[1]

प्रलय और सृष्टि की अवधि

ब्रह्मा के १०० वर्षो तक प्रलय और उसके वाद १०० वर्पो तक सृष्टि मानी गयी है।[2] प्रलय और सृष्टि, सृष्टि और प्रलय की परम्परा अनादिकाल से चलती आ रही है, किन्तु इसका अन्त कभी होगा या नही यह विषय हिन्दू आचार्यो के लिए

---

1 तर्क भाष्य, पृष्ठ- 39

2 प्रशस्त पाद- पदार्थ धर्म सग्रह, पृष्ठ- 123—124

विवादास्पद है। यदि महाप्रलय हो तब तो उसके बाद सृष्टि नही होगी किन्तु महाप्रलय होगा या नही होगा, यह भी विवादास्पद है। जिस नियम से प्रलय और सृष्टि की अवधि का निर्णय किया जाता है वह निम्नलिखित है[1]-

2 क्षण = 1 लव

2 लव = 1 निमेप

18 निमेष = 1 काष्ठ

30 काष्ठ = 1 कला

30 कला = 1 मुहूर्त

30 मूहुर्त = 1 अहोरात्र (दिनरात)

15 अहोरात्र = 1 पक्ष

2 पक्ष = 1 मास

2 मास = 1 ऋतु

3 ऋतु = 1 अयन

2 अयन =1 वर्ष (मानवीय वर्ष)

1 वर्ष = 1 दिव्य अहोरात्र (देवताओ का दिन और रात)[2]

360 दिव्य अहोरात्र = 1 दिव्य वर्ष

12000 दिव्य वर्ष = 4 युग (सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग)

1000 चतुर्युग = 1 ब्राह्म दिन [3] } 2000 चतुर्युग = 1 ब्राह्म अहारात्र

1000 चतुर्युग = 1 ब्राह्म रात्रि

360 बाह्य अहोरात्र = 1 ब्राह्म वर्ष

100 ब्राह्म वर्ष = 1 सृष्टि की अवधि

100 ब्राह्म वर्ष = 1 प्रलय की अवधि

चार युग

विश्व की आयु के सम्बन्ध मे हिन्दू सिद्धान्त तीन प्रकार का समय विभाग उपस्थित करता है, जो ये है - युग, मन्वन्तर एवं कल्पा।[4] पुराणो के अनुसार युग चार है-सत्ययुग (कृतयुग) त्रेता, द्वापर और कलियुग। ये प्राचीनोक्त स्वर्ण, रूपा, पीतल

1 उदयनाचार्य- न्याय कुसुमाजली, पृष्ठ- 123–124

2 मानव का उत्तर अयन (उत्तरायण) देवताओं का एक दिन और दक्षिणायन की एक रात है।

3 43, 20, 00, 000 मानव-वर्ष ब्रह्मा के एक दिन का मान है।

4. तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 51

तथा लोह युग के समानार्थक है।[1] काल कल्पना में एक नैतिक कल्पना भी है, जो ऐतरेय ब्राह्मण और महाभारत में पायी जाती है। सोने वाले के लिए कलि, अगडाई लेने वाले के लिए द्वावर, उठने वाल के लिए त्रेता और चलन वाले के लिए कृत (सतयुग) होता है, ऐसा वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण मे मिलता है।[2] देवताओं की काल गणना के अनुसार सत्ययुग की आयु 4800 देवी वर्प, त्रेता की 3600 दैवी वर्प द्वापर की 2400 देवी वर्प तथा कलियुग की 1200 देवी वर्प है।[3] डॉ० राजवली पाण्डेय सतयुग की आयु 4400 दिव्य वर्ष, त्रेता की 3300 दिव्य वर्प, द्वापर की 2200 दिव्य वर्प तथा कलि की 1100 दिव्य वर्प मानते है। डॉ० पाण्डेय की दृष्टि मे एक दिव्य वर्ष 1000 मानव वर्प के बराबर होता है।[4] युग विभाजन के विपय में ऋग्वेदादि मे कोई उल्लेख नही मिलता है। शायद यह रामायण और महाभारत के समय निश्चित किया गया हो। चारो युगो का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

सत्ययुग

आदि युग को सत्ययुग या कृतयुग कहते है। इस युग की आयु 17,28,000 वर्ष मानी जाती है।[5] इसयुग मे मानव वृक्षो के नीचे या गिरि- गह्वरो में रहता था। नि स्पृह होने के कारण उसने समाज रचना नही की थी। वह परम ज्ञानी, त्यागी, तपस्वी तथा सुपुष्ट था। मन पर उसका अधिकार था। अत वह परम सुखी था। स्वार्थ, विपयेप्सा, क्रोधादि दुर्गुण उसमे विल्कुल नही थे, तपस्या मे उसकी रुचि थी। ध्यान एव तप सत्ययुग के साधन थे। कल्कि पुराण के अनुसार-समस्त प्रजा इसकाल मे कृतकृत्य या कृतार्थ रहती थी।[6]

इस युग मे विष्णु के चार अवतार हुए है- मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह। इस युग ये चक्रवर्ती राजा हुए थे-वलि, मान्धाता, पुरुरवा, धुन्दुमारिक तथा कार्तवीर्य आदि।[7]

त्रेतायुग

सत्ययुग के बाद त्रेतायुग आया। इसयुग की आयु 1296000 वर्प मानी जाती है।[8] इसमे मानव मन रजोगुण प्रधान होने लगा था। यज्ञ और दान त्रेता के साधन बने। कारण, बनोबल की क्षीणता के कारण सकल्प सिद्धि के लिए यज्ञ की आवश्यकता हुई। मानव मन निर्मल था, उसमे श्रद्धा वास करती थी। यज्ञ के लिए सग्रह की प्रवृति हो गयी। फलत नगर, ग्राम आदि का मिर्माण हुआ। महाराजा पृथु आदि नरेश थे। जिन्होने नगर बसाये।[9] वर्णाश्रम व्यवस्था प्रत्यक्ष व्यवहार मे आयी। इस युग का मानव धर्मात्मा था, वेदो मे उसकी अविचल श्रद्धा थी।

---

1 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 51
2 "कलि श्यानो भवति सजिहानस्तु द्वापर। उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन।। ऐतरेय ब्राह्मण
3 1 देवी वर्ष = 360 मानवीय वर्ष
4 डॉ० राजबली पाण्डेय- हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ- 199
5 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 51
6 कल्कि पुराण- 19 अध्याय, "कृत कृत्य प्रजा यत्र तन्नाम्ना कृत विदु"
7 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 52
8 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 52
9 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 52

द्वापर युग

इस युग की आयु 8,64,000 वर्ष मानी जाती है। द्वापर का अर्थ है- "विचार द्वन्द' अथवा 'द्विविधा'।[1] यज्ञ के अतिरिक्त रज और तम का सम्मिश्रण इस युग की विशेपता रही। इस युग मे मानव-मन मे सन्देह ओर अविश्वास का वीजारोपण हुआ। अविश्वास ने सकल्प को हीनवीर्य कर दिया। शारीरिक-सुख की कामना जागृत हुई। भोग लक्ष्य वना। कष्ट सहिष्णुता एव त्याग का लोप हुआ। भोगेच्छा से संग्रह की प्रवृति हो गयी। धर्म भीरु मानव ने पूजा का विधान किया। वह छल, कपट, दम्भ से दूर था और अत्यन्त विस्तृत रूप से अर्चा (पूजा) करता था।

इस युग के अन्त मे अनेक द्वन्द अथवा सघर्ष सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, वैचारिक आदि उत्पन्न हो गये थे। युग-पुरुष भगवान श्री कृष्ण ने उनका समाधान श्रीमद्भगवद्गीता मे प्रस्तुत किया हे।

"कलियुग"

कलियुग की आयु 4,32,000 वर्ष मानी जाती है। कलि का अर्थ हे-'कलह'।[2] इस युग के लिए यह नाम पूर्णत सार्थक है। इसमे कलह, छल, कपट, अन्याय मानव का स्वभाव बना। मनोबल, बुद्धिवल ओर शरीरवल नष्ट हुए। सम्पत्ति ही श्रेष्ठता का प्रमाण बनी। शरीर अल्पप्राण हो गया। उसमे तप स्थैर्य है ही नही। बुद्धि, चचल एव तर्कमयी हो गयी। फलत मन दुर्बल और विषयलोलुप हो गया। तप और ध्यान लुप्त हो गया। यज्ञ के लिए साधना का अभाव हो गया।

कलियुग मे मानव के उद्धार का साधन है- भगवन्नाम कीर्तन।[3] 'हिन्दू धर्म कोप' मे कलियुग की विशेषता इस प्रकार बतायी गयी है - वर्ण एवं आश्रम का साकर्य, वेद एव अच्छे चरित्र का ह्रास, सव प्रकार के पापो का उदय, मनुष्य मे नाना व्याधियो की व्याप्ति, आयु का क्रमश· क्षीण एव अनिश्चित होना, वर्वरो द्वारा पृथ्वी पर अधिकार मनुप्यो एव जातियो का एक दूसरे का संघर्ष आदि इसमे गुण हैं। इस युग मे धर्म एक-पाद और अधर्म चतुप्पाद होता है। मनप्यों की आयु सौ वर्ष की मानी गयी है। युग के अन्त में पापियो के नाश के लिए भगवान कल्कि अवतार धारण करेंगे।[4]

कल्कि पुराण के प्रथम अध्याय मे कलियुग की उत्पत्ति का वर्णन है। गरुड़ पुराण में कलियुग का वर्णन है। भागवत पुराण (द्वादश स्कन्द, अध्याय तीन) मे कलियुग का विस्तृत वर्णन है।[5]

"जगत की त्रिविध क्रियाएं : सृष्टि, स्थिति, संहार"

जगत् को समझने के लिए इसकी त्रिविध क्रियाओ को समझना आवश्यक है। जगत् की त्रिविध क्रियाएं है-सृष्टि, स्थिति एव सहार।

---

1 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 52
2 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 52
3 तनसुख राम गुप्त- हिन्दू धर्म परिचय, पृष्ठ- 52
4 डॉ० राजबली पाण्डेय- हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ- 166
5. भागवत पुराण- द्वादस स्कंद,अध्याय- 3

ईश्वर की सृष्टि का अर्थ है, अचित् तत्व (जड) मे परिणाम उत्पन्न करना, चित् (जीवात्मा) को शरीर और इन्द्रियॉ प्रदान करना एवं उसके ज्ञान को विकसित करना।[1] सृष्टि की स्थिति का अर्थ हे, धान के खेत मे जिस प्रकार जल अनुकूलतया प्रविष्ट होकर उसे वृद्धि आदि देता है, इसी प्रकार उत्पन्न सृष्टि के पदार्थो मे अनुकूल रूप से प्रविष्ट होकर सबकी रक्षा करना। सृष्टि सहार का अर्थ है, जिस प्रकार पिता अविनयशील पुत्र को जजीर से बॉधकर रखता हे ओर उसे अविनय से रोकता है, इसी प्रकार विपयान्तर मे सशक्त इन्द्रियो को नियन्त्रित कर उन्हे स्थिर करना।

विशिष्टाद्वैतवादियो के अनुसार सृष्टि, स्थिति और सहार में से प्रत्येक के चार-चार अंग है। सृष्टि के समय ईश्वर अन्तर्यामी होता हुआ रजोगुणयुक्त होकर ब्रह्मा, प्रजापति, काल एव सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करता है।[2]

स्थिति के समय वह ईश्वर, विष्णु आदि रूप मे अवतार लेकर मनु आदि के द्वारा शास्त्रों का प्रवर्तन (निर्माण) करता हुआ, सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराकर काल तथा समस्त प्राणियो मे अन्तर्यामी होता हुआ सत्वगुणयुक्त होकर बनाए हुए विश्व को स्थिरता प्रदान करता है।

सहार के समय अवांतर सहारकर्ता रूद्र एवं अग्नि आदि के तथा सहार उपयोगी काल एवं परस्पर विनाश करने वाले समस्त भूतो मे अन्तर्यामी होता हुआ तमोगुण युक्त होकर सबका संहार करता है।

"अशुभ की समस्या और समाधान"

यदि हम जगत की व्याख्या प्रकृतिवादी आधार पर करते है तो अशुभ की समस्या कोई समस्या ही नही है। अशुभ की समस्या तभी उठती है जब जगत की व्याख्या ईश्वरवादी दृष्टिकोण से की जाती हे। अत अशुभ की समस्या ईश्वरवाद को ही लेकर है। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व है। वह सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। वह व्यक्तित्व सम्पन्न है, परमशुभ है, दयावान, पवित्र और प्रेममय है। ईश्वर विश्वव्यापी तथा विश्वातीत हे। साथ ही जगत का निमित्त तथा उपादन कारण भी है। वह जगत का स्रष्टा है। परन्तु साथ मे यह भी माना जाता है कि जगत मे अशुभ का अस्तित्व है। यदि जगत मे अशुभ का अस्तित्व है, (यह अनुभूत और कटु सत्य है कि जगत मे अशुभ है ही) तो ईश्वरवादी की अन्य मान्यताये समाप्त हो जाती है, क्योकि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और परमशुभ तथा मगलमय है तो विश्व मे अशुभ की उत्पत्ति क्यो की? या तो ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ नही है या परमशुभ और दयावान नही है। यदि यह सर्वशक्तिमान होता तो अशुभ को विश्व से दूर कर देता। यदि अशुभ पहले से ही था तो उसने जगत की रचना बिना अशुभ को जाने क्यो की? फिर तो वह सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। चूकि अशुभ का अस्तित्व है ही और जीव अहर्निश दु ख की अग्नि मे जल रहे है, और ईश्वर अपनी सतान को कष्ट मे पडा हुआ देख रहा है तो फिर वह कैसे दयावान और मगलमय कहा जा सकता है? क्या पिता पुत्र को कष्ट मे देख सकता है? यदि हॉ तो वह निर्दयी कहा जायेगा। यदि ईश्वरवादी सिद्धान्त से यही उत्तर दिया जाता है कि अशुभ जीव के स्वतन्त्र

---

1 तत्वत्रय, पृष्ठ 90

2 तत्वत्रय, पृष्ठ- 93

सकल्प शक्ति से किये गये कर्मो का परिणाम हे तो इसके विपय मे प्रश्न होता है कि उसने मनुष्य की इच्छा शक्ति मे पाप की भावना क्यो दी? यह तो उसकी शक्ति पर निर्भर करता है। यदि वह चाहता तो शुभ ही शुभ की उत्पत्ति करता। यदि उसने जानकर केवल शुभ की उत्पत्ति नही की तो वह दयावान नही है ओर यदि अज्ञान मे ऐसा हो गया तो वह सर्वज्ञ ओर सर्वशक्तिमान नही कहा जा सकता। अत ईश्वरवाद के समक्ष अशुभ एक समस्या के रूप मे प्रस्तुत हे।[1]

उक्त विवेचन से यह प्रकट है कि एक ईश्वरवादी क सम्मुख स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर की दयालुता और उसकी अनन्त शक्ति का, उसकी सृष्टि रचना में अशुभ की सत्ता के साथ समन्वय कैसे सम्भव हो। हिन्दू धर्म में अशुभ की समस्या, और समाधान पर भिन्न-भिन्न दार्शनिको ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किया हे, जिसकी चर्चा कर लना आवश्यक हे।

साख्य दर्शन के अनुसार (जो अति प्राचीन दर्शन हे) जीवन दु खमय हे ओर इसमे विशप दु खत्रय की चर्चा की गयी है। अर्थात् आध्यात्मिक (शारीरिक एव मानसिक व्याधि, तृष्णा, क्रोध इत्यादि स उत्पन्न) आधिभोतिक (प्रकृति से उत्पन्न) और आधिदैविक (पारलोकिक सत्ताओ से उत्पन्न जिसमे प्राकृतिक प्रकोप, जेस- बाढ, सूखा महामारी इत्यादि)। जीवन मे सर्वत्र दु ख को देखकर बुद्ध भगवान ने जरा-मरण का सदेश दिया था। चूँकि सासारिक जीवो को सर्वथा दु खमय समझा गया है, इसलिए भारतीय धर्म-दर्शन को निराशावादी समझा गया है। यहॉ इतना ही भर स्मरण रखना चाहिए कि दु ख का सन्दर्भ मुक्ति प्राप्ति का सदेश है। इस प्रकार के सन्देश मे सभी धर्मो मे ससार को निस्सार समझा गया हे। यह कोई हिन्दू धर्म दर्शन की विशेषता नही है। इसके विपरीत अन्य धर्मो की अपेक्षा इसमे मुक्ति मार्ग एव मुक्ति की आवश्यकता पर बल दिया गया है और मुक्तिदशा को आनन्द की सज्ञा दी गयी है। फिर सिद्धान्तत हिन्दू धर्म मे नरक की यातना का प्रावधान नही है क्योकि जीव अपने कर्म के फलो को जन्म-जन्मान्तर जीवन मे भुगत लेता है।

चूकि जीव के अनेक जन्म होते है और फिर सृष्टि प्रलय का काल गत चक्र चलता ही रहता है, इसलिए इस विधान मे ईश्वर नही, स्वय मानव ही अपने पूर्वकर्मो का फल भोगता है। इसलिए मानव ही जीवन की सभी अशुभ घटनाओ तथा अशोभन एव अप्रिय तृष्णाओ का उत्तरदायी रहता है। इसकी तुलना मे जहॉ एक बार ही (नवीमूलक धर्म मे) ईश्वर द्वारा सृष्टि का मन्तव्य है वहॉ किसी न किसी रूप मे ईश्वर मानव अशुभ का कर्ता और उत्तरदायी हो जाता है। फिर इसी एक जीवन मे मानव को परीक्षा से गुजरना पडता है और असफल हो जाने पर नवीमूलक धर्मो मे शाश्वत नरक यातना का प्रावधान किया जाता है। पर परम करुणामय ईश्वर किस प्रकार अपने ही हाथो से सृष्ट मानव को शाश्वत नरक पीड़ा मे देखकर चुपचाप रह सकता है? ईश्वर स्वय क्रूर प्रकृति वाला सिद्ध हो जाता है। अत हिन्दू विचारधारा मे मानव अपने ही भाग्य का निर्माता है, अपने अशुभ का जन्मदाता है और उसे ही या तो अपने कर्मो का दु ख भुगतना पडता है या ऐसा प्रयास करना पडता है कि उसे दु खों से छुटकारा मिल जाय। यदि हिन्दू धर्म दर्शन के इस सिद्धान्त को ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ आश्रम का सन्देश मान लिया

---

1 डॉ० याकू मसीह- धर्म दर्शन प्राच्य एव पाश्चात्य, पृष्ठ- 351
अशुभ की समस्या को एपीक्यूरस ने उभयतोपाश के रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है यदि ईश्वर अशुभ को दूर करना चाहता हूँ और दूर नही कर पाया तो वह असमर्थ है? और यदि वह समर्थ है, तो भी दूर नहीं करना चाहता तो क्या वह अनिष्टकारी नही है? यदि ऐसी वातें न हों तब क्या वह सामर्थ भी है और चाहता भी है कि अशुभ रहे। तब फिर अशुभ क्यो है?

जाय तो मानव अपने ऐहिक जीवन का स्वय निर्माता कहा जायेगा। वास्तव मे निरीश्वरवादी जन और बौद्ध धर्मों म मानव स्वय अपना विधाता कहा गया है। बुद्ध भगवान का अन्तिम सन्देश है- 'अप्पा दीपा भव'

हिन्दू मत मे जीवन दु खमय है। इसका तात्पर्य यह नही कि जीवन मे सुख नही पाया जाता है। यदि ऐन्द्रिक सुख तथा बौद्धिक सुख नही होता तो जीवन की लालसा ही क्यों होती, भवतृष्णा ही क्यों रहती। पर जरा ओर अन्त मे मरण भी अनिवार्य है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ' (जन्म लेने वाले की मृत्यु भी निश्चित ही है)। चूँकि इस सम्वन्ध मे जन्म-जन्मान्तर को निश्चित मन्तव्य स्वीकारा गया है, इसलिए जीवन को सिद्धान्तत दु खमय समझा गया है ओर मानव को ही अपने भाग्य का दोषी ठहराया गया है।

कठोर कर्मवाद स्वीकारने पर नियतिवाद निखर आता है ओर वर्ण-विचार की आधारभूमि मे शूद्रो को इस जीवन मे किसी प्रकार की आशा नही दिखती है। पर सर्वप्रथम देखा जाता है कि वर्ण-विचार सिद्धान्त जन्मना है, न कि कर्मणा। द्वितीय चूँकि ब्राह्मण भी जरा-मरण के शिकार होते है, इसलिए उन्हे भी सांसारिक दु ख मे मुक्ति की आवश्यकता दिखायी देती है। यही ईश्वरवाद की उपयोगिता देखी जाती है।

सर्वप्रथम ईश्वर कर्मफल दाता है यदि इतनी ही दूर तक ईश्वर की आवश्यकता होती तो निरीश्वरवादी मीमासको की ही बात सही होती कि पूर्व कर्म संस्कार (अदृष्ट) अपूर्व के रूप मे अपने आप शुभ-अशुभ मे परिणित होते रहेगे और ईश्वर की आवश्यकता नही समझी जा सकती है। पर ईश्वरवादियो के अनुसार भक्ति से द्रवित होकर अपनी अनुग्रह शक्ति के दान से ईश्वर अपने भक्तो का गजेन्द्र मोक्ष कर देते है।

शकर अद्वैतवादी थे। उनके अनुसार दो प्रकार से अशुभ या सासारिक जीवन का अन्त हो सकता है। यदि साधक को ब्रह्म ज्ञान हो जाये तो साधको को क्रम मुक्ति प्राप्त हो सकती है अर्थात् सर्व प्रथम उन्हें बैकुण्ठ धाम मिलता है, और तव सृष्टि विलयन के वाद उन्हे शाश्वत मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पर शकर स्वय भी ईश्वरोपासक थे, पर उन्होंने ईश्वरवाद मे त्रुटियॉ देखी। इसलिए दु.खत्रय से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान को ही अपनाया, जिसका उल्लेख साधन-चतुष्टय तथा उपाय-त्रय के रूप मे किया गया है।

निष्कर्षत' अशुभ के विषय में यह कहा जा सकता है कि व्यवहारिक जगत मे शुभ-और अशुभ दोनो ही विद्यमान है। तुलसीदास ने लिखा भी है- "गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार" । इनके संघर्ष से ही ससार की स्थिति है। इस सघर्ष मे शुभ की विजय होगी ही क्योंकि शुभ पूर्णता का नाम है और व्यक्ति स्वभावतः अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने का प्रयास करता है। पर व्यक्ति को इस शुभ को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयास करना होगा। जव व्यक्ति परम ज्ञान द्वारा अद्वैत के तात्विक धरातल पर पहुँच जाता है, तो शुभ-अशुभ का द्वैत भी खत्म हो जाता है। पर इसके लिए व्यक्ति को साधना करनी होती है। इस तरह अशुभ की समस्या को केवल अद्वैतवाद के सिद्धान्त के आधार पर ही हल किया जा सकता है। कोई अन्य सिद्धान्त इस समस्या को हल करने मे समर्थ नही है।

स्वर्ग और नरक

सनातन धर्म के पुराणादि मे स्वर्ग-नरक की विस्तृत चर्चा मिलती है। ऋग्वैदिक आदर्श नि श्रेयस स्वर्ग प्राप्ति का था।[1] यज्ञो क द्वारा स्वर्गप्राप्ति किया जा सकता था।[2] स्वर्गप्राप्त करने पर सभी इच्छाओ की पूर्ति हो जाती है और पूर्वज पितरो से मिलन का आनन्द लाभ प्राप्त किया जा सकता है। आगे चलकर स्वर्ग क स्थान पर माक्ष की अवधारणा अधिक प्रवल हो गयी। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे काम, क्रोध और लोभ को नरक के तीन द्वार कहे है।

अत हिन्दू धर्म के अनुसार स्वर्ग का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जो सद्गुणी एव धार्मिक हो। इसके विपरीत आचरण वाले व्यक्ति नरकगामी होते है।

द्वितीय भाग-ईसाई धर्म के संदर्भ मे

जगत विचार

ईसाई धर्म मे जगत को सत्य माना गया है। विश्व का निर्माण ईश्वर न किया है।[3] ईश्वर ही जगत का कर्ता है। परन्तु वह साधारण कर्ता नही है, जैसे कुम्भकार घडे का कर्ता है। किसी कर्ता को उपादान और निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। परन्तु कुम्भकार घडे का निर्माण मृतिका से करता है, अत मृतिका घडे का उपादान कारण है तथा दण्ड कुम्भकार आदि निमिक्त कारण है। परन्तु ईसाई मान्यता के अनुसार ईश्वर को निमित्त और उपादान कारण की आवश्यकता नही है। सृष्टि उसकी इच्छा का परिणाम है। परन्तु इच्छा के सम्बन्ध मे प्रश्न उठता है कि, इच्छा का कुछ उद्देश्य होता है, निरुद्देश्य कोई कार्य नही होता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही कोई कार्य किया जाता है, ईश्वर ने किस उद्देश्य से प्रेरित हो सृष्टि की है, किस अभाव की पूर्ति के लिए सृष्टि की है? ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने प्रेम से सृष्टि की है। प्रेम का कोई प्रयोजन नही होता, इसके लिए किसी अभाव की आवश्यकता नही। प्रेम तो उल्लास है। ईश्वर मे उल्लास हुआ और उसने सृष्टि की ईसाई मान्यता के अनुसार सृष्टि कालिक है। तात्पर्य है कि ईश्वर ने किसी काल मे जगत का निर्माण किया है। उत्पत्ति के पूर्व जगत का अभाव था। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने जगत का निर्माण कालिक ही नही क्रमिक भी किया है।[4]

वाइबिल के अनुसार ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि शून्य से की है।[5] उपनिषदो के समान ईसाई धर्म भी सृष्टि रचना को क्रमिक मानता है। सर्वप्रथम इस सृष्टि रचना मे ईश्वर ने आकाश की रचना की, तव जल और थल की, फिर वनस्पतियों की, पुन सूर्य-चॉद तव जल और थल-जन्तुओ की, और अत मे मानव की रचना की। मानव को ईश्वर ने अपनी छवि मे वनाकर

1. डॉ० भूपेन्द्र कुमार मोदी- एक ईश्वर, पृष्ठ- 58
2. डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ- 53
3 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 77
4 डॉ० बी० एन० सिह- विश्व धर्म दर्शन की समस्याए, पृष्ठ- 166
5 डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ- 170

उसमे जीवन का श्वास भर दिया और समस्त सृष्टि पर उसके आधिपत्य को स्थापित कर उसमे विकास-वृत्ति डाल दी। अतः यह सृष्टि ईश्वर पर सर्वथा निर्भर रहती है। ईसाई दार्शनिको ने इस विश्व को आपातिक माना है।[1] चूकि ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है, इसलिए ईश्वर ने इस सृष्टि मे अपनी व्यवस्था रखी है। अत यह विश्व बुद्धिगम्य है और विज्ञान की इसमे छूट है कि वैज्ञानिक अपनी बुद्धि के द्वारा ईश्वर-ज्ञान प्राप्त कर। सन्त पॉल ने कहा कि समस्त मानव के लिए अपनी प्रकाशना के रूप मे ईश्वर ने इस जगत की ऐसी अद्भुत सृष्टि की है कि इसे देखकर सभी चिन्तक ईश्वर के नित्य और शाश्वत बुद्धि और ज्ञान को जान सकते है।[2] इसी प्रकार भजन सहिता मे लिखा है कि-स्वर्ग और पृथ्वी ईश्वर के गुणगान मे भरी है और सितारे भगवान की स्तुति और भजन करते है।[3]

ईसाई धर्म के अनुसार यह सृष्टि आपातिक तो अवश्य है परन्तु नियमहीन नही। अपितु यह नियमवद्ध है और ईश्वर की अद्भुत शक्ति का परिचायक है। सृष्टि के पूर्व न काल था और न दिक्। इसलिए यह प्रश्न करना कि ईश्वर ने क्यो किसी अमुक काल मे सृष्टि की, क्यो नही इस काल के पूर्व या बादमे, प्रसगहीन होगा। काल और सृष्टि एक साथ उत्पन्न किये गये है। इसी प्रकार दिक् की भी समस्या है। ईश्वर किसी अमुक स्थान मे सीमित नही किया जा सकता है। ईश्वर आत्मा है और सर्वत्र है। न गहराई उसे छिपा सकती है और न ऊँचाई ईश्वर की पूजा हृदय से और अपनी आत्मा मे कही भी और कभी भी की जा सकती है। इस सृष्टि की घटनाओ से बाढ, सूखा, तूफान, ओला इत्यादि के द्वारा मानव को ईश्वर दण्डित कर सकता है।[4]

जब ईश्वर ने अपनी सृष्टि रचना पूरी कर ली तो उसने अपनी सृष्टि को आद्यन्त देखा और देखकर खुश हुआ।[5] परन्तु धीरे-धीरे इस सृष्टि मे पाप फैल गया जो ईश्वर को असह्य हो गया। एक बार नूह तथा उसके परिवार और उसके साथ के पशुओ को छोडकर ईश्वर ने समस्त प्राणियो को बाढ के द्वारा विनष्ट कर दिया था तो भी मानव ने बार-बार पाप करना जारी रखा। यही कारण है कि ईसा मसीह के काल मे ससार प्रलोभन का विषय बन गया था और उसने अपने चेलो! को कहा कि तुम अपना धन ससार मे जमा न करो, क्योकि सासारिक धन विनाशशील होता है। उसने कहा कि चेलो तुम अपना धन स्वर्ग मे इकट्ठा करो। जहाँ तुम्हारा आध्यात्मिक धन न चोर चुरा सकता है और न कीडा उसे चाट सकता है[6] फिर ईसा मसीह ने बताया कि कोई आदमी पूरी सच्चाई से दो स्वामियो की एक साथ सेवा नही कर सकता है। इसलिए कोई भी व्यक्ति इस ससार और स्वर्ग, दोनों की सेवा एक साथ नही कर सकता है। मसीह ने बताया कि तुम स्वर्ग और उस राज्य धर्म की खोज करो, क्योकि ससार की अन्य वस्तुएं जैसे-अन्न और वस्त्र, ईश्वर-पिता अपने भक्तो को अवश्य देगा। इस प्रकार इस रूप मे इस ससार

1 डॉ० बी० एन० सिह- विश्व धर्म दर्शन की समस्याए, पृष्ठ- 166
2 रोमियो- 1/20
3 डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ- 171
4 डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ- 171
5 उत्पत्ति- 1/31
6 मत्ती- 6/19–21

का मसीह ने काई विशेष महत्व नही दिया है।[1]

जब ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार होने लगा तव ईसाई मण्डली म लोगा का विश्वास था कि प्रलय बहुत सन्निकट है ओर ईसा का पुनरागमन समीप है। इसलिए सन्त पाल ने इस ससार को अन्धकार कहा है।[2] धन का मसीह ने स्वर्ग बाधक बताया है। इसलिए ईसाई धर्म सृष्टि को ईश्वर रचना कहकर वास्तविक वताया है। उसक द्वारा ईश्वर-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, पर मानव ने अपनी इच्छा स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग कर इस सासारिक जीवन का पापमय कर दिया है। इसलिए ईसाई धर्म मे मूल पाप की शिक्षा दी गयी है, और इसके निराकरण के लिए क्रूशीय मोत के द्वारा समस्त मानव जाति के पाप मोचन को मुक्ति का मार्ग भी बताया जा सकता है।

सम्पूर्ण विश्व ईश्वर पर आश्रित है। ईश्वर विश्व की सृष्टि ही नही करता वल्कि उसे व्यवस्थित भी रखता है।[3] ईसाई धर्म की मान्यता हे कि विश्व ईश्वर से भिन्न है। विश्व ईश्वर मे भिन्न होने के कारण पूर्ण नही है। विश्व मे अनेक प्रकार के अशुभ तत्व है। ईसाई धर्म मे अशुभ को विश्व की विशेषता मानी गयी हे। अशुभ को यथार्थ भी माना गया हे। अशुभ का कारण मानव स्वयं है, ईश्वर नही। अशुभ का रहना विश्व की अपूर्णता का प्रतीक है। ईश्वर प्रकृति के माध्यम से अपने आप को प्रकाशित करता है। मानव प्रकृति के माध्यम से ईश्वर का दर्शन कर सकता है। प्रकृति मे ईश्वर तक पहुँचा जा सकता हे।[4]

अन्त मे प्रश्न है कि सृष्टि का क्या प्रयोजन हे? यदि सृष्टि नही होती तो क्या होता? ईसाई धर्म के अनुसार सृष्टि सप्रयोजन है ओर यह प्रयोजन मानव से सम्बन्धित है। मानव की उत्पत्ति तथा मानव के स्वभाव के निश्चय मे अशुभ का वडा योगदान है। मानव को ईश्वर ने स्वतन्त्रता प्रदान की थी, मानव ने इसका दुरुपयाग किया। इसी कारण मानव को अशुभ का सामना करना पडा है, और अशुभ के कारण ही मानव अपूर्ण बना हुआ है। परन्तु इस अपूर्णता पर मानव विजय प्राप्त कर सकता है, और इसके लिए संसार की आवश्यकता होती है। ससार मे मानव यदि अपूर्णता का अनुभव न करता तो पूर्णता की ओर अग्रसर न होता। अत. ईसाई धर्म के शब्दो मे हम कह सकते है कि यह संसार सप्रयोजन है।

सृष्टिवाद

जगत् की बाइबिल धारणा वैज्ञानिक नही धार्मिक है। बाइविल जगत को परमेश्वर और मुक्तिकार्य के सदर्भ मे देखती है। विश्वोत्पत्ति के संदर्भ में बाइबिल में दो वर्णन मिलते है। सवसे पुराना वर्णन तो जगत की रचना को मानव की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से प्रतिपादित करता है[5]- दुनिया, 'अदन-वाटिका' नामक एक रमणीय वाग जैसी लगती है, जो मनुष्य की सुविधा के

1. मत्ती- 6/19—21, 6/24—34
2 1 थिसलोनियो- 4/13—19
 1 थिसलोनियो- 5/1—6
3 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 78
4. डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 78
5 उत्पत्ति- 2/4, 25

लिए बनी है। इससे अर्वाचीन दूसरे वर्णन मे[1] विश्व मण्डल के सव प्रकार के तत्वो की सृष्टि मिलती है। वाइविल के अनुसार सृष्टि-कार्य का तरीका आदि दुर्व्यवस्था से जगत की वर्तमान सुव्यवस्था का निर्माण करना हे।[2] इस प्रकार क्रमश दिन का रात से और पृथ्वी का सागर से पृथक्करण हुआ, तत्पश्चात् कालक्रम के द्योतक नक्षत्र का निर्धारण और उनके अपने-अपने निवास स्थान के अनुसार जीव जन्तुओ का सर्जन हुआ। अन्त मे मानव उत्पन्न हुआ, मानो सम्पूर्ण सृष्टि के शिखर पर। इस प्रकार वाइविल की सृष्टि सम्वन्धी दोनो विचार ईश्वर केन्द्रित न होकर मानव केन्द्रित हे। विश्व भर मे मनुष्य ही सबसे महत्वपूर्ण प्राणी हे। उसी की सविधा के लिए सव कुछ वनाया गया हे।

सृष्टि के उपरोक्त दोनो वर्णनो मे सृष्टि-कार्य का तरीका भिन्न-भिन्न है। पूर्वोक्त प्रकरण कुम्हार-दृष्टान्त का प्रयोग करता है। जिसके अनुसार सृष्टिकर्ता मानव और जीव-जन्तुओं को मिट्टी से गढता हे[3] उत्तरोक्त प्रकरण मे सृष्टि कार्य की धारणा इससे कही अधिक आध्यात्मिक है। परमेश्वर अपने शब्द की शक्ति मात्र द्वारा सव कुछ स्पष्ट करता है।[4] वाइविल की शून्य म सृष्टि की प्रसिद्ध धारणा उत्पत्ति ग्रथ मे नही मक्काबियो के दूसरा ग्रथ मे अपने आदि रूप मे मिलती है। वहाँ लिखा है- आकाश, पृथ्वी और सव कुछ जो उनपर है, उनकी ओर देख ओर समझ ल कि ईश्वर न उन्हे शून्य मे गढा है।[5]

उत्पत्ति ग्रथ मे दिये गये वर्णन से सम्बन्धित दो और बाते उल्लेखनीय हे। समकालीन साहित्य के विपरीत वाइबिल विश्वोत्पत्ति का वर्णन शुभ और अशुभ शक्तियो के सघर्ष के रूप मे नही करती है। इसमे शुभाशुभ द्वैतवाद का अभाव है, सिर्फ सृष्टिकर्ता ही सम्पूर्ण विश्व का एकमात्र आधार है। फिर जो कुछ परमेश्वर ने वताया हे वह उसको अच्छा लगा।[6] दूसरी वात वाइबिल की इस युक्ति से सम्वन्धित है, जिसमे कहा गया है कि आदि मे ईश्वर ने स्वर्ग और पृथ्वी की सृष्टि की। कथन का तात्पर्य यह है कि दैवी सघर्प के अभाव मे सृष्टि से पूर्व देशकाल कालक्रम का भी अभाव था। इसलिए काल गणना सृष्टि से ही शुरु हुई। आदि मे इति का दावा धार्मिक स्वरूप का है, विज्ञान की अनादि काल की धारणा और बाइविल की आदि काल मे सृष्टि, इन दोनो का सामञ्जस्य किया जा सकता है।

बाइबिल का यह सृष्टि सम्वन्धी सिद्धान्त धार्मिक अनुभव का प्रतिफल है। यावे भक्तों का यह विश्वास था कि परमेश्वर न तो केवल अपनी प्रजा, वरन अन्य जातियो पर भी शासन करता है। इब्रानियो का यह अनुमान था कि परमेश्वर पूरे विश्व पर शासन करता है और उसी ने विश्व का निर्माण भी किया हे। इस प्रकार से सृष्टिकार्य को परमेश्वर से किये गये महान कार्यो मे से सर्वप्रथम माना गया है। इतिहास की अन्य घटनाओ को मुक्ति कार्य कहा गया है। इस परिप्रेक्ष्य मे सृष्टि इस परवर्ती मुक्ति-कार्य का प्रारम्भ प्रतीत होने, लगी फिर यह भी अनिवार्य है कि सृष्टिकर्त्ता किसी एक जाति का नही वरन्, सम्पूर्ण मानव जाति का युक्तिकर्ता माना जाता है। इस प्रकार सृष्टि से सम्बन्ध के फलसवरूप सार्वभौम युक्ति की धारणा भी विकसित हुई।

---

1 वही- 1/1–4
2 योहन फाइस- ईसाई दर्शन इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ- 10
3 उत्पत्ति- 2/7, 19
4 उत्पत्ति- 1/3
5 मक्काबी ग्रन्थ- 7/28
6 उत्पत्ति - 1/10, 1/12, 1/18

एक वात और जैसे आदि सृष्टि से युक्ति कार्य प्रारम्भ हुआ, वेसे ही नव सृष्टि मे वह समाप्त हो जायगा।

बाइबिल के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसाई धर्म भी सृष्टिवाद ओर प्रलयवाद मे विश्वास करता है। इसायस नवी युगान्त की इस प्रकार भविष्यवाणी करते हे- "मे (अर्थात् पावे, जिनका प्रवक्ता नवी हे) एक नये स्वर्ग ओर एक नयी पृथ्वी की सृष्टि करने वाला हूँ। नयी सृष्टि के पहले प्रलय का होना भी आवश्यक हे।" [1]

"शून्य से सृष्टि" का अर्थ

ईसाई धर्म के अनुसार ससार की सृष्टि शून्य से हुई हे।[2] "शून्य मे सृष्टि" को ईसाई धर्म की विशिष्टता माना जाता है। "शून्य से सृष्टि" को ईसाई धर्म की विशिष्टता माना जाता हे। "शून्य मे सृष्टि" की न केवल धारणा हे अपितु उसकी अभिव्यक्ति ही अक्षरश बाइबिल मे अंकित है। " शून्य से सूक्ति" लैटिन शब्द (EXNihilo का अनुवाद हे। इन्ही शव्दो से " सन्त जेरोम" ने यूनानी मूल पाठ को अनुवादित किया था। हिन्दी मे इसका शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार होगा-ईश्वर ने उन्हे (अर्थात् आकाश और पृथ्वी को) ऐसे तत्वो से सृष्ट नही किया जिनका प्राग्-भाव था।[3] अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ने किसी प्रदत्त सामग्री या उपादान का प्रयोग नही किया। जैसे कुम्हार मिट्टी का कर्त्ता हे। अत सन्त जेरोम से प्रचलित अनुवाद मूलपाठ का सही अर्थ अभिव्यक्त करता है - परमेश्वर ने किसी वास्तविक तत्व से नही शून्य से ही सृष्टि की हे।

लेकिन अनुभव से हमे ज्ञात होता है कि इस सूक्ति की अनेक भ्रान्त व्याख्याए प्रचलित है जिनका निराकरण करना अनुचित नही होगा। कोई ऐसा मानता है कि- 'सृष्टि शून्य से स्वय ही उत्पन्न हुई' अर्थात् अपने आप से सृष्टिकर्ता की अनुपस्थिति मे। इसके विपरीत सहज मे यह अखण्डनीय आपत्ति उठाई जा सकती है कि असत् से सत् कभी नही उत्पन्न हुआ है, न होगा। सृष्टिवादी धार्मिक व्यक्ति इतने असगत सिद्धान्त का प्रतिपादन नही करता है। अत उपर्युक्त कथन को सुधार कर यह कहना पडेगा कि- ईश्वर ने ही शून्य से सृष्टि की है।[4] लेकिन इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि शून्य एक प्रकार का अदृष्ट सूक्ष्मतम पदार्थ है जिसमे से सृष्टिकर्ता नाना प्रकार के तत्वो को गढता है। इस गलत कल्पना का खण्डन करने के निमित्त हमे याद करना चाहिए कि शून्य बिल्कुल कुछ नही है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतम पदार्थ भी नही है। फिर कुछ नही है, से सर्वशक्तिमान परमेश्वर भी कुछ नही निकाल सकता है। इस दूसरी भ्रान्त व्याख्या के निराकरण से यह स्पष्ट है कि शून्य से सृष्टि का सिद्धान्त किसी भी उपादान का प्राग्भाव अस्वीकार करता है, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म क्यो न हो। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि पूर्ववर्ती उपादान का निषेध मात्र पर्याप्त नही होगा, क्योकि इस दृष्टि से यह कल्पना की जा सकती है कि सृष्टि कर्ता ने पहले आवश्यक सामग्री को सृष्ट किया, बाद मे उसमे से भिन्न-भिन्न तत्वो को गढा। यह कल्पना इसलिए भ्रान्त है कि वह सृष्टि कार्य को दो अवस्थाओ के क्रम मे विभाजित करती है। इसके विपरीत लोकातीत होने से सृष्टिकर्ता कालातीत भी है।

---

1. इसायस- 65/17
2. योहन फाइस- ईसाई दर्शनः इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ट- 176
3. मक्काबियों का दूसरा ग्रथ- 7,28
4. योहन फाइस- ईसाई दर्शनः इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ 177

फलत सृष्टिकार्य को कालिक प्रक्रिया नही माना जा सकता है।

आखिर शून्य से सृष्टि का सही अर्थ क्या हे? इस प्रश्न का उत्तर देने क निमित्त हमें इस वात पर ध्यान देना पडता हे कि परम्परागत उक्ति कारण की अपेक्षा कार्य से ही सम्वन्ध रखती हे। अवश्य ही सृष्टिकार्य के पहले किसी उपादान का प्रागभाव नही स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन इससे आगे बढकर सृष्ट तत्वो के प्रागभाव पर वल देना आवश्यक है। शून्य है कार्य का, और शून्य से सृष्टि की सही व्याख्या यह है कि- "सम्पूर्ण सृष्टि की अनुपस्थिति में सृष्टिकर्ता परमेश्वर न उसकी सम्पूर्णता सृष्ट की या सृष्टि के अभाव मे सृष्टिकर्ता ने उसे उत्पन्न किया। इस व्याख्या की दृष्टि से परम्परागत उक्ति का लोकातीत कारण से सामंजस्य स्पष्ट दिखाई पडता हे। परिभाषा के वल पर लोकातीत कारण एक ऐसा तत्व है। जिसकी अनुपस्थिति में सम्पूर्ण सृष्टि का अभाव होता है। अत लोकातीत कारण के अभाव मे सृष्टि शून्य मात्र होती। अत "शून्य से सृष्टि " का तात्पर्य यह है कि अपने आप से शून्य होते हुए भी सृष्ट तत्व, सृष्टिकर्ता पर निर्भर होकर अस्तित्व रखते हे। जवकि सृष्ट तत्वो की कोई वास्तविकता नही थी। सृष्टिकर्ता ने उन्हे वास्तविक किया। इस प्रकार ईसाई धर्म इस धारणा मे विश्वास करता है कि परमेश्वर ने इस जगत की रचना शून्य से की है।

अनादि संसार की समस्या

'शून्य से सृष्टि' का सही अर्थ सृष्ट तत्वो के प्रागभाव से सम्वन्ध रखता हे। फिर भी प्राक् उपसर्ग के वावजूद इसे कालिक पूर्ववर्तिता न समझा जाय।[1] इसका कारण यह है कि विश्वोत्पत्ति के सन्दर्भ मे अवस्थाओ का कालिक अनुक्रम हो ही नही सकता है। यह दावा इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है-सृष्टि के पहले या सृष्टि के वाद इन स्थितियो का प्रभेद सृष्टिकर्ता के विषय मे असम्भव है जो कालातीत है, उसमे कालक्रम भी नही हो सकता है। सृष्टि के विषय मे भी उपर्युक्त प्रभेद असगत प्रतीत होता है। या तो हम कहे कि विश्व का अभाव उसकी उपस्थिति के पहले आया, या यह कि विश्व की उपस्थिति उसके अभाव के बाद आई। पहले विकल्प मे वास्तव मे यह कहा जाता है कि शून्य के पहले शून्य आया, क्योंकि जव तक सृष्टि की उत्पत्ति नही हुई, तब तक उसकी उपस्थिति की भी चर्चा नही हो सकती हे। लेकिन कुछ नही है कैस कुछ नही के पहले आ सकता है दूसरे विकल्प मे कुछ नही और कुछ अर्थात् शून्य और विश्व का अनुक्रम मिलता है। लेकिन कुछ नही के बाद आना, इस उक्ति का अर्थ क्या हो सकता है? ये दोनो विकल्प इसलिए निरर्थक प्रतीत होते है क्योकि क्रम सिर्फ दो वास्तविक तत्वो का हो सकता है। फलतः विश्वोत्पत्ति की दृष्टि से न तो सृष्टिकर्ता, न सृष्टि के विषय मे ही पूर्ववर्ती या परवर्ती अवस्थाओ का प्रभेद सार्थक प्रतीत होता है। पर शायद कोई यह कहे कि सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि इन दोनो की पूर्ववर्तिता और परवर्तिता हो सकती है, मानव पहले परमेश्वर था और सृष्टिकार्य के बाद मे सृष्टि। प्रस्तुत समाधान इसलिए गलत है क्योकि इसमे प्रयुक्त पहले का निहितार्थ यह है कि विश्व के साथ परमेश्वर भी कालक्रम से सम्वद्ध है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह अर्थ निकलता है कि सृष्टि का प्रागभाव कालक्रम से सम्वन्ध नही रख सकता है। कालिक पूर्ववर्तिता

---

1 योहन फाइस- ईसाई दर्शन इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ- 177

के वदले 'शून्य से सृष्टि' का सिद्धान्त तात्विक प्राथमिकता की ओर संकेत करता है।[1] यथार्थता की दृष्टि से विश्व की अपेक्षा परमेश्वर ही मूलभूत तत्व है।

उपर्युक्त अर्थ मे विश्व कालिक प्रागभाव निरर्थक है, इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि विश्व अनादि काल से ही अस्तित्व रखता है। विश्व का प्रारम्भ हुआ या नही? यह प्रश्न वास्तव मे सृष्टि कार्य से नही विश्व की कालावधि से सम्बन्ध रखता है। विश्व कहॉ से उत्पन्न हुआ और विश्व कवसे अस्तित्व रखता है। इन दानो प्रश्नो का उत्तर वतलाते हुए ईसाई धर्म मे कहा गया है कि विश्व की कालावधि सीमित नही, अनादि ही है।[2]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अनादि ससार का सिद्धान्त सृष्टिवाद का खण्डन करता है? प्रश्न का उत्तर है विल्कुल नही। सृष्टिवादी अनादि ससार को वेज्ञानिक परिकल्पना के रूप मे स्वीकार कर सकता है, वशर्ते इसमे से निम्नलिखित दो गलत निहितार्थ न निकाले जाये। पहला, अनादि काल शाश्वत के वरावर नहीं है। कारण जवकि शाश्वत परमेश्वर कालातीत ही है, विश्व अनादि काल से काल मे विलीन है। देर्ध्य की माया हमे न वहकाये, विश्व की कालावधि जितनी अधिक दीर्घ है, शाश्वत की तुलना मे उतनी ही कम है। जबकि विश्वकाल मे भिन्न-भिन्न घटनाए भूत ओर भविष्य मे विखरी जेसी है शाश्वत परमेश्वर के लिए घटनायें वर्तमान क्षण मे एकत्रित है। अत अनादि विश्व की परिकल्पना मे भी सृष्टि ओर सृष्टिकर्ता का प्रभेद वना रहता है।

दूसरा भ्रात निष्कर्ष यह हे कि मानो अनादि होने से सृष्टि अनुत्पन्न या अकारण भी होती हे। सृष्टिवाद का मर्म यह है कि लोकातीत कारण की अनुपस्थिति मे विश्व का अभाव होगा। दूसरे शब्दो मे सम्पूर्ण सृष्टि अस्तित्व की दृष्टि से परमेश्वर पर निर्भर है। अब विश्व यदि अनादि काल से भी अस्तित्व रखता हे, तो अनादि काल से परमेश्वर के वल पर ही। विश्व की अवधि कितनी भी दीर्घकालीन क्यो न हो, काल क्षण असख्य होते हुए भी प्रत्यक क्षण सृष्टिकर्ता पर आश्रित रहता है।

काल का प्रत्यय

बाइबिल के अनुसार जगत् की सृष्टि के साथ काल-क्रम का भी आरम्भ हुआ।[3] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काल सृष्टतत्वो का एक मूलभूत विशिष्ट लक्षण है। इसके विपरीत लोकातीत होने के फलस्वरूप सृष्टिकर्ता को कालातीत भी होना अनिवार्य है। बाइबिल उस पौराणिक धारणा का निषेध करती है, जिसके अनुसार सासारिक कालक्रम के पहले देवताओ की उपस्थिति स्वीकार की गयी है।[4] सृष्टि के पहले काल की सत्ता नही हो सकती है, सृष्टिकर्ता परमेश्वर काल से कोई सम्बन्ध नही रखता है। यह काल रहित दशा शाश्वततत्व कहलाती है। इसकी परिभाषा निषेधात्मक रूप से इस प्रकार की जा सकती है- शाश्वततत्व काल का पूर्ण प्रतिरोध है, वह काल से सम्वन्धित परिवर्तनो से भी पूर्णत मुक्त है।[5] काव्यात्मक ढग से एक स्रोत

1 योहन फाइस- ईसाई दर्शन इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ- 178
2 योहन फाइस- ईसाई दर्शन इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ- 178
3 येरेमियस- 31/33-34
4 योहन फाइस- ईसाई दर्शन इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ- 14
5 येरेमियस- 90/2

शाश्वत अस्तित्व का इस प्रकार वर्णन करता हे- "जव पर्वत भी नही वन थ तथा न पृथ्वी ओर विश्व ही थे, तव भी अनादि से अनन्त तक हे परमेश्वर तू ही रहा हे।[1] इसकी तुलना भगवद्गीता के एक प्रसिद्ध श्लोक की प्रतिध्वनि जैसा लगता हें जिसमे कहा गया है - तुझे (परमेश्वर) हजार वर्ष भी बीते कल की ही तरह लगत हें अथवा वह जेस रात का एक पहर हो।[2]

काल दो प्रकार का होता है- भौतिक जगत का काल या सासारिक काल ओर ऐतिहासिक काल। उल्लेखनीय वात यह है कि दोनो कालो मे सृष्टिकर्ता ओर मुक्तिकर्ता परमश्वर हस्तक्षेप करता रहता हे।[3] जिस प्रकार लोकातीततत्व अन्तर्यामिता का अपवर्जन नही करता है उसी प्रकार शाश्वततत्व कालक्रम से भी असम्वद्ध नही हे। सृष्टिकर्ता सासारिक काल का अधिपति है। इस धारणा से इव्रानी सप्ताह की प्रथा सम्बन्ध रखती है।[4] इसके अनुसार सातवे दिन परिश्रम मे अवकाश होना हे ओर परमेश्वर की उपासना करनी है। इस धार्मिक नियम का कारण इव्रानी धर्मशास्त्रियो ने इस तुलना द्वारा समझाया हें - जेसे- सृष्टिकर्ता न छ दिनो मे अपना सृष्टिकार्य समाप्त किया, फिर उन्होंने विश्राम किया, वेसे ही मानव भी करे।[5] वाइविल मे सासारिक काल का शाश्वत काल पर प्रक्षेप किया गया है। वास्तव मे इसका अभिप्राय सप्ताह की धार्मिक प्रथा को सृष्टिकर्त्ता के आदर्श द्वारा प्रमाणित करना है।

ऐतिहासिक काल सासारिक काल से बिल्कुल भिन्न हे। यह प्रकृति का कालचक्र मात्र है जिसमे अनिवार्य रूप म घटनाओ का आवर्तन होता रहता है। सासारिक काल मे परमेश्वर के स्वतन्त्र निर्णय के फलस्वरूप अपूर्व घटनाओ द्वारा इतिहास मे प्रगति हो सकती हे। ऐतिहासिक काल मे क्रियाशील होकर परमेश्वर अपना मुक्तिकार्य पूरा करता है। इस प्रकार इतिहास लौकिक घटनाओ का क्रममात्र नही, बल्कि पुनीत इतिहास माना जाता हे। ऐसे सार्थक काल को सम्पूर्णता प्राप्त होगी यह स्वाभाविक है। जिस प्रकार सृष्टि से काल प्रारम्भ हुआ उसी प्रकार नवसृष्टि से उसकी समाप्ति भी होगी।

अशुभ की समस्या और समाधान

अशुभ धर्म की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। अत इस पर धर्म के सभी चिन्तक विचार करते है। ईसाई धर्म तो इसे मौलिक समस्या कहता है तथा इसका समाधान भी मौलिक ही प्रस्तुत करता है। ईसाई धर्म के विद्वानो का कहना है कि अशुभ मानव जीवन और जगत का आवश्यक अग है। अत जीवन और जगत सम्वन्धी कोई विचार तव तक पूर्ण नही हो सकता है, जब तक हम अशुभ पर विचार न करे। इस प्रकार मानव जीवन और जगत के स्वरूप को अशुभ के विना हम समझ ही नही सकते है।

अब प्रश्न यह है कि अशुभ क्या है? तथा इसकी क्या परिभाषा है ? अशुभ की परिभाषा साधारण तथा असाधारण दोनो दृष्टियो से दी जाती है। साधारण दृष्टि से अशुभ अभावात्मक है क्योकि यह शुभ का अभाव है। जैसे-रात, दिन का अभाव

1 वही- 90/3
2 येरेमियस- 90/4 की तुलना गीता के 8/17 से की जा सकती है।
3 योहन फाइस- ईसाई दर्शन इतिहास और सिद्धान्त, पृष्ठ- 15
4 वही, पृष्ठ- 15
5. निर्गमन ग्रथ- 20/8/10

है, मृत्यु जीवन का अभाव है, उसी प्रकार अशुभ भी शुभ का अभाव ह। परन्तु इसम केवल यही पता चलता हे कि अशुभ शुभ का विरोधी हे। विरोध का नियम ही ऐसा है कि जिन दो वस्तुओ मं विरोध का सम्बन्ध रहता हे उनमे एक का भाव, दूसर का अभाव सिद्ध करता है। इस प्रकार यदि अशुभ-शुभ का अभाव हे तो शुभ भी अशुभ का अभाव हे। इसीलिए अशुभ की असाधारण या विशेप प्रकार की परिभाषा दी जाती है, जो भावात्मक है। इसक अनुसार अशुभ दैन्य भाव या दु.ख की अनुभूति हैं। जिस प्रकार सुख की अनुभूति शुभ है उसी प्रकार दु.ख की अनुभूति अशुभ है। हम दोनो प्रकार की अनुभूति हाती है। अत इन दोनो को जीवन और जगत का आवश्यक अंग माना जाता है। इसकी विशेपता यह है कि यह निरपेक्ष नही सापेक्ष हे। स्त्री-पुरुप, प्रकाश-अंधकार के समान शुभ-अशुभ भी सापेक्ष हे। अर्थात् एक की सत्ता दूसरे मे सम्बद्ध हे, सापेक्ष हे। यदि इनमे से एक को स्वीकार कर ले तो दूसरे की सत्ता हमे स्वीकार करनी ही होगी। काई भी व्यक्ति दु खी नही होना चाहता परन्तु व्यक्ति को इसे स्वीकार करना पडता है। क्योकि दोनो जीवन के अपरिहार्य अग है। अत हम सुख भोगना तो चाहते हे परन्तु दु ख मे हमारा त्राण नही। हमे जीवन मिला है तो मरण भी मिलेगा। हम स्वस्थ है, परन्तु रोगी होना पडेगा, योवन हे ता पुढापे का आगमन होगा ही।

धर्म का उद्देश्य अशुभ का त्याग तथा शुभ की प्राप्ति हे। ससार क अशुभ स धर्म का विकास होता है। इसीलिए प्रत्येक धर्म मे किसी न किसी रूप मे अशुभ की सत्ता अवश्य पायी जाती हे। ईसाई धर्म के अनुसार विश्व में अनेक प्रकार के अशुभ तत्व है। अशुभ अनेक प्रकार के होते है, जैसे-प्राकृतिक अशुभ, वौद्धिक अशुभ, तात्विक अशुभ, सामाजिक अशुभ, नैतिक अशुभ, और सौन्दर्य सम्बन्धी अशुभ है।[1]

भूकम्प, बाढ, सर्प, रोग मृत्यु आदि प्राकृतिक अशुभ के उदाहरण हे।[2] ऐसे अशुभ प्रकृति मे व्याप्त है। अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, भ्रम आदि वौद्धिक अशुभ के उदाहरण हैं। किसी भी रचना मे कुछ न कुछ दोप अवश्य रहता है, क्योकि कोई भी रचना पूर्ण नहीं हो सकती है। ऐसे दोषो को तात्विक अशुभ की सज्ञा दी गयी है। अस्पृश्यता, शोपण, दरिद्रता, सामाजिक अशुभ के उदाहरण है। पाप, हिसा, चोरी आदि नैतिक अशुभ है। कुरूपता सौन्दर्य सम्वन्धी अशुभ है। यद्यपि ईसाई धर्म मे अनेक प्रकार के अशुभ का संकेत है, फिर भी प्राकृतिक और नैतिक अशुभ को ही प्रधानता मिली है। सच पूछा जाय तो अन्य कोटि के अशुभ किसी न किसी रूप में इन दोनों प्रकार के अशुभो में सन्निहित है।[3]

प्राकृतिक अशुभ उस अशुभ को कहते है जो प्रकृति मे विद्यमान हो। इसके विपरीत नैतिक अशुभ उस अशुभ को कहा जाता है जो मानव के कार्य-कलापों से उत्पन्न होता है। ईसाई धर्म में अशुभ वास्तविक है, काल्पनिक नही। अशुभ मनुप्य के जीवन मे व्यापक एवं भयानक प्रतीत होत है। यह समस्या सभी ईश्वर वादी धर्मों के लिए है। ईसाई धर्म भी ईश्वरवादी है।

---

1. डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 79
2 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 79
3. डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 79

अत ईसाई धर्म के लिए भी यह एक समस्या है। ईश्वर और अशुभ एक साथ असगत विचार है। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर परम शुभ हे। सृष्टि का कर्त्ता है, धर्त्ता है, सत् है, सर्वज्ञ हे, सर्वशक्तिमान हे ओर मर्वव्यापी हे, दया का मागर हे। यदि वह सवका स्रष्टा है तो अशुभ का भी है। यदि वह अशुभ की सृष्टि नही करता तो अशुभ की सत्ता स्वतन्त्र हे। परन्तु ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे तत्व को स्वतन्त्र मानना तो ईश्वर को पूर्णत म्वतन्त्र नही म्वीकार करना है। यदि वह दया का सागर है तो दु ख रूप अशुभ की सृष्टि क्यो करता है?

यदि वह दयालु पिता है तो अपनी प्रिय सन्तानो को दु खी क्या देखता हे? यदि वह मर्वशक्तिमान है तो अशुभ की मत्ता समाप्त क्यो नही कर देता है? यदि वह इसकी सत्ता नही ममाप्त कर सकता, असमर्थ हे तो मर्वशक्तिमान केसे? म्पष्ट हे कि परमात्मा की प्रभुता और प्रेम के लिए अशुभ की सत्ता एक गहरी चुनोती हे। यही अशुभ की ममस्या हे और इम ममस्या का समाधान भी ईसाई धर्म मे प्रस्तुत किया गया है जो निम्नोक्त हे-

सर्वप्रथम दु ख-कष्ट को ताडना के रूप मे लिया गया हे ताकि मानव को स्मरण पडे कि उसे ईश्वर की छवि के रूप मे बनाया गया है। यह बात उडाऊ पुत्र के दृष्टान्त से स्पष्ट होती हे। फिर दु ख से मानव का शिक्षण भी होता हे।[1] पुन नये नियम मे भी बताया गया है कि जिस प्रकार वाप, वेटे को दड देकर उसको अनुशासित बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर-पिता भी मनुष्यो को दडविधान के द्वारा अनुशासित करता हे।[2]

द्वितीय, यहूदियो के बीच मे प्रथा थी कि वे पशुओ की बलि ईश्वर को चढाते थे ताकि वलि का पशु उनके पापो को ढो ले और उन्हे पापो से विमुक्त करे। फिर यहूदी लोग प्राय. अपनी जाति को पवित्र रखने ओर अपने एकेश्वरवाद मे विश्वास को दृढ रखने के लिए अन्य जातियो के द्वारा तथा अपनी ही जाति के लोगो के द्वारा वलिदान स्वरूप शहीद भी होते आये थे। अत यहूदी परंपरा को अपनाते हुए ईसाई लोग भी दु ख को ईश्वर के प्रति विमोचन तथा निवेदक मानते थे। इस्रालियो को ईश्वर के कोप से वचाने के लिए मूसा नवी ने ईश्वर से प्रार्थना की- "हे परमेश्वर इन इस्रालियो को तूँ अपने कोप का भाजन न कर वरन् इन्हे बचा ले और इनके बदले मेरे ही नाम को अनन्त जीवन प्राप्त करने वालो की तालिका से काट दे।"[3]

इस प्रकार के अशुभ को प्रतिनिधि मूलक और निवेदक कहते हे। जिस प्रकार वलि का पशु पापवहन कर यजमान को उसके पापो से उसे मुक्त कर देता है, उसी प्रकार यशायह पैगम्बर ने वताया था 'मसीह' भी अपनी वलि देकर समस्त मानव जाति को उनके आदि-पाप से उन्हे विमुक्त कर देगा।[4] क्यो मानव जाति को मसीह की वलि की आवश्यकता पड गयी? ईसाई धर्म का आदि पाप इतना गहरा और व्यापक है कि मानव अपने ही प्रयास से अपना उद्धार नही कर सकता है। ईसाई के लिए दु.ख वास्तव मे अशुभ नही है।

---

1. अय्यूब- 5/17, इतिहास- 32/27
2. इब्रानियों- 12/9—11
3. गिनती- 11/12
4. यशायह- 53/3—5

१- अशुभ इसलिए है कि इसके द्वारा ईश्वर की महिमा प्रकट हो। एक अन्धे को मसीह के पास लाया गया और उससे पूछा गया यह जन्म से ही अन्धा क्यो पैदा हुआ? क्या इसने पूर्व जन्म मे या इसके पिता ने पाप किया था जिससे कि यह जन्मान्ध हुआ? मसीह ने कहा कि यह इसलिए जन्मान्ध हुआ कि इसके द्वारा ईश्वर की महिमा प्रकट हो।[1] अशुभ मानव के लिए चुनौती है जिसे दूर करने के लिए मानव चरित्र और बुद्धि का विकास होता है।

२- अशुभ के द्वारा मानव का विशुद्धीकरण होता है, उदाहरणार्थ इब्राहिम पैगम्वर, युसूफ ओर अय्यूब की जीवनी मे यह सिद्ध होता है। कष्ट-भोग के द्वारा विश्वासियों का विश्वास दृढ होता है ओर तपाये हुए सोने के समान विमल हो जाता है।

३- यातनाओ के द्वारा मानव, जैसा मसीह के जीवन मे देखा जाता है, पूर्णता की ओर प्रगति करता है।[2]

४- यातना सहना ईसाई के लिए सौभाग्य की वात है[3] ईसा मसीह के नाम के कारण यातनाओ के भोगने पर विश्वासी मसीहीय क्रूश-मृत्यु का सहभागी होता और मसीही परिवार का सदस्य बनता है।[4] मसीह ने कहा कि यदि कोई उसका अनुयायी बनना चाहता है तो अपनेपन (अहंभाव) को नकारे और अपना-क्रूश उठाये ओर तव उसके पीछे हो ले।[5]

इसलिए ईसाई धर्म में अशुभ की समस्या का समाधान धार्मिक रीति से ही किया गया है जिसे ईसाई-मुक्ति के स्वरूप मे स्पष्ट दिखाया जा सकता है।

स्वर्ग और नरक

स्वर्ग और नरक की अवधारणा प्राय सभी धर्मो मे पायी जाती है। हिन्दू एवं इस्लाम धर्म के समान ईसाई धर्म मे भी स्वर्ग और नरक को भी पारलौकिक जीवन मे स्थान दिया गया है। ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल मे नरक का चित्रण अपने आतंककारी रूप मे मौजूद था, लेकिन उत्तरोत्तर यह विश्वास कम होता चला गया।[6]

ईसा मसीह अपने प्रचार काल मे बार-बार न्याय-दिवस की चर्चा करते थे।[7] फिर वे स्वर्ग और नरक की भी वात करते है। जब मसीह क्रूस पर लटके हुए थे उसी समय अपने अनुयायियों से कहा था कि आज ही तू मेरे साथ स्वर्ग में होवोगे। फिर लाजरस के दृष्टांत मे मसीह ने स्वीकारा कि भिखमगा लाजरस स्वर्ग मे गया और धनवान व्यक्ति, जिसके द्वार पर भिखमगा लाजरस रहता था, वह धनवान नरक में डाला गया। मसीह ने बार-वार चेलो को बताया था कि मारे जाने पर वह तीसरे दिन मृतको मे से जी उठेगा।[8] मसीह ने यह भी बताया था कि स्वर्ग मे विवाह नही होते। स्वर्गिक जीवन स्वर्ग दूतो के समान पवित्रता का जीवन होता है।[9]

---

1 योहन- 9/3
2 इब्रानियों- 5/8
3 योहन- 15/20, मत्ती- 10/24, 1 पितर- 2/20–21
4 पितर- 4/13, 16
5 मत्ती- 16/24
6. डॉ० भूपेन्द्र कुमार मोदी- एक ईश्वर, पृष्ठ- 58
7 मत्ती- 5/22, 7/1–2, 11/36, लूक- 6/37, 12/12, योहन- 3/19
8. मत्ती- 12/40, 26/60– 61, मार्क- 8/31, 9/31, 10/34
9. मत्ती- 22/30, 20/35

ईसाइयो के लिए ईसा देहधारी रूप मे ही स्वर्ग चले गये थे। अत न्याय दिवस के अवसर पर देह के साथ मानव की आत्माओं का पुनरुत्थान होगा, ऐसा मसीहो का विश्वास है। महीहियो की पुनरुत्थान की आशा किसी युक्ति पर आधृत नही है, वल्कि यह उनका विश्वास वचन मात्र है।

ईसाइयो की अमरता की आशा जीवन के मूल्यों पर आधारित है। जिन लोगों ने अपने को ईश्वरीय गुणा और मूल्यों तथा ईश्वर की आज्ञाकारी जीवन को प्राप्त कर लिया है, वे ही अमर हो सकते है। केवल मूल्यवान तथा योग्य व्यक्ति ही अमर जीवन के अधिकारी होंगे।[1] यह बात स्पष्ट है कि सृष्ट जीव अमर नही हो सकता है। इसलिए अनन्त जीवन का अधिकार ईश्वरीय प्रसन्नता और उसकी आज्ञाकारिता पर निर्भर है।

तृतीय भाग - इस्लाम धर्म के संदर्भ में

जगत विचार

अल्लाह विश्व का स्रष्टा है और विश्व अल्लाह की सृष्टि है।[2] सृष्टि से उसके सृजनहार का अनुमान होता है, जैसे कार्य के कारण का। व्यवस्था की विचित्रता, रचना की विचित्रता, सौन्दर्य आदि गुणो की अधिकता से जगत् किसी असाधारण शिल्प चतुरता से पूर्ण शक्ति का बनाया हुआ प्रतीत होता है। कोई-कोई विचारक सृष्टि को भ्रमात्मक कहकर परमार्थ मे उसकी सत्ता से इकार करते है, किन्तु कुरान ऐसे जगत को मिथ्या होने को स्वीकार नही करता है। कुरान मे कहा गया है-आकाश, पृथ्वी और जो कुछ उनके मध्य में है, इन सबको मिथ्या नहीं, एक निर्दिष्ट उद्देश्य से रचा गया है।[3] ससार मे तुच्छता उसकी अस्थिरता के कारण है। संसार मे ही स्वर्गादि स्थान नित्य है, इसलिए उनका प्रलोभन सत्यकर्मियो को स्थान-स्थान पर दिया गया है। ससार और ससार की वस्तुयें ईश्वर की अनुग्रह की इच्छा का निदर्शन (नमूना) है। इसीलिए कुरान मे बहुत से जगहो पर ईश्वर की कृतज्ञता के भार से नम्र होने का उपदेश दिया गया है।

अल्लाह ने विश्व को जैसा चाहा है, वैसा बनाया है। भौतिक एव दृश्य विश्व ईश्वर पर आधारित है, क्योकि विश्व का नियामक ईश्वर है। विश्व का निर्माण ईश्वर करता है, इसका परिणाम यह है कि भौतिक विश्व पूर्णत· वास्तविक है। ईश्वर के अच्छा होने के कारण उसकी सृष्टि या रचना, यह विश्व भी अच्छा है। इसीलिए विश्व मे किसी प्रकार का दोप नही दिखलाई देता है।

---

1. लूक रचित सुसमाचार- 20/35
2. कुरान- 2 28,116,117,3.6,15.86,20 4
3. कुरान- 46.1,3,44.2,9,45 3,1

कुरान के अनुसार ईश्वर ने कहा की सृष्टि हो जा, ओर सृष्टि हो गयी।[1] कुरान की भाषा से यह मत सिद्ध होता हे कि ईश्वर ने इस जगत की रचना शून्य से की है। यहाँ पर इस्लाम धर्म का ईसाई धर्म मे साम्य स्पष्ट प्रतीत होता है। ईसाई धर्म भी मनता है कि ईश्वर ने जगत् की रचना शून्य से की हे। सूरा मे कहा गया हे कि ईश्वर ने जगत् की सृष्टि लीला हेतु नही की है।[2] यहाँ पर इस्लाम धर्म का हिन्दू धर्म से मतभेद दृष्टिगत है। हिन्दू धर्म की मान्यता हे कि ईश्वर न जगत की रचना लीला हेतु किया है। इस्लाम धर्म के अनुसार ईश्वर ने स्वर्ग, पृथ्वी ओर इनके बीच की सारी वस्तुओ को इसलिए रचा हे कि उनका अध्ययन करने मे मानव को सत्यता का ज्ञान हा सके। अव यहाँ प्रश्न यह उठता हे कि किस प्रकार की सत्यता का ज्ञान कराने के लिए ईश्वर ने सृष्टि की रचना की हे?

पहली बात यह है कि सृष्टि में जीवन और मृत्यु दोनो ईश्वर के सामर्थ्य को दिखलाता हे। ईश्वर ने मानव को धूलसे बनाकर उसमे जीवन देकर प्रजनन और प्रगुणित होने की शक्ति भर दी हैं। स्वर्ग ओर पृथ्वी की अनेक भाषाआ आर वस्तुओं के द्वारा भी ईश्वर के अस्तित्व और उसकी महानशक्तियों का परिचय मिलता हे।[3] फिर ईश्वर ने रात और दिन, वर्षा आदि का ऐसा विधान किया कि मानव उनकी गतिविधियों को जानकर प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करे ओर उस ज्ञान म लाभ उठाकर अपना जीवन यापन करे।[4] पुन ईश्वर ने जगत की सृष्टि की हे, ताकि मानव को मॉस, फल और अन्न प्राप्त हो। ईश्वर ने रात बनायी ताकि मानव विश्राम कर सके।[5] ईश्वर ने सूर्य और चॉद को वनाया ताकि मानव प्रकृति की गतिविधियां को सीखे। तारे गणो का निर्माण ईश्वर ने इसलिए किया कि मानव रात मे भी सही मार्ग पर चल सके।[6] डा० इकबाल ने सूरा 33 72 की व्याख्या करते हुए वताया है कि प्रकृति के विधान मे विशेषतया स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का अभाव है। परन्तु ईश्वर ने प्रकृति को विकाशशील वनाया है।[7] प्रकृति मे श्रृंखलाबद्धता तथा क्रमवद्धता पायी जाती है।[8] परन्तु इस्लाम के अनुसार स्वर्ग और प्रकृति की सभी घटनाये ईश्वर परिचायक और मानव केन्द्रित है।

इस प्रकार इस्लाम धर्म के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु का निर्माण ईश्वर ने किया है।[9] उसकी इच्छा के विना ससार में कुछ भी नही हो सकता है। वह सर्वव्यापी है। यह ससार अल्लाह पर ही पूरी तरह निर्भर है और वह चाहे तो इसे नष्ट भी कर सकता है।[10] अन्य धर्मों के समान इस्लाम भी सृष्टिवाद और प्रलयवाद मे विश्वास करता है। ईसाई एव यहूदी धर्मो की भाति इस्लाम धर्म भी जीवो के फिर-फिर जन्म लेने को नही मानता है। संसार मे मनुष्य, पशु आदि सबके जीव प्रथम ही प्रथम

---

1 पेंगुइन कोरन- एन० जे० डावूड, पृष्ठ- 336
2 सूरा- 44 38
3 सूरा- 30 21
4 सूरा- 24 44
5 सूरा- 2 22
6 सूरा- 2 22, 10 5–7, 13 2
7 सूरा- 35 1
8 सूरा- 24
9 डॉ० भूपेन्द्र कुमार मोदी- एक ईश्वर, पृष्ठ- 43
10 डॉ० भूपेन्द्र कुमार मोदी- एक ईश्वर, पृष्ठ- 43

शरीर मे प्रविष्ट हुए है। मरने के बाद फिर उनका जन्म न होगा। हॉ प्रलय (कयामत) अथवा पुनरुत्थान के दिन प्रत्येक जीव अपने पुराने शरीर के साथ जी उठेगा। उसी दिन उसके शुभाशुभ कर्मो का पारितोपिक या दण्ड सुनाया जायेगा। ससारी प्राणी का कोई सचित और प्रारब्ध कर्म नही होता हे। यहॉ पर इस्लाम धर्म का हिन्दू से मतभेद हे। जगत मे भोगो की असमानता जीव के कर्म के अनुसार नही है, यह ईश्वर की इच्छा हे।

सृष्टिवाद

इस्लाम धर्म मे ईश्वर को जगत् का स्रष्टा वताया गया है।[1] ईश्वरीय रहमत (दया) का परिणाम यह दुनिया हे।[2] ईश्वर ने ही अन्धकार को नष्ट कर जगत का निर्माण किया है। उसी न वजान जमीन मे जान डाली, मुर्दा भू-भाग को जिन्दा किया।[3] उसने जमीन को दो दिन मे पैदा किया, ऊपर से पहाड जमाये, उसमे वरकत (खजाना) रखी उसकी खुराके ठहरायी, फिर आसमान की ओर रुख किया, वह (आसमान) धुऑ जैसा था, दो दिनो मे सात आसमानो को पूरा किया और हर आसमान मे जो कुछ हुक्म देना था, भेज दिया, दुनिया के आसमान को दीपको से सुशोभित किया,[4] जमीन और आसमानो मे प्राणधारी फेला दिये,[5] जमीन को ठहरने की जगह बनायी, आसमान को छत वनाया[6], आसमानो तथा जमीन को जो कुछ उसके वीच है, छ दिनो मे पैदा किया,[7] फिर सिहासन पर आरूढ हुआ,[8] आसमान मे वुर्ज (प्रकाशमान तारे) वनाये और उसने एक चिराग और चमकता चॉद रखा।[9]

कुरान मे उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि ईश्वर ने पहले दो दिनों मे जमीन वनायी फिर अगले दो दिनो मे सारी वस्तुए जुटा दी। फिर आसमान की ओर रुख किया, जिसकी सृष्टि पृथ्वी के निर्माण के साथ हो चुकी थी। उसे वर्तमान रूप दो दिनो मे दिया गया था तथा उसे सात भागों मे विभक्त कर उचित रूप से व्यवस्थित कर दिया गया। इस प्रकार कुल छ दिनो मे सृष्टि की रचना हुई। एक अन्य उल्लेख के अनुसार यह विश्व वर्तमान अवस्था मे आने से पूर्व पूरा एक ही पदार्थ के रूप मे था। एक ही प्रकार की एक विशेष चीज, जो परस्पर मिली हुई थी, अल्लाह ने उसे विभिन्न भागो मे वॉट दिया, ये आसमान और जमीन पहले परस्पर मिले हुए थे, फिर उन्हे 'हमने' अलग किया।[10] उनसे विभिन्न ग्रह और नक्षत्र पेदा किये, जो एक मण्डल मे तैर रहे है।[11] सर मुहम्मद यामीन खॉ ने इन आयतो से एक वैज्ञानिक सत्य का प्रतिपादन किया है, और वह यह है

---

1 कुरान- 2 28,3 6, 15 86, 20 4
2. आजाद एम० ए० के०- द तरजुमन अल कुरान, पृष्ठ- 48–52
3 कुरान- 5 10, 25 49, 6 95
4 कुरान- 41 9, 37 5
5. कुरान- 42 27
6 कुरान- 40.64
7 कुरान- 25 59, 10 3
8 कुरान- 25.59
9. कुरान- 25 61, 37 5
10. कुरान- 21.30
11 कुरान- 21.33, 39 40

कि सृष्टि के प्रारम्भ मे मूल तत्व द्रव्य या पदार्थ एक विशाल निहारिका अथवा तारा मण्डल के रूप मे ब्रह्माण्ड मे स्थित था। वही पदार्थ चक्र क्रम से कालान्तर मे अनेक ग्रहो मे विभक्त हो गया ओर वे ग्रह अपने-अपने मण्डल मे तेर रहे हे।[1]

किन्तु कुरान मे सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन जिस रूप मे उपलब्ध होता हे, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह वर्णन आस्थामूलक है। अत इसमे वेज्ञानिक दृष्टिकोण की खोज अथवा वेज्ञानिक दृष्टि से इसकी सगति की विवेचना आवश्यक नही है।

अब यहॉ पर एक प्रश्न यह महत्वपूर्ण हो उठता है कि वह पदार्थ क्या था, जिससे इस सृष्टि की रचना हुई? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कुरान के टीकाकारो ने कहा है कि वह पदार्थ एक जगह था, जो कालान्तर मे भाप, ठोस, द्रव्य आदि रूपो मे परिवर्तन हुआ है। इस जगह को कुरान मे एक जगह पर धुऑ वतलाया गया है। अल्लाह ने जिस समय आसमान की रचना करने के लिए उस ओर रूख किया, उस समय उसकी स्थिति धुएं जसी थी। एक स्थान पर सृष्टि रचना से पूर्व ईश्वर के सिहासन को पानी पर स्थित बतलाया गया है।[2] यहाँ पानी से तात्पर्य पदार्थ के उस द्रव्य अवस्था से हे, जो विश्व को वर्तमान रूप देने से पहले थी। इस प्रकार समस्त विश्व पहले तारामण्डल या निहारिका था। अल्लाह ने अपनी योजना के अनुसार जमीन और आसमान की रचना की। उसने जमीन को एक ऐसे 'गहवारो' (पालना) के रूप मे वनाया, जो वायु मण्डल पर आश्रित है, एक हजार मील प्रति घण्टा की दर से अपनी धूरी पर घूम रही हे तथा जो छाछठ हजार मील प्रति घण्टा के हिसाव से सूर्य का चक्कर लगा रही है। यह भ्रमण मार्ग उन्नीस करोड मील हे। इतना ही नही अल्लाह ने जमीन को मनुष्यो की ठहरने की जगह बनायी तथा इसे इस प्रकार योग्य बनायी कि मनुष्य उसपर जीवन व्यतीत कर सके।[3] इसके लिए पृथ्वी में अत्यन्त उचित मात्रा मे आकर्षण शक्ति का समावेश किया गया तथा उल्कापात से बचने के लिए उसे वायुमण्डल से घेर दिया गया। जमीन के वाद बिल्कुल ठीक और सही तरीके से सात आसमान बने।[4] इन सात आसमानो से तात्पर्य सम्भवत पृथ्वी के अतिरिक्त शेष सृष्टि के सप्त विभाग से हे। इस्लाम धर्म के अनुसार अल्लाह का एक दिन मनुष्य के एक हजार वर्ष के बरावर है।[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अल्लाह ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना छ हजार वर्ष मे की थी। कुछ विद्वान छ दिन का अर्थ छ युगो से भी लेते है। इस अवधि में उसने अन्धकार पूर्ण रात्रि तथा दिन के प्रकाश का निर्माण किया तथा ऐसी व्यवस्था की जिससे सूर्य तथा चन्द्रमा नियमवद्ध होकर आते जाते रहते है। इसके पश्चात् उसने आसमान से पानी बरसाया, तथा प्रत्येक प्रकार की वनस्पति उगायी। इस क्रम मे वर्षा के विज्ञान सम्मत कारण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि वादलो के विभिन्न टुकडो से पानी बरसता है।[6] इसी संघर्षण का परिणाम बिजली तथा बादलो की गरज है।

---

1 सर मुहम्मद यामीन खॉ- गॉड सोल एण्ड यूनिवर्स इन साइन्स एण्ड इस्लाम, पृष्ठ- 56
2 कुरान- 11 7
3 कुरान- 27 62, 40.64
4 कुरान- 2 29
5 कुरान- 22.47, 32.5
6 कुरान- 24 43, 30.48

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस्लाम इस सिद्धान्त का मान्यता दता हे कि जगत और जगत की सभी चीजे निर्मित हे और एकमात्र सर्वोच्च सत्ता द्वारा निर्मित है। अल्लाह न उनके निर्माण मे किसी की सहायता नही ली हे। जिस प्रकार प्रत्येक कार्यो का एक कर्ता और प्रत्येक गति का एक सचालक होता हे, उसी प्रकार इस जगत रूपी कार्य का कर्त्ता या निर्माता भी ईश्वर ही है और वही इसे सचालित एव गति प्रदान कर रहा हे।

वस्तुत इस्लाम धर्म मे सृष्टि क्रम से सम्वन्धित विवेचन उपलब्ध नही हे। इसलिए मतभद हाना स्वाभाविक हे। द्रव्य अथवा पदार्थ से पूर्व क्या था? उसकी उत्पत्ति केसे हुई? धुआँ कहाँ से आया? आदि अनेक प्रश्न हे जिनका समाधान नही हो पाता है। हॉ निमित्त कारण के रूप मे इस जगत का निर्माता ईश्वर अवश्य हे। उपादान कारण के रूप मे ईश्वरीय सकल्प को लिया जा सकता है, क्योकि उसकी इच्छा के अभाव से भी भावपूर्ण चीजे पैदा हो सकती हे, उसके लिए यह आवश्यक नही कि पहल मे ही कोई चीज मौजूद हो और उसे आधार वनाकर वह कोई कार्य करे। वह तो स्वय सभी निराधार चीजो को आधार प्रदान करने वाला है तो[1] फिर उसके कार्यो के लिए किसी आधार की क्या आवश्यकता है।[2]अत इस्लाम मे भी ईश्वर के सकल्प को सृष्टि रचना का हेतु माना गया है। ईश्वर सर्वोच्च और शक्तिशाली हे, तथा वह अपने सकल्प से चीजो पैदा कर सकता हे और जो चाहता है कर गुजरता है।[3]

उपादान कारण के बिना जगत की सृष्टि

कुरान मे जगत् के उपादान कारण के सम्वन्ध मे कोई स्पष्ट सकेत नही प्राप्त होता हे। कुरान मे वर्णित जगत् की उत्पत्ति उसके दो शब्दो के अर्थ से भलीभॉति स्पष्ट हो जाती है, वे शब्द हे- 'कुन्, फ-यकून' (हो, फिर होता है)। भगवान ने कहा-हो, फिर यह जगत हो जाता है। कुरान मे कहा गया है-क्यो नही परमात्मा पर विश्वास करते, तुम मृतक थे, फिर उसने तुम्हे जिलाया, और फिर मारता है, तदनन्तर जिलायेगा, अन्त मे उसके पास ही जाओगे। वह जिसने तुम्हे ओर जो कुछ पृथ्वी मे हे, सबको उत्पन्न किया, फिर आकाश पर चढा और उसे सात आकाशो मे विभक्त किया। वह नि सन्देह सव वस्तुओ का ज्ञाता है।[4] पुन कहा गया है-क्या तू नही देखता हे, परमेश्वर ही ने जल उतारा, फिर उससे अनेक प्रकार के फल और पर्वतो मे श्वेत, रक्त, अति कृष्ण आदि अनेक वर्ण की उपत्यका उत्पन्न हुई। परमेश्वर नि सन्देह क्षमाशील ओर वलिष्ठ है।[5] अपरञ्च-क्या अविश्वासियो ने नही देखा, आकाश और पृथ्वी पहले ढके थे, फिर हमने उन दोनो को उघाडा और पानी से सारे प्राणियो का निर्माण किया। आकाश को सुरक्षित छत बनाया, वह उसके प्रमाण है। किन्तु वे विश्वास नही करते, जिसने रात, दिन, चन्द्र, सूर्य को बनाया, जो कि सारे आकाश मे परिक्रमा देते है। पूर्वजो मे से किसी को भी अमर नही बनाया, यदि तू (मुहम्मद) मरे तो क्या वह (नास्तिक) अमर है।

---

1 कुरान- 112 2
2 कुरान- 9 62, 22 78, 32 4
3 कुरान- 3 13,5 1,6 73,10 49,19 35
4 कुरान- 2 3,8 9
5 कुरान- 35 4

सारे प्राणी मृत्यु के स्वाद रूप है ।[1] कुरान मे ही अन्यत्र वर्णित है-वह जो ईश्वर-जिसने आकाशो का खम्भा विना उठाया। देखो उसे, फिर वह चढा 'मर्श'[2] पर, चन्द्रमा ओर सूर्य को वश मे लाया। वह जिसने पृथ्वी को विस्तृत किया ओर उसमे भार, नदी, सारे फल- दो-दो जोडे (बनाये)। रात ओर दिन को ढाकता हे। विचारवान जातियो के लिये यहाँ उपदश हे।[3]

कुरान के उपरोक्त वर्णनो से ऐसा लगता है कि इस्लाम धर्म मे उपादान आदि कारणो का कोई झगडा नही हे। सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर ने बिना उपादान कारण के ही जगत् को वना डाला। इस प्रकार हम कह सकते हे कि असत् से सद् की उत्पत्ति ही कुरान प्रतिपादित सृष्टि हे। यहूदी ओर ईसाई धर्म मे भी यही सृष्टि विषयक सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। कुरान के विचार मे, यदि दूसरे प्रकार से माना जाय तो ईश्वर सर्वशक्तिमान नही रह सकता हे। किसी को संदेह हो कि क्या जाने अभिन्न निमित्तोपादानता (वह निमित्त और वही उपादान कारण है) को स्वीकार करते हो। किन्तु इस वात को इस वाक्य ने ही स्पष्ट कर दिया है, जिसमे कहा गया है- न वह उत्पादक है, और न वह उत्पन्न हुआ है। यहाँ उपादान कारण मे जगत् उत्पन्न करने मे भगवान की उत्पादकता का निषेध है, न कि विना उपादान ही असत् से। उनका कहना हे, यदि वह स्वय उपादान कारण है तो निर्विकार नही रह सकता है, यदि उसे अन्य उपादान कारण की अपेक्षा हे तो सर्वशक्तिमान नही रहता।

जगत की सत्यता

इस्लाम धर्म के अनुसार जगत् ईश्वर द्वारा सृजित तो है ही साथ ही साथ जगत और उसकी सभी चीजे यथार्थ या सत्य है और एक निश्चित सत्ता को धारण करती है। ईश्वर ने जगत को सत्य बनाया ओर एक उद्देश्य के साथ वनाया न कि मात्र क्रीडा या मनोरजन के लिए।[4] पृथ्वी आदमी का निवास स्थान है और उसके लाभ का स्रोत है, जिसकी प्राप्ति के लिए उसे ईश्वर का कृतज्ञ होना चाहिए।[5] कुरान मे कहा गया है- और हमने तुमको जमीन मे स्थान दिया, और उसी मे तुम्हारे जिन्दगी के सामान इकट्ठे किये (लेकिन) तुम बहुत कम एहसान मानते हो।[6]

इमाम अल् गजाली के अनुसार मात्र ईश्वर ही पूर्ण सत्ता हे। परन्तु सिवाय ईश्वर के अन्य सभी चीजो की सत्ता उसकी (ईश्वर की) सत्ता के कारण है। इसका अर्थ है कि दूसरी वस्तुओ की सत्ता यथार्थ सत्ता नही है, वल्कि वे सम्भावित सत्ता है, फिर भी मिथ्या नही है। यद्यपि कि वे यथार्थ है, तथापि वे अपनी अस्तित्व के लिए ईश्वर की सत्ता पर आश्रित है।[7] मुस्लिम रहस्यवादी विचारकों ने भी जगत की सत्यता का समर्थन किया है। उनके अनुसार यद्यपि ईश्वर के सृजन की सत्ता सृजनकर्ता की शक्ति और इच्छा पर निर्भर है तो भी इसे भ्रम या माया (जैसा शकराचार्य कहते है) या मात्र एक निरपेक्ष द्रव्य का रूपान्तरण

---

1 कुरान- 21 3
2 अर्श - स्वर्ग का सिहासन जिस पर ईश्वर आसीन होता है।
3 कुरान- 13 1, 57.1
4 कुरान- 44 38
5 कुरान- 7 10
6 कुरान- 7 10
7 डॉ नबी- अल-गजाली कासेप्शन ऑफ तौहीद, पृष्ठ- 54

(जैसा स्पिनोजा द्वारा प्रस्तुत है) या ईश्वर के अनुरूप (जैसा इब्नुल अरवी कहता हे) नही हे। सृजन की मत्ता अर्थात आत्मा और व्रह्माण्ड यथार्थ है, परन्तु ईश्वर की सत्ता से भिन्न एव पृथक हे।[1]

जगत रचना का उद्देश्य

इस्लाम धर्म मे ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए मुख्य तर्क प्रकृति मे नियम तथा व्यवस्था की प्रयोजनमूलक युक्ति है, और सोद्देश्य मूलक तथ्य इस बात को सिद्ध करते हे कि व्रह्माण्ड का निर्माण योजना के माथ हुआ है। कोई भी योजना सदैव भविष्य को ध्यान मे रखकर बनायी जाती है। इस विचार से सहमत होना पडेगा कि कार्य-कारण मम्बन्ध मे यदि हम भूतकाल से वर्तमान काल की ओर आते है तो सोद्देश्य विपयक तथ्य के सिलसिले मे वर्तमान का विचार भविष्य का ध्यान मे रखते हुए करते है। चूँकि विश्व मे सर्वत्र ही योजना, व्यवस्था, दूरदर्शिता एव क्रमिकता देखने को मिलती है, अतएव इससे यह स्पप्ट होता है कि किसी चैतन्य शक्ति ने ही अपने प्रयोजन की पूर्ती के लिए इस विश्व की रचना की है। यहाॅ विश्व को प्रयोजनात्मक मामने का अर्थ यह हो सकता है कि उसकी व्यवस्था किसी विशेप लक्ष्य या प्रयोजन के लिए हुई है। अव यहॉ एक प्रश्न यह उठ्ता है कि सृष्टि के पीछे क्या उद्देश्य है? ब्रह्माण्ड के सृजन से किस उद्देश्य की पूर्ति हो रही है?

इस्लाम धर्म मे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कुरान मे कहा गया है कि- ईश्वर ने जगत को एक उद्देश्य के साथ वनाया हे, न कि किसी निरर्थक क्रीडा या मनोरजन के लिए।[2] प्रकृति नियम का शासन है न कि अस्थिर अथवा अनियन्त्रित इच्छाओ का फल। प्रकृति की तर्कसगत एकता उसके एकमात्र सृजनकर्ता की ज्ञान-शक्ति को सिद्ध करता है। प्रत्येक चीज जो ईश्वर द्वारा सृजित की गयी है, उनमे दैवी सृजन की छाप है तथा उनके विकास मे कुछ नियम निहित है जो उन्हे एक मार्ग भी दर्शाते है।[3]

कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के प्रत्येक वस्तु को वह मार्ग मालूम है, जिस पर चल कर वह अपनी पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सृजनात्मक शक्ति कोई अध शक्ति नही है, वल्कि विवेक से युक्त है और एक उद्देश्य के साथ कार्य करती है और यह उद्देश्य है सम्पूर्ण सृजन का निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर प्रगति। यहॉ तक कि सामान्य ऑखो से भी दैवी सृजन का यह सम्पूर्ण विवेक और उद्देश्य दृष्टिगोचर होता है। कुरान के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान और विवेकपूर्ण सत्ता है और उसकी शक्तिमत्ता तर्कसगत है, और वह विवेक के अनुसार कोई कार्य सम्पादित करता है। अत सम्पूर्ण प्रक्रिया ज्ञान पूर्वक नियोजित होती है।[4]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सृजन एक उद्देश्यहीन कृत्य नही है, लेकिन यह भी सत्य नही है कि ईश्वर कुछ प्राप्त करने के लिए रचना का कार्य करता है। ईश्वर पूर्ण एव अनन्त गुणो से युक्त है, उसे किसी चीज की आवश्यकता नही है अत हम कह सकते है कि ईश्वर अपनी दयालुता का विस्तार करने के लिए सृप्टि रचना करता है। ईश्वर की इच्छा किर्स

---

1 हेनरी कार्बिन- क्रियेटिव इमेजिनेशन इन दी सूफीज्म ऑफ इब्न अरबी, पृष्ठ- 122

2 कुरान 44 38, 39

3 आजाद एम० ए० के०- द तरजुमन अल कुरान, पृष्ठ- 19–26

4. कुरान 6 80, 39 21

वाह्य शक्ति पर कदापि आश्रित नही है। ईश्वर सृष्टि करने के लिए बाध्य नही है, अपितु उसके प्रेम ने उसे ऐसा करने के लिए प्रवृत्त किया है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि उसकी दयालुता की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे ईश्वर की दयालुता कार्य करती है।[1]

ईश्वर की दयालुता सृष्टि रचना की प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्य एव पूर्णता प्रदान करती है। उसकी दयालुता के अर्थ मे प्रेम, कृपा, स्नेह, परोपकारिता और उदारता का प्रत्येक रूप सम्मिलित है। प्रेम दैवी प्रकृति मे इतना महत्वपूर्ण है कि यद्यपि मनुष्य कत्तई उसका पात्र नही है, परन्तु तो भी वह अपने स्नेह को देता है और अपनी कृपा को दर्शाता है।[2] जीवन मे जो कुछ सौन्दर्य एव पूर्णता है वह मात्र दैवी रहमत की ही अभिव्यक्ति है। प्रकृति को जो सबसे बडी ईश्वरीय देन है, वह उसका सौन्दर्यमय रूप है जो दैवी रहमत का ही प्रकाशन है।[3] यह उसकी (ईश्वर) की दयालुता ही है कि मनुष्य का अखिरत मे उद्धार हो जाता है।[4]

सूफियो का कहना है कि प्रेम ब्रह्माण्ड के सृजन का कारण है। अत प्रेम सूफियो के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। यह प्रेम ही है, जिसके सहारे ईश्वर प्रत्येक क्षण ब्रह्माण्ड की रचना करता है। जिस दिन यह इश्क (प्रेम) समाप्त हो जायेगा, उसी दिन प्रलय या कयामत (न्याय का दिन) उत्पन्न हो जायेगा। सृष्टि रचना के कारण के विषय मे इब्न अरबी जैसे सूफी विद्वान का कहना है कि सृष्टि रचना का उद्‌देश्य अल्लाह की स्वय को जनवाने की इच्छा है। अपने तर्क के समर्थन मे इब्न अरबी द्वारा हदीसे कुत्सी का अग्रलिखित प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे अल्लाह फर्माते है कि मै एक गुप्त कोष था, मैने इच्छा की कि लोग मुझे जाने, इसलिए मैने सृष्टि या प्राणियो की रचना की।[5]

इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ईश्वर सौन्दर्य के गुण से युक्त है। यह उसका सारभूत गुण है। सौन्दर्य अपने आप को प्रगट किये बिना नही रह सकता है। अपने आप को प्रकट करने की यह बेचैनी नाना रूपो मे नाना प्रकार से प्रकाश मे आती है। अत उस अनन्त सौन्दर्य और अनन्त विभूति को आत्म प्रकाश करने की जब अभिलाषा उत्पन्न होती है, तब इस दृश्यमान जगत का आविर्भाव होता है। यह जगत उस सौन्दर्य को अशत प्रकट करने वाला है। इस प्रकार सूफी मत मे उस निरपेक्ष परमसत्ता को जो परम सौन्दर्य और परम कल्याण भी है, अपने आप को प्रकट करने के लिए जगत की सृष्टि करनी पडती है।

---

1 कुरान– 7 156
2 कुरान– 2 207, 11 90, 42 27, 57 9
3 कुरान– 6 12
4 हदीस सौरभ, पृष्ठ– 120
5 "कुन्तो कनजन् मखफीयन फाहब्बती अन आरिफो फखलकुतल खल्क"– हदीसे कुत्सी

मानव-उत्पत्ति

मानव रचना के विषय मे कुरान मे बार-वार उल्लेख आया हे जैसे-

(1) अल्लाह ने तुमको जमीन से बना खडा किया।[1]

(2) मनुष्य की सृष्टि का प्रारम्भ गारे से किया।[2]

(3) निश्चय ही हमने मनुष्य को मिट्टी के सत् मे वनाया।[3]

(4) और अल्लाह ने प्रत्येक जीवधारियों को पानी मे पेदा किया।[4]

(यहॉ प्रत्येक जीवधारियो मे मनुष्य भी है।)

इस प्रकार कुरान मे मानव रचना के उपयोग मे लाये गये उपादानो म जमीन, गारा, मिट्टी क सत् और पानी आदि का निर्देश किया गया है। व्यवहार मे ये नाम अलग-अलग प्रतीत होते है किन्तु विचार पूर्वक देखन पर यह स्पष्ट हो जाता हे कि एक ही उपादान के विभिन्न नाम है। कुरान मे यह वात भी आयी है कि मनुष्य के निर्माण के पूर्व उसका अस्तित्व नही था, क्योकि एक ऐसा दौर गुजर चुका है जवकि कोई काविल जिकर शे न थी।[5] मानव की सृष्टि का प्रारम्भ गारे से हुआ। सबसे पहले ईश्वर ने हजरत आदम का निर्माण अपने हाथो से किया और फिर अन्य मनुष्यो के लिए एक व्यवस्था दी, जैसा कि कुरान मे कहा भी गया है- उसने जो चीज बनाई खुब ही बनाई और आदमी की पैदाइश को गारे मे प्रारम्भ किया और फिर नाचीज निचोड (वीर्य) से उसकी सतान या वंशज चलायी।[6] उक्त सातवी आयत मे 'प्रारम्भ किया' शव्द के प्रयोग से प्रकट होता हे कि मानव को उसने वनाया, जवकि अगली आयत मे शव्द, 'वशज चलाया' प्रयुक्त हुआ है, जो यह प्रकट करता है कि एक व्यवस्था की स्थापना की गयी और यह व्यवस्था मात्र मानव जाति के लिए नही है, वल्कि ससार के समस्त जीवो के लिए है। समस्त जीवो का निर्माण उसी प्रक्रिया से हुआ, जिस प्रक्रिया से मानव जाति का निर्माण हुआ है, क्योकि कुरान मे स्पष्ट उल्लेख है कि जमीन, आसमान सूर्य, चन्द्र तथा तारागणों की रचना के बाद ईश्वर ने जीवधारियो की पानी से सृष्टि की।[7]

कुरान मे वर्णित सृष्टि तीन प्रकार की है-पेट के बल चलने वालो की एक कोटि, दो पैरो से चलने वाले दूसरी कोटि मे आते हे, तथा चौपाये तीसरी कोटि मे आते है।[8] चौपायो मे उसने ऊँट, वकरी तथा गाय, का जोडे के रूप मे निर्माण किया ईश्वर ने केवल निर्माण ही नही किया, बल्कि हर चीज के लिए रंग, रूप, शक्ति, गुण एव विशेषताये और विकास की सीम

---

1 कुरान- 11 61
2. कुरान- 6 2, 37 7
3 कुरान- 23 12
4 कुरान- 21 30
5. कुरान- 17 76
6 कुरान- 37.7–8, 16.38
7 कुरान- 21.30
8 कुरान- 24.45
9 कुरान- 6.143, 36 6

आदि का भी निर्धारण किया।[1] मानव शरीर के निर्माण की कितनी सजीव और बौद्धिक व्याख्या इस्लाम में की गयी है उसका सबसे सुन्दर उदाहरण कुरान की वह आयत है, जिसमे मानव निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है- और हमने आदमी को मिट्टी के सत् (तत्व) से बनाया। फिर उसको हमने एक ठहराव की जगह पर बूद बनाकर रक्खा।[2]

कुरान की उपरोक्त आयत मे बूँद का तात्पर्य पुरुष के वीर्य से है और सुरक्षित स्थान है माँ का गर्भ। इस्लाम मे यह वही प्रक्रिया है, जिसे हम प्रत्यक्ष मे देखते है और साथ-ही-साथ विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है। अन्तर यहाँ केवल इतना है कि यह सब कुछ ईश्वर द्वारा किया गया है, अर्थात् इसमें ईश्वर का हस्तक्षेप है। और कहना न होगा कि यह ईश्वरीय हस्तक्षेप भी इस्लाम धर्म का मौलिक आधार है जो इस धर्म की व्याख्या हेतु अति आवश्यक है। इतना ही नही गर्भ के अन्दर की प्रक्रियायो को भी इस्लाम धर्म मे अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से समझाया गया है, अर्थात् पुरुषवीर्य से शरीर निर्माण की प्रक्रिया का भी स्पष्टीकरण किया गया है। जैसा कि कुरान में कहा गया है-अल्लाह ने मनुष्य को मिट्टी से पैदा किया तथा वीर्य के द्वारा उसकी वश-परम्परा चलायी। इसके लिए मनुष्य को अल्लाह ने स्त्री और पुरुष के जोडे मे विभक्त कर दिया।[3]

इस प्रकार युग्मो के सम्मिलन में विकास प्रक्रिया समाप्त नही हो जाती है, बल्कि जैविक विकास यही से प्रारम्भ होता है। कुरान मे इस विकास की विभिन्न स्थितियो का भी चित्रण किया गया है।[4] गर्भाधान के बाद शुरुआती दिनो मे जीव जमे हुए रक्त के लोथड़े के समान होता है,[5] फिर उसे माँस की बोटी के रूप मे परिवर्तित किया जाता है, जो पहले रूपहीन एव अपूर्ण होता है। आगे चलकर यही बोटियाँ हड्डी बन जाती है तथा उनपर मास चढा दिया जाता है।[6] इस प्रकार धीरे-धीरे जीव मे मानवीय रूप तथा आकार स्पष्ट हो जाता है। जीव की यह अवस्था मा के गर्भ मे तीन अधेरियों को पार करने के बाद आती है।[7] यहाँ तीन अधेरियो से अभिप्रेत तीन परदें हैं-पेट , गर्भाशय तथा झिल्ली, जिसमे शिशु लिपटा हुआ सा होता है। इस प्रकार मानव रचना के मूल मे परस्पर एकीकरण, सगति तथा अनुकूलता का भाव विद्यमान है।

प्रत्येक धर्म मे मानव की जो व्याख्या की जाती है, उसमे चेतन एवं अचेतन दो तत्वो का उल्लेख किया जाता है। इस्लाम धर्म की ये व्याख्यायें कि मानव को पीनी से, धरती के सत् आदि से पैदा किया गया है, सिर्फ उसके अचेतन रूप की व्याख्याये है। धरती, मिट्टी और पानी चेतन नही अचेतन है, और अचेतन से चेतन की उत्पत्ति मानना वैसा ही असम्भव है जैसा कि बालू से तेल निकालना। अत. शरीर की व्याख्या मानव की अपूर्ण व्याख्या है। इस शरीर के अतिरिक्त भी कोई चीज है जो इस अचेतन शरीर को चेतना प्रदान करती है। शरीर के चैतन्य रूप की व्याख्या कुरान की अगली आयातो मे प्राप्त होता है। जिसे इस्लाम धर्म में 'रूह' कहते है।[8] रूह को आत्मा कहते है और इस 'रूह' के ही शरीर से अलग हो जाने पर मानव की मृत्यु हो

1 कुरान- 25 2
2 कुरान- 23 12
3. कुरान- 35 1
4 कुरान- 22 5
5 कुरान- 97 2
6 कुरान- 23 13
7 कुरान- 39 5
8 कुरान 17 85

जाती है, और अचेतन शरीर के ससर्ग मे आने पर मानव को जीवन प्राप्त होता है, और इस अचेतन को चेतनयुक्त बनाने के लिए भी एक व्यवस्था है, ओर वह यह हे कि जब बच्चा अपने अचेतन रूप अर्थात् लोथडे के रूप मे माँ के गर्भ मे रहता है तभी फरिश्ते आते है और ईश्वरीय इच्छा के (अनुरूप) उसे जीवन और भविष्य के लिए तकदीर प्रदान करते है, जिसके अनुरूप वह सासारिक जीवन व्यतीत करता है।

'रूह' या आत्मा जो मानव जीवन का एक अति आवश्यक तत्व हे, कुरान के अनुसार यह ईश्वरीय चेतन्यता का एक अश है, जैसा कि कुरान मे कहा गया है. ओर उसमे अपनी रूह फूँकी।[1] इस आयत मे 'रूह' फूँकने का अर्थ चेतना प्रदान करने से है। मनुष्य मे जो चेतना शक्ति पायी जाती है, वह पदार्थो के भौतिक अथवा रासायनिक मिश्रण या प्रक्रिया की देन नही है, बल्कि उसका मूल स्रोत अल्लाह की सत्ता है।

ईश्वर का जगत् से सम्बन्ध

इस्लाम धर्म के ईश्वर का इस जगत से नजदीकी का सम्बन्ध है। सम्पूर्ण चराचर जगत अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित है।[2] अल्लाह के दस्तूर मे किसी प्रकार का असम्बन्धन नही है। जगत् की सत्ता ईश्वर के अभाव मे सम्भव नही है। ईश्वर सभी कार्यो की मूलभूत सत्ता हे, वही एकमात्र स्थिर यथार्थता है, जो सभी परिवर्तनो को रचता है, और उन्हे आश्रय देता है।[3] वही आदि है, वही अन्त है, वही जाहिर ओर वही छिपा हुआ है।[4] ईश्वर जगत मे व्याप्त भी है और जगत से परे भी है। परन्तु वह जगत मे व्याप्त होते हुए भी स्वय को जगत मे विलीन नही कर देता है। वह जगत से परे होकर भी जगत से अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। ईश्वर ही जगत का स्रष्टा, रक्षक पालनकर्ता और न्याय के दिन का मालिक है।[5]

ईश्वर जगत मे व्याप्त हे इसका अर्थ यह है कि ईश्वर प्रत्येक जगह अर्थात् सर्वत्र उपस्थित है। परन्तु प्रधान रूप से ईश्वर लोकातीत है। वह अपनी शक्ति, विवेक और ज्ञान द्वारा ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है, परन्तु वह इस अर्थ मे ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण भी करता है कि ब्रह्माण्ड किसी भी एक काल मे (अपने) किसी भी रूप मे मात्र उसकी सृजनात्मक इच्छा की एक सीमित और एकांगी अभिव्यक्ति है। ब्रह्माण्ड और ईश्वर नितान्त एकरूप नही है, क्योकि रचनाकार सदैव अपनी रचित चीजो से श्रेष्ठ होता है, यद्यपि एक दृष्टि से वह अपनी कला के किसी भी टुकड़े मे व्याप्त रहता है।

कुछ विचारको ने ईश्वर की सर्वातीत स्वरूप और ईश्वर की लोकातीतता पर अत्यधिक बल दिया है। परन्तु समस्या यह है कि यदि हम ईश्वर को सम्पूर्ण रूप से विश्व मे व्याप्त मानते है तो ईश्वर और विश्व मे कोई पार्थक्य नही रह जाता और हम

---

1 कुरान- 32 9
2 कुरान- 2 255, 20.50, 30 40
3 कुरान- 2 28, 5 6, 10 56
4 कुरान- 2 115, 3 73
5 कुरान- 1 1, 2 116, 19 65, 22 78

मर्वेश्वरवाद तक पहुंच जाते है, जो इस्लाम की भावना के विपरीत है, और यदि हम ईश्वर को बिल्कुल ही लोकातीत मानते है तो सृष्टि और स्रष्टा मे कोई सम्वन्ध ही स्थापित नही हो पाता है, जिसका समर्थन दयालु, रक्षक और पालनकर्त्ता के रूप मे किया जाता है।

अत हम कह सकते है कि ईश्वर जगत मे व्याप्त भी है और लोकातीत भी है। यह मानना अधिक सगत लगता है। मुस्लिम विद्वान खलीफा अब्दुल हकीम के अनुसार ईश्वर उपस्थित तथा क्रिया की दृष्टि से विश्व मे व्याप्त है। परन्तु अपने सार या तत्व की दृष्टि से लोकातीत भी है। ईश्वर अपने विधानो द्वारा जगत का पथ-प्रदर्शन कर रहा है। प्रकृति और उसकी घटनाये ईश्वरीय नियमो से नियन्त्रित हो रही है। उसकी दयालुता ओर शक्ति जगत मे सर्वत्र विद्यमान है।[1]

मुस्लिम सूफी विचारको ने ईश्वर की व्याप्तता पर अत्यधिक बल दिया है। सूफी साधना का आधार है- 'अल्लाह' ओर सूफियो के अध्यात्म में ईश्वर का स्थान मवमे ऊपर है। लेकिन उन्होंने ईश्वर के जलाल (अलौकिक शक्ति) के स्थान पर रहीम (उदार रूप) पर अधिक वल दिया है। ईश्वर मनुष्य के हृदय मे है, वह अन्तर्यामी है, अपने हृदय को शीशे की तरह स्वच्छ रखकर उसका प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। ईश्वर अपने प्राणियो मे अन्तस्थ (व्याप्त) है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक कण भी ऐसा नही है जो उससे पृथक है। ईश्वर मनुष्य के आगे, पीछे, दाये, बाये, अर्थात् प्रत्येक जगह और उसके अत्यधिक निकट है। कुरान मे आया है कि ईश्वर मनुष्य की कण्ठस्थ शिराओ से भी अधिक उनके निकट है।[2] ईश्वर का यह गुण सर्वाधिक यथार्थ है। ईश्वर मे दूरी की सम्भावना नही है। वह सदैव और सर्वत्र अपने प्राणियो के साथ रहता है। परन्तु ईश्वर का अपना प्राणियो के साथ होना, किसी शरीर का अन्य शरीर के साथ होने या अन्य गुणो के साथ होने के समान नहीं है, बल्कि यह आत्मा का शरीर के साथ होने के समान है। वह अपने प्राणियो के साथ है, परन्तु साथ ही साथ वह उनसे पृथक भी है। अर्थात् ईश्वर अन्तर्यामी और लोकातीत या विश्वातीत दोनो है।

"अशुभ की समस्या और समाधान"

ससार के प्राय सभी धर्मो मे अशुभ की समस्या किसी न किसी रूप में अवश्य मिलती है। धर्म चाहे आदिम हो या आधुनिक उसमे अशुभ की समस्या अवश्य ही है। यह सम्भव है कि आदिम धर्मों मे अशुभ अपना विराट रूप धारण नही कर सका है।

इस्लाम धर्म जगत और उसकी सभी चीजो को यथार्थ मानता है। उसके अनुसार जगत की सभी वस्तुये एक निश्चित सत्ता को धारण करती है। इसी प्रकार के विचार जगत मे उपस्थित दुःखो के विषय मे भी है। अशुभ की समस्या को हम इस प्रकार रख सकते है- यदि ईश्वर दयालु और सर्वशक्तिमान है तब वह अपनी सृजन मे इतना दुःख और पाप क्यो होने देता है।

इस समस्या से सम्बन्धित दो विन्दु हमारे सम्मुख स्पष्ट होते है-प्रथम यह है कि जगत कोई ऐसा विपद्ग्रस्त स्थान नही है,

1 कुरान- 2 20, 42 27—28
2 कुरान- 50 16

जहॉ पर दुष्ट मानवता केन्द्र कर गयी हो। वल्कि इमके विपरीत यह मनुष्य का 'निवास स्थान' है ओर इसके लिए लाभ का स्रोत हे, जिसके लिए उसे ईश्वर का कृतज्ञ होना चाहिए।[1] दूसरा यह है कि जो कुछ पाप और दु ख हम जगत मे पाते है वह आदम के उस प्रथम पाप का परिणाम नहीं है जिसने कि मनुष्य के भूत, वर्तमान और भविष्य की समस्त पीढियो को प्रभावित या दूषित किया है। इस्लामी ग्रथ कुरान इस विपय मे स्पष्ट दृष्टिकोण रखता है। कुरान इम बात पर बल देता हे कि प्रत्येक मनुष्य केवल उन्ही वातो के लिए उत्तरदायी होगा जो उसके द्वारा स्वय किया गया है और कोई भी मनुष्य दूसरो के पापो के बोझ मे भागीदार नही होता।[2]

इस प्रकार हम कह सकते है कि मनुष्य एक यथार्थ जगत मे निवास करता है, तथा अशुभ भी उसी जगत की वस्तु है। लेकिन यहॉ पर एक समस्या यह है कि अशुभ की व्याख्या कैसे की जाय? इस्लाम मे मानव के पतन की भी चर्चा मिलती है, जिस पर मुस्लिम विचारक इकवाल ने गहन समीक्षा की है। इकवाल का कहना है कि कुरान मे स्वर्ग से आदम के पतन की जो कथा वर्णित है, वह पृथ्वी के सतह पर मनुष्य के प्रथम अवतरण को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त नही किया गया है। उनके अनुसार इसका उद्देश्य स्वाभाविक अभिलाषा की एक आदिम अवस्था से स्वतन्त्र स्व के चेतन अधिकार, अवज्ञा और सदेह शक्ति की ओर मनुष्य का उत्थान दर्शाना है। आदम द्वारा ईश्वर की प्रथम अवज्ञा शुभ और अशुभ के चुनाव मे इच्छा स्वातन्त्र्य के अधिकार के चेतन प्रत्यक्षीकरण को इगित करता है। कुरान के अनुसार स्वतन्त्र व्यक्तित्व मनुष्य के साथ ईश्वर का विश्वास है। अव इस विश्वास का उचित या अनुचित ढग से प्रयोग करना मनुष्य के ऊपर निर्भर है। शुभ-अशुभ के विपय मे कुरान की स्पष्ट धारणा है। कुरान मे कहा गया हे- "भलाई और वुराई से जॉचना यो है कि तरह-तरह के आराम और तकलीफ देकर अल्लाह इम्तहान लेता हे कि मनुप्य सुख पाकर मदहोस और जालिम तो नही हो बैठ, और उसी तरह दु:खपाते ही अल्लाह का भरोसा छोडकर वे धीरज या फिर दु ख से वचने के लिए बुरे और अधर्म के रास्ते तो नही अपना लेता।[3] अत ससार मे शुभ और अशुभ मनुष्य की जॉच करने के लिए है।

अपनी वात को कथा के माध्यम से समझाते हुए इकवाल कहते है कि- 'आदम' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण मानव जाति को सम्वोधित करने के लिए किया गया है न कि किसी साकार विशिष्ट व्यक्ति के लिए। इनके अनुसार यह बहुत कुछ सभव है कि- यह अपूर्व कथा, एक प्रतिकूल वातावरण मे उसकी दशा की असीम दुर्गति, जो मृत्यु और रोग से घिरी हुई थी, और उसके स्वय के निर्वाह मे उसके चारो ओर के अपने प्रयास मे विघ्न डालती थी, प्राथमिक मनुष्य की इच्छा का स्वयं की व्याख्या करने के लिए उत्पन्न हो जाना था।[4]

कुरान ने आदम की उक्त कहानी को दो भागो मे विभक्त कर दिया है, ऐसा इकबाल का मानना है। इसमे से प्रथम कथा

---

1 कुरान- 7 10
2. कुरान- 29 12, 34 25, 35 18, 36 34
3 कुरान- 21 35
4 डॉ० मुहम्मद इकबाद- दी रिकन्सट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थॉट इन इस्लाम, पृष्ठ- 83

का सम्वन्ध वृक्ष से है और द्वितीय का नित्यता के वृक्ष तथा अगफल न होने वाले साम्राज्य से है। वृक्ष की कथा कुरान के सातवे अध्याय (सूरा) मे और नित्यता के वृक्ष की कथा बीसवे अध्याय मे वर्णित है।

प्रथम कथा पर प्रकाश डालते हुए इकवाल ने सीक्रेट डिवाइन की लेखिका एच० पी० व्लावत्स्की के कथन को उद्घृत करते हुए कहते है कि- प्राचीन सभ्य जातियो की समझ मे वृक्ष रहस्यमय ज्ञान के विषय में एक गुप्त चिन्ह था। आदम को उस वृक्ष का फल खाने के लिए मना किया गया था, क्योकि एक स्व की तरह उसका सीमित एव इन्द्रिय जन्य ज्ञान के साधन और उसकी मानसिक बुद्धि सम्बन्धी आतरिक शक्तियॉ साधारणत. एक भिन्न प्रकार के ज्ञान के अनुरूप थी, अर्थात् उस प्रकार, का ज्ञान जो शातिपूर्वक अवलोकन के कठोर परिश्रम को विवश करता है और मात्र मद सचय के लिए आज्ञा देता है ।[1] शेतान की सलाह पर आदम ने फल को चखकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक छोटे मार्ग का अनुसरण किया।

अत· इकवाल के शब्दो मे हम कह सकते है कि 'इस प्रवृत्ति को सुधारने का सिर्फ यही मार्ग था कि उसको एक ऐसे वातारवण मे स्थान दिया जाय जो कप्ट प्रद हो, परन्तु फिर भी उसकी मानसिक बुद्धि सम्वन्धी आन्तरिक शक्तियो को प्रकाशित करने के लिए अच्छी तरह से उपयुक्त था।[2] इसी कारण से आदम को कप्टप्रद भोतिक वातावरण की ओर भेजा गया ताकि अपने ज्ञान के विस्तार होने की सम्भावनाओ द्वारा जो भ्रम और परीक्षा की पद्धति के साथ समृद्ध बनाता है। इसके साथ ही मनुष्य सतत् विकास और विस्तार के आनन्द को प्राप्त कर सके।

द्वितीय कथा के विपय मे इकवाल का कहना है कि- इस कथा का उद्देश्य स्त्री-पुरुष जाति सम्बन्धी पुनरुत्पत्ति द्वारा अमरत्व को प्राप्त करने की ओर मनुष्य की इच्छा को वर्णित करने की है। यह एक ऐसा विचार है जिसमे जीवन मृत्यु से कहता है कि- यदि तुम जीवित चीजो की एक पीढी नप्ट कर दो तो मै दूसरी उत्पन्न कर दूँगा।[3] हालॉकि बहुतायत व्यक्तियो की उत्पत्ति के कारण एक भयानक सघर्प जीवन के अस्तित्व के लिए उत्पन्न हो जाता है। इकबाल का कहना है कि विरोधी व्यक्तियो का पारस्परिक सघर्प सासारिक कष्ट है, जो जीवन के ऐहिक चरित्र को प्रकाशमय और अन्धकारमय दोनो बनाता है। इकबाल के अनुसार दु ख और अन्य बुराइया हमारे स्व के सीमित रूप का आवश्यक अग है।[4] कुरान का विश्वास है कि वास्तविक मानव-प्रकृति कष्टो और अत्यधिक दु खो के बीच धैर्य मे होना है।

कुरान के वर्णनो पर इकबाल की टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जगत मे दु ख की स्थिर सत्ता है। इसके कारण के विषय मे इकबाल का विचार है कि हम लोग मानवीय विकास के वर्तमान स्थिति मे दुःख की विद्यमानता के उद्देश्य को भली-भॉति नही समझ सकते है। फिर भी यदि कुछ कहने का साहस करे तो कह सकते है कि इसके पीछे कोई भी अर्थ सिवाय इसके नही हो सकता है कि दुखो की प्रेरणात्मक शक्ति मनुष्य को अनुशासन प्रदान करती है, ताकि उसका स्व दृढ हो

1 डॉ० मुहम्मद इकबाल-दी रिकन्सट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थॉट इन इस्लाम, पृष्ठ- 87
2 डॉ० मुहम्मद इकबाल-दी रिकन्सट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थॉट इन इस्लाम, पृष्ठ- 88
3 डॉ० मुहम्मद इकबाल-दी रिकन्सट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थॉट इन इस्लाम, पृष्ठ- 88
4 डॉ० मुहम्मद इकबाद- दी रिकन्सट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थॉट इन इस्लाम, पृष्ठ- 88

सके ओर एक सम्भावित मृत्यु के विरुद्ध सुरक्षित हो सके।[1]

उपर्युक्त समस्या के विपय मे इकवाल का निष्कर्प यह है-कि हम लोग उन महान ऐहिक शक्तियो का पूर्ण आशय नही समझ सकते है जो विनाश का कार्य करती है और साथ ही माथ जीवन का निर्वाह और विस्तार भी करती है। कुरान की शिक्षा जो मनुष्य के आचरण मे सुधार की और प्राकृतिक शक्तियो पर उसके नियत्रण की सम्भावना मे विश्वास करती है, न तो आशावादी है और न ही निराशा-वादी है। यह एक प्रकार का उन्नतिवाद है जो एक प्रगतिशील ब्रह्माण्ड की सत्यता को स्वीकार करती है और अशुभ के उपर मनुष्य के विजय का सदेश देती है।[2]

अखिरत, जन्नत, (स्वर्ग) एवं दोजख (नरक)

इस्लाम धर्म मे अखिरत का अर्थ पारलौकिक जीवन और परलोक दोनो से है। इस्लाम 'अखिरत' मे आस्था रखता है। कुरान मे बार-बार अखिरत मे आस्था रखने का प्रसग आया है।[3] इस्लाम धर्म की मूल शिक्षाओ मे से एक बात यह है कि लौकिक जगत का जीवन और आयु निश्चित है। इस सीमित अवधि के समाप्त होने के पश्चात् एक समय ऐसा आयेगा जब इस ससार की सारी व्यवस्थाए छिन्न-भिन्न हो जायेगी। सृष्टि के विनाश के बाद ईश्वर एक नये लोक का निर्माण करेगा, जिसके नियम इस लोक से भिन्न होगे। उस नये लोक मे रहम्य, रहस्य नही रह जायेगा। अप्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष बनकर बोल उठेगा तथा वास्तविकता स्वत ही प्रकट हो जाएगी। वहाँ अल्लाह सारे मनुष्यो को जो आदि से अन्त तक हुए होगे, चाहे वे किसी देश अथवा स्थान मे मरे हो, उनका धर्म-कर्म चाहे जो भी रहा हो, पुन जीवित कर एकत्र करेगा, तथा शुभा-शुभ कर्मो के सम्वन्ध मे निर्णय देगा।[4]

जिन्होने अल्लाह की आज्ञाओ का पालन करते हुए शुभ कर्म किये है, उन्हें जन्नत (स्वर्ग) तथा ईश्वर की आज्ञाओ का निपेध करते हुए अशुभ कर्म करने वाले को दोजख (नरक) मे डाल दिया जाता है।[5] इसी दिन के लिए 'कयामत' (प्रलय) तथा हश्रजजा (न्याय का दिन), अन्तिम दिन आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है।[6]

इस्लाम धर्म के अनुसार मानव की मृत्यु अनिवार्य है। प्रत्येक मनुष्य को एक न एक दिन अवश्य ही मौत के मुख मे जाना है।[7] एक निश्चित अवधि तक अर्थात् कयामत के दिन तक मृतआत्माए कब्रो मे रहती है। वहाँ उनकी इच्छा होते हुए भी वे बिना समय पूरी किये वापस नही जा सकती।[8] मृत्यु के बाद जब शव कब्र मे रखा जाता है, तब से मनुष्य का दूसरा जीवन

1 डॉ० मुहम्मद इकबाद- दी रिकन्सट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थॉट इन इस्लाम, पृष्ठ- 89
2 डॉ० मुहम्मद इकबाद- दी रिकन्सट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थॉट इन इस्लाम, पृष्ठ- 82
3 कुरान- 10 7—10, 13 5, 34 3—5
4 कुरान- 2 148, 6 36, 11 103—108, 10 4, 11 111
5. कुरान- 73 103— 104, 27 89—90
6 कुरान- 3 30, 19 68—72, 23 101
7 कुरान- 3 185, 21 35
8 कुरान- 23 100

प्रारम्भ होता है, जिसे इस्लाम धर्म में 'बरजख' कहा जाता है। मृत्यु के पश्चात् 'मुकर' और 'नकीर' दो फरिश्ते मृत व्यक्ति के कर्मो की परीक्षा करते है। शुभ कर्म करने वाले व्यक्ति को पुरस्कार स्वरूप स्वर्ग मे भेजा जाता है तथा अशुभ कर्म करने वाले व्यक्ति को दण्ड रूप मे नरक भेजा जाता है। दोनो स्थानो मे जाने वाले जीवो को एक पुल से गुजरना होगा, जिसे 'अलशिरत' कहते है।

कयामत के पश्चात् नया जीवन प्रारम्भ होता है। मात्र हड्डी के जिसे 'अलअब्ज' कहते है, के अलावा शरीर का कुछ भी शेष नही बचता है। कयामत के दिन यही 'अलअब्ज' नवीन जीवन प्रारम्भ करता है। इस्लाम धर्म मे इस बात का उल्लेख है कि मरने के दिन से लेकर कयामत के दिन तक काफिरो (अवज्ञाकारियो) को सुबह शाम दोजख (नरक) दिखलाया जाता है।[1] अत स्पष्ट है कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य बिल्कुल विलुप्त नही हो जाता है, केवल उसका वर्तमान शरीर ही नष्ट होता है। उसका व्यक्तित्व मृत्यु के बाद भी शेष रहता है। सुख और दु ख की अनुभूति भी उसे पूर्वकाल की भॉति होती रहती है। कुरान के अनुसार कयामत अवश्यभावी है।

अब यहॉ एक प्रश्न उठता है कि कयामत कब आयेगी? इस प्रश्न के उत्तर मे इस्लाम धर्म मे यह कहा गया है कि कयामत अचानक आयेगी, इसका किसी को पूर्वाभास तक नही होगा।[2] ईश्वर को इस बात का ज्ञान है कि कयामत कब आयेगी। मानवीय बुद्धि से परे की यह अवस्था है।

कुरान मे कयामत के स्वरूप को बतलाते हुए यह कहा गया है कि इस लोक की निश्चित अवधि के पश्चात् एक समय ऐसा आयेगा जब इस सृष्टि की सारी व्यवस्थाए छिन्न-भिन्न हो जायेगी। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि एक दूसरे से टकराकर नष्ट हो जाएगे, आसमान फट जाएगा।[3] तत्पश्चात् पुन नये लोक का निर्माण होगा और मनुष्य के शुभाशुभ कर्मो का फैसला उसके कर्मो के आधार पर होगी।[4] सत्यव्रती, सत्कर्मी एव सदाचारी को (जन्नत) तथा विपरीत आचरण के लोगो को दोजख (नरक) मे स्थान मिलेगा।[5] कर्म के अनुसार मनुष्यो की तीन श्रेणियॉ विभक्त होती है। प्रथम श्रेणी मे वे मनुष्य आते है, जो सदैव अग्रसर रहने वाले है। ईश्वर के यहॉ उनके लिए सबसे ऊँचा स्थान सुरक्षित होता है। मध्यम श्रेणी के व्यक्तियो के लिए द्वितीय श्रेणी निश्चित है। इनके लिए दाहिनी और जगह निश्चित है। तीसरे प्रकार के लोगो को निकृष्टतम् कहा गया है। इनके लिए बायी तरफ जगह होती है। ऐसे व्यक्तियो के लिए दोजख की आग निश्चित है।

इस्लाम धर्म में जन्नत का वर्णन बडे मोहक रूप मे किया गया है। जो सुख तथा आनन्द से भरा पडा हुआ है।[6] यहॉ अगूर के बाग, नहर, शुद्ध शहद तथा मेवे इत्यादि का प्राचुर्य है। यहॉ परम् रूपवती स्त्रियॉ रहती है। सेवा के लिए (गिल्मा) सुन्दर

---

1 कुरान- 40 46—48
2 कुरान- 43 66—68
3 कुरान- 81 1—3, 82 1—4, 84 3—4
4 कुरान- 39 68, 89 21
5 कुरान- 84 7—11
6 कुरान- 2.25, 7 43, 44 51—55, 47 15

लडके है। इस्लाम धर्म मे जन्नत के वैभवपूर्ण वर्णन के साथ-साथ दोजख का भी भयावह चित्र उभारा गया है।[1] इन चित्रों को देखकर मनुष्यो की ऑखे खुल जाती है। जहन्नम (नरक) का चित्र प्रस्तुत करते हुए वतलाया गया है कि दोजख का अजाव वडा कष्टदायी है। यह आग का ऐसा दरिया है जिसका न आदि है न अन्त है। अव तक जितने अधर्मी हुए है, तथा जितने भी हाग, उन सभी के लिए यह स्थान पर्याप्त है। इस अजाव से बचने का कोई मार्ग नही है। हदीसो मे भी दोजख का भयावह वर्णन मिलता है।[2] अत स्पप्ट हे कि इस्लाम परलोक मे विश्वास करता है। इस्लाम के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य ही है कि परलोक को सुधारा जाय। लोक की अपेक्षा परलोक पर अधिक ध्यान दिया जाय। पारलौकिक जीवन को सफल बनाने के लिए सत्कर्मो पर बल दिया जाना अनिवार्य है।

क़ुरान मे वर्णित अखिरत, जन्नत एव (दोजख) के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य इस पृथ्वी पर मात्र एक बार जन्म लेता है। ईसाई एव यहूदी की भॉति इस्लाम धर्म भी पुनर्जन्म मे विश्वास नही करता है। पशु, कीट, पतग, मानव एवं सभी जीव प्रथम ही प्रथम शरीर मे प्रविष्ट हुए है, तथा यही उनका अन्तिम शरीर है। इसके वाद उनको पुन शरीर धारण नही करना पडता है, क्योकि इस्लाम धर्म मे प्रारव्ध कर्म को नहीं माना गया है, जिसको भोगने के लिए पुनर्जन्म लना पडता है। कयामत अथवा पुनरुत्थान के दिन प्रत्येक जीव अपने पुराने शरीर के साथ जी उठेगा।[3] उसी दिन उसके शुभाशुभ कर्मो का पारितोपिक या दण्ड सुनाया जाएगा।[4]

---

1 कुरान- 7 42, 10 4, 13 5, 15 44
2 हदीस सौरभ, पृष्ठ- 291
3 कुरान- 2 148, 7 29, 11 103–108
4 कुरान- 3 30, 7 7–9, 18 49, 50 23

षष्टम अध्याय

ईश्वर – साक्षात्कार

प्रथम भाग- हिन्दू धर्म के संदर्भ में

पुनर्जन्म एवं आवागमन चक्र

पुनर्जन्म का अर्थ है- बार-बार जन्म धारण करना। हिन्दू धर्म मे पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा की अमरता पर अवलम्बित है। पुनर्जन्म की धारणा मे कर्म का नियम भी स्थान रखता है। हिन्दू धर्म यह मानता है कि मृत्यु के समय शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु जीवात्मा का नाश नही होता है। आत्मा अजर-अमर अविनाशी है। आत्मा नित्य है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है। यह सर्वदा एक समान रहने वाला तत्व है, जबकि शरीर नश्वर है, क्षणभगुर है, विनाशशील है, अनित्य है। जीवात्मा अपने कर्मो के अनुसार बार-बार जन्म धारण करती है। गीता मे आत्मा की अमरता के विषय मे कहा गया है- "यह आत्मा किसी काल मे न जन्मता है और न तो मरता है अथवा यह आत्मा होकर के फिर न होने वाला है, क्योकि यह अजन्मा है, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर इसका नाश नही होता।[1] आत्मा की अमरता के सिद्धान्त के आधार पर ही गीता मे पुनर्जन्म की व्याख्या की गयी है-जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्याग करके, दूसरे नये वस्त्रो को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग करके दूसरे नये शरीर को प्राप्त करती है।"[2] पुन गीता मे ही कहा गया है- जैसे जीवात्मा की इस देह मे कुमार, युवा ओर वृद्धावस्था होती है, वेसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है।"[3]

पुनर्जन्म एकबार नही अपितु अनेको बार होता है। जीवात्मा कर्मो के अनुसार बार-बार जन्म और मृत्यु के चक्कर मे पडा रहता है। यही आवागमन का चक्र है। जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। जब तक जीवात्मा इस लक्ष्य को प्राप्त नही कर लेता है तब तक उसे अनेको बार अनेक योनियो से गुजरना पड़ता है। कर्मो का भोग प्राप्त करने के लिए जीव को जन्म लेना ही पडता है। उपनिषदो मे परलोकवाद और पुनर्जन्म की धारणा का नैतिक आधार प्रस्तुत किया गया है। कर्मो के अनुसार ही मनुष्य को जीवन मिलता है। यह नैतिक आधार ही पुनर्जन्म की पृष्ठभूमि है। छांदोग्योपनिषद मे बतलाया गया है कि जिनका आचरण रमणीय रहा है, उन्हे ब्राह्मण क्षत्रीय और वैश्य की रमणीय योनि मिलती है। जिनका आचरण दूषित रहा है उन्हे श्वान, सूकर अथवा चण्डाल की निकष्ट योनि मिलती है।[4] कोषितिकी उपनिषद मे कर्मानुसार कीट, पतग, मछली, पक्षी, बाघ, सॉप, मनुष्य आदि इनमे से किसी योनि मे जन्म लेने का उल्लेख किया गया है।[5] पुनर्जन्म की यह धारणा जैन, बौद्ध एवं सिक्ख धर्म मे भी मिलती है।

---

1 गीता- 2/20

2 गीता- 2/22

3 गीता- 2/14

4 छादोग्योपनिषद- 5,10, 17

5 कौषितिकीय उपनिषद- 1/2, प्रो० आर० डी० रानाडे-उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण-पृष्ठ - 116

पुरुषार्थ-मानव जीवन का लक्ष्य

पुरुषार्थ शब्द की उत्पत्ति पुरुष ओर 'अर्थ' इन दो शब्दो के योग से हुआ है। 'पुरुष' शब्द का अर्थ है विचारवान और विवेकशील प्राणी तथा अर्थ का तात्पर्य है - 'लक्ष्य'। अत पुरुषार्थ शब्द का तात्पर्य है- विवेकशील प्राणी का लक्ष्य हिन्दू धर्म के अनुसार पुरुषार्थ का अर्थ है-सासारिक और पारलौकिक लक्ष्य और कर्तव्य, जिसमे नैतिक, आर्थिक, मनोशारीरिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो का भी समन्वय किया गया हे। पुरुषार्थ के अन्तर्गत मनुष्य भौतिक सुखो का उपभोग करते हुए धर्म का भी समान रूप मे आचरण करके मोक्ष का अधिकारी होता है। हिन्दू धर्म शास्त्रियो ने चार प्रकार के पुरुषार्थो का विवेचन किया हे-धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष।

धर्म

'धर्म' शब्द बडा व्यापक है। यह सस्कृत भाषा के 'धृ' धातु के निकला है-जिसका अर्थ होता हे- 'धारण करना।' धर्म प्रजा को धारण करता हे।[1] धर्म मनुष्यो को कर्तव्यो मत्कर्मों एव गुणो की ओर ले जाता हे। यह व्यक्ति की अनेक रुचियो, इच्छाओ, आकाक्षाओ, आवश्यकताओ आदि के बीच एक सतुलन बनाये रखता हे। आचार मे धर्म को फलीभूत होने वाला कहा गया है तथा आचार एव मदाचार को धर्म का लक्षण कहा गया है।[2] मनु के अनुसार वेद और स्मृतियो मे विवृत है कि आचार ही श्रेष्ठ धर्म हे। महाभारत के अनुमार धर्म वही है, जो किमी को कष्ट नही देता, अपितु लोक कल्याण करता हे। मनु के अनुसार धर्म के चार आधार हे- श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र) मदाचार तथा आत्मतुष्टि।[3]

धर्म की कुछ क्रियाये दृष्ट होती हैं, किन्तु उसकी प्रतिक्रियाये अदृष्ट होती है- इसी कारण धर्म दृष्टादृष्ट पुरुषार्थ माना गया है। केवल धर्म का ही आश्रय ग्रहण करके व्यक्ति इस ससार मे तथा परलोक मे शांति प्राप्त कर सकता है।[4]

मनु ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हे-धृति (धैर्य) क्षमा, दम, अस्तेय, शौच इन्द्रिय निग्रह धी, विद्या सत्य और अक्रोध। धर्म के इन्ही लक्षणो का पालन करने से मनुष्य लोक तथा परलोक मे कल्याण की प्राप्ति करता है। हिन्दू धर्म के अनुसार मानव जीवन मे सुख शाति की प्राप्ति धर्म के द्वारा ही सम्भव है। अन्य तीन पुरुषार्थ-अर्थ काम एव मोक्ष का आधार धर्म ही है।

अर्थ

मानव जीवन मे अर्थ का अत्यत महत्वपूर्ण स्थान है। अर्थ को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिससे सभी प्रयोजनो की सिद्धि होती है, वही अर्थ है।[5] इसका समर्थन प्रसिद्ध विचारक चाणक्य ने इस प्रकार किया है- अर्थ जीवन का प्रमुख प्रवर्तक है।[6] अर्थ के द्वारा ही जीवन की गाडी चलती है। जन्म ग्रहण करने से लेकर मृत्योपरान्त तक मनुष्य को अर्थ की आवश्यकता

---

1 धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो, धारयते प्रजा ।
यतस्याद्धारम सयुक्त स धर्म इतिनिश्चय'।।" महाभारत, कर्णपर्व-109 / 58

2 'आचार फलते धर्म.' - महाभारत, उद्देश्य पर्व-61 / 510

3 मनुस्मृति - 216,121

4 यतोऽभ्युदयाति श्रेयससिद्धि. स धर्म'- वेशेषिक सूत्र, कणाद

5 यत सर्वप्रयोजन सिद्धि स अर्थ - पुरुषार्थ चतुष्टय, पृष्ठ - 222

6 अर्थार्थ प्रवर्तते लोक - चाणक्यसूत्र- 7 / 28

पडती रहती है। वात्स्यायन ने अर्थ को पारिभाषित करते हुए कहा है- विद्या, भूति, सोना, चॉदी, पशु, धन, धान्य आदि सभी अर्थ है।[1] कृषि वाणिज्य, गोरक्षा तथा विविध प्रकार के शिल्पो को अर्थ के विभिन्न साधनो के रूप मे महाभारत में वर्णित किया गया हे। अर्थोपार्जन धर्मपूर्वक होना चाहिए। इसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए चाणक्य ने कहा है- निर्धन व्यक्ति का जीवन निश्चय ही मृत्यु के तुल्य है।[2] आज के भौतिक वादी युग मे तो अर्थ का अत्यधिक महत्त्व बढ गया हे। जिसके पास धन हे, वही कुलीन पण्डित, यशस्वी, गुणी, दर्शनीय, एव वक्ता माना जाता हे, क्योकि सभी गुण धन मे आश्रित है।[3]

अर्थ का किस प्रकार व्यय करना चाहिए, इस पर भी हमारे यहॉ के विचारको ने प्रकाश डाला हे। उनका कहना हे कि अर्थ का एक अश धर्म के लिए दूसरा अशयज्ञ के लिए, तीसरा अशधन की वृद्धि के लिए, चौथा अश भोजन के लिए तथा पाचवा अश स्वजनो के लिए व्यय होना चाहिए।

काम

काम शब्द से कला सम्बन्धी भाव, विलास, ऐश्वर्य तथा कामनाओ का बोध होता है। काम जीवन का प्रमुख अग है, किन्तु इसका अतिरेक भयकर दुर्गुण है। काम के वशीभूत होकर धर्म नहीं छोडना चाहिए।[4]

काम शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे किया जाता है-सकुचित अर्थ मे तथा विस्तृत अर्थ मे। सकुचित अर्थ मे इन्द्रिय सुख या यौन प्रवृत्तियो का सतुष्टि मात्र काम हे। व्यापक अर्थ मे मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियो, इच्छाओ, भावनाओ एव कामनाओ की पूर्ति को काम कहते है। काम सदैव नियन्त्रित होना चाहिए। गीता मे अनियत्रित काम की निदा करते हुए कहा गया हे- अनियन्त्रित काम नरक का द्वार हे। इसके सम्वन्ध मे भगवान श्री कृष्ण कहते है- काम क्रोध तथा लोभ ये तीन नरक के द्वार हे तथा आत्मा का नाश करने वाले है। इसलिए इन तीनो को त्याग देना चाहिए।[5] अनियन्त्रित काम मनुष्य का शत्रु है। यह कभी तृप्त नही होता हे। भगवान श्री कृष्ण कहते हे-रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह अग्नि के सदृश भोगो से न तृप्त होने वाला बडा पापी हे। यही मनुष्य का शत्रु हे।[6] सयमपूर्ण भोगो के सेवन से ही मानव जीवन मे सतुलन आता हे। अनियन्त्रित काम धर्मविरुद्ध तथा नियन्त्रित काम धर्म सम्मत है। इस सदर्भ मे योगेश्वर श्री कृष्ण कहते है-सब भूतो मे धर्म के अनुकूल मै काम हूँ।[7]

मानव जीवन की सार्थकता सयमपूर्वक विषय सेवन से हे। मनुष्य न तो इन्द्रियो को उपवासित रखकर सुखी हो सकता है

---

1 "विद्याभूमि- हिरण्य पशु-धन-धान्य भाण्डोपस्कर।
मित्रादिनाम अर्जनम् अर्जितस्य च विवर्धनम् अर्थ ।।"- कामसूत्र अध्याय-1

२ दारिद्रय खलु पुरुषस्य मरणम्- चाणक्य सूत्र - 4/58

3 यस्यास्ति वित्त स नर कुलीन। स पण्डित स श्रुतवान गुणज्ञ ।।
स एव वक्ता स च दर्शनीय। सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ते।।

4 महाभारत, स्वर्गारोहण- 5/63

5 गीता- 16/21

6 गीता- 3/37

7 गीता - 7/11

तथा न तो अनियन्त्रित रूप से उनको विषयोपभोग के लिए स्वतन्त्र छोडकर ही। भोग के साथ सयम रखने से मनुष्य सुखी हो सकता है। हिन्दू धर्म मे यौन सुख को कभी अनेतिक नहीं माना गया है। हिन्दुओ के महान देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा रामकृष्ण जैसे अवतार ने भी दाम्पत्य जीवन व्यतीत किया है।

मोक्ष

मोक्ष अतिम पुरुषार्थ है। मनु के अनुसार तीनो ऋणो-देवऋण, ऋषि, एव पितृऋण को पूरा करके ही मन को मोक्ष मे लगाना चाहिए। इन ऋणो का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला नरकगामी होता है।[1] मनु के ही अनुसार मोक्ष प्राप्ति मे सलग्न व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह वेदो का ज्ञान प्राप्त करे, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करे, यज्ञो का अनुष्ठान करे और तब मोक्ष का निवेदन करे।[2] विष्णुपुराण के अनुसार मोक्षार्थी व्यक्ति को शत्रु-मित्र से समभाव रखते हुए, किसी भी जीव के प्रति द्रोह नही करना चाहिए और लोभ, मोह, क्रोध ओर काम को पूर्णतया त्याग देना चाहिए।[3] मोक्ष जीव का इस नाशवान भौतिक जगत से नित्य ब्रह्म की ओर वापस लौटना है।[4]

उपरोक्त उल्लिखित चारो पुरुषार्थो का विवेचन हिन्दू मनीषियो ने लौकिक एव पारलौकिक जीवन को सुखी बनाने के उद्देश्य से किया है। चारो पुरुषार्थो मे प्रथम तीन धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग के अन्तर्गत आते है। मोक्ष से धर्म का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। धर्मशास्त्रो मे कहा गया है कि धर्म अर्थ ओर काम का सेवन करता हुआ व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है। धर्म-दुर्ग-अर्थ-काम का सेवन करने की आज्ञा कामसूत्र मे दी गयी है।[5] इसीप्रकार अर्थ तथा काम का सेवन मोक्ष की ओर ले जायेगा, जो धर्मानुकूल होगा। कोटिल्य के अर्थ शास्त्र मे कहा गया है कि व्यक्ति इस ससार मे रहकर सारे ऐश्वर्य प्राप्त करे, उपभोग करे, धन सचय करे किन्तु सब धर्मानुकूल हो। उनके मूल मे धर्म का अनुष्ठान हो।[6] वात्स्यायन ने काम के लिए भी कहा है- वही प्रवृत्ति काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत् आ सकती है जो धर्मानुकूल हो।[7] कौटिल्य ने भी धर्म अर्थ के अनुसार काम का सेवन बतलाया है।[8]

इस प्रकार भारतीय मनीषियो ने प्रथम धर्म और चतुर्थ मोक्ष के मध्य काम और अर्थ को स्थान दे यह उद्घोषित कर दिया है कि धर्माचरण के साथ, जीवन के साधन प्राप्त करते हुए और काम अर्थात् शुभ इच्छापूर्ति द्वारा ही मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है। काम पुरुषार्थ पति-पत्नी के बीच प्रगाढ सम्बन्ध की स्थापना करता है। मनु के अनुसार काम के बिना कोई क्रिया नही हो सकती है।[9] मनुष्य जो कुछ भी करता है वह काम प्रेरित ही है। अर्थ या धन की कामना मानवीय प्रकृति से मूलत सम्बन्धित है। यह जागतिक जीवन की आवश्यकताओ को सतुष्ट करता है। काम मनुष्य को क्रियाशील करता है। अर्थऔर

---

1 मनुस्मृति- 6/35
2 मनु स्मृति - 6/36
3 विष्णु पुराण- 3/9/26—30
4 डॉ० पी० एन० श्री निवासचारी- दी फिलॉस्फी ऑफ विशिष्टाद्वेत, पृष्ठ - 463
5 धर्मानुकूलौ अर्थकामौ सेवेत- वात्सायन-कामसूत्र
6 कौटिल्य-अर्थशास्त्र-1/7/11
7 वात्सायन- कामसूत्र
8. कोटिल्य- अर्थशास्त्र- 1/7/6
9 मनुस्मृति - 2/5

काम राजसगुण द्वारा प्रभावित होते है। मनु का कहना है कि त्रिवर्ग उपेय है, परन्तु अर्थ और काम को धर्म का विरोधी नहीं होना चाहिए।[1] धर्म अर्थ काम का सम्बन्ध इस भौतिक जगत से है। मनुष्य मुक्ति तभी प्राप्त कर सकता है। जब वह अपना सम्बन्ध देश और काल के जगत से तोड लेता है।[2] जीव जब समस्त अनित्यताओ और सीमाओ से परे होकर नित्य मे प्रवेश करता है तब वह मुक्त हो जाता है।[3] मोक्ष द्वारा ही जीव को पूर्ण सतोष प्राप्त होता है। मोक्ष जीवन का अतिम लक्ष्य है, जो ब्रह्म के आनन्द के उपभोग मे ही मिलता है।

मोक्ष का स्वरूप

ईसाई धर्म मे जिसे 'पाप मुक्ति' कहा जाता है, उसे ही हिन्दू धर्म मे 'मोक्ष' कहा जाता है। मोक्ष अध्यात्म जगत के साधको का अंतिम ध्येय है। मोक्ष की प्राप्ति के अनन्तर दु:ख दर्द की कहानी हमेशा के लिए शांत हो जाती है और आवागमन के चक्र से छुटकारा मिल जाता है। सुख दु ख से ऊपर उठकर ईश्वरीय आनन्द मे निवास करना ही मोक्ष है। अज्ञान की अधेरी कोठरी को तोडकर अनन्त ज्ञान प्रकाश के प्रासाद मे प्रवेश करना और नित्य प्रति अपने शाश्वत, अजर, अमर, नित्य मुक्त वास्तविक स्वरूप का अनुभव करना ही मोक्ष है। मोक्ष ही शाश्वत आनन्द प्राप्त करने का साधन है।

मोक्ष शान्तिस्वरूप है। जीवन की यह अवस्था पूर्णत सतुष्टि की अवस्था है। जीवन की अल्प आवश्यकताओ की पूर्ति से भी सतुष्टि मिलती है किन्तु वे इच्छाए सामयिक है। अत तज्जन्य सतुष्टि भी तात्कालिक होती है। एक इच्छा की पूर्ति के अन्तर इसकी इच्छा की उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु मोक्ष परम साध्य है। इसके आगे कुछ नही है। अत यह पूर्ण विराग और पूर्ण सतोष की अवस्था है। इस अवस्था पर पहुँचने पर समस्त इषणाओ का अत हो जाता है। फलस्वरूप मानव का जीवन आदर्श बन जाता है। मोक्ष की अवधारणा मानसिक कल्पना की उडान नही है, अपितु एक विध्यात्मक सम्प्रत्यय है जिसे चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक भी स्वीकार करते है। मतभेद केवल इस बात पर है कि कुछ हिन्दू धर्म दार्शनिक इसे मात्र दु:ख निवृत्ति की अवस्था मानते है। जबकि अन्य इसे पूर्णानन्द की अवस्था मानते है, जो पूर्ण दु:ख निरोध के बाद ही आती है।[4]

हिन्दू धर्म दर्शन मे मोक्ष की अवस्था चाहे दुख का अभाव हो अथवा आनन्दातिरेक की अवस्था, किन्तु यह निश्चित ही निराशावादी भाग्य नही है-इस बात की पुष्टि उन दर्शनो के अवलोकन से हो जाती है। मोक्ष को परम आनन्द की अवस्था मानते है। तैतरीय उप मे आत्मा और परमात्मा के मिलन का वर्णन आनन्दातिरेक के रूप मे किया गया है।[5]

हिन्दू धर्म दर्शन मे मोक्ष के स्वरूप के विषय मे भिन्न भिन्न दर्शनो की भिन्न-२ मान्यताये है :-

---

1 मनु स्मृति- 4 / 147

2 गीता भाष्य- 6 / 5

3 डॉ० पी० एन० श्री निवासचारी- दी फिलॉस्फी ऑफ विशिष्टाद्वैत, पृष्ठ- 464

4 द इण्डियन कान्सेप्सन ऑव वैल्यूज, पृष्ठ- 261

5 तैतरीय उपनिषद- 3 / 10

उपनिषदो के अनुसार आत्मा- परमात्मा के ऐक्यभाव का अनुभव ही मोक्ष हे। यह ज्ञान से ही साध्य हे।[1] मोक्ष आवागमन का अत है, इसी को अमृतत्व या अमरत्व की प्राप्ति कहते है। अमरत्व की दो व्याख्याये उपनिषदो मे मिलती हे- तादात्म्य और सामीप्य तादात्म्य के अनुसार ब्रह्मात्मैकत्वभाव ही मोक्ष है। दूसरे के अनुसार परमात्मा सामीप्य ही मोक्ष है। शकराचार्य आदि अद्वैतवादी मोक्ष को ब्रह्म तादात्मय ही मानते हे। जिस प्रकार नदियॉ अपनी सत्ता समुद्र मे खो देती हैं, उसी प्रकार जीव भी नामरूप से विहीन हो ब्रह्म से तद्रुप हो जाता है। कठो० मे कहा गया है कि जगत मे विभेद देखने वाला मृत्यु को प्राप्त होता हे। अभेद दृष्टि से ही अमरत्व की प्राप्ति होती है।[2] एक स्थल पर कहा गया है कि आत्मा हस के समान, ब्रह्मचक्र मे भ्रमण करता है, क्योकि वह अपने को और ब्रह्म चक्र मे संचालक को भिन्न समझता है। परन्तु ब्रह्म से तद्रूप होने पर अमरत्व प्राप्त करता है।

उपनिपदो मे ही कई स्थलो पर परमात्मा के सामीप्य को मोक्ष माना गया है। अमरत्व देवलोक की प्राप्ति हे, जिसमे भक्त भगवान के साथ सुखभोग करता है। रामानुज जेसे दार्शनिक इसी मोक्ष को स्वीकार करते है। उपनिपदो के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान है। आत्मतत्व को जानकर ही मृत्यु तत्व का अतिक्रमण करते हे। इसके अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई साधन नही है।[3] उपनिपदो मे मोक्ष को भावात्मक आनन्द की अवस्था माना गया है। रसो वै स. कहकर उसका वर्णन किया जाता है।[4]

न्यायदर्शन के अनुसार प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति चाहे वह अच्छी हो या बुरी, हमे ससार रूपी श्रृखला मे जकडती हे ओर उसीके फलस्वरूप हमे उच्च या नीच जन्म प्राप्त होता हे। यह प्रवृत्ति राग, द्वेष और मोह आदि दोपो के कारण हे। राग के अन्तर्गत वासना, लालच, तृष्णा लालसा आदि का समावेश है। मोहक के अन्तर्गत मिथ्याबोध, सशय, दर्प, एव प्रमाद है। इनमे मोह सबसे बुरा हे। इसी के कारण रागद्वेप उत्पन्न होते है।[5]

इन्ही दोषो के कारण हम भूल जाते हे कि आत्मा के लिए कुछ भी उपादेय या हेय नहीं है। इन दोषों का कारण है मिथ्या ज्ञान। जब मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है, तव सभी दोप दूर हो जाते है। इन सबके दूर हो जाने पर प्रवृत्ति का कोई आधार नही रहता और इसलिए जन्म की सभावना भी समाप्त हो जाती है। जन्म के अभाव का तात्पर्य ही दुःख की समाप्ति है और इसी का नाम परमानन्द अर्थात् मोक्ष हे।[6] मोक्ष की अवस्था मे आत्मा के सभी गुणो का विलोप हो जाता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जव तक इच्छा और द्वेष हमारे उपर हावी रहते है तव तक हम धर्म और अधर्म अथवा अदृप्ट

1 श्वेताश्वेतर उपनिषद- 6/15
2 कठोपनिपद- 11/4/11
3 श्वेताश्वेतर उपनिपद- 3/8
4 तैतरीय उपनिपद- 2/7
5 न्याय सूत्र- 4/1/3/9
डा० राधाकृष्णन-भारतीय दर्शन (भाग-1), पृष्ठ- 61
6. न्यायभाष्य 3/2/67, 4/1/6, 4/2/1, डॉ राधा कृष्णन- भारतीय दर्शन (भाग-2), पृष्ठ- 162

का सग्रह करते रहते है, और कर्मो के फल हमे वलात् देह धारण कराते है।[1] अदृष्ट के साथ सयोग और उसका कार्यरूप देह ही ससार हे, और उससे पृथक हो जाना ही मोक्ष है।[2]

साख्य दर्शन मे मोक्ष केवल प्रतीति मात्र है, क्योकि बन्धन का सम्बन्ध पुरुष के साथ हे ही नही। वन्धन तथा मुक्ति पुरुष तथा प्रकृति के सयोग तथा वियोग का नाम है अभेद तथा भेद का परिणाम हे।[3] प्रकृति पुरुष को बन्धन मे नही डालती हे, किन्तु नानाविध रूपो मे स्वय अपने को वधन मे डालती है।[4] पुरुष तो पाप और पुण्य दोनो विरोधो से सर्वथा स्वतन्त्र है।[5] इस प्रकार जहॉ बन्धन प्रकृति की ऐसे व्यक्ति के प्रति क्रिया है जो प्रकृति और पुरुष का भेदभाव नही रखता, वहॉ मुक्ति प्रकृति की ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्क्रियता हे जो भेदज्ञान रखता है।[6] सूक्ष्म शरीर के साथ पुरुष का सयोग ही ससार का कारण है। पुरुष प्रकृति के भेदज्ञान द्वारा इस संयोग का उच्छेद करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जब प्रकृति अपने को पुरुष से पृथक कर लेती हे तो पुरुष अनुभव करता है कि प्रकृति के प्रयत्नो को अपना मानना मूर्खता थी। वह अपने सहज-स्वरूप-पृथक आस्तित्व का बोध सदा के लिए प्राप्त कर लेता है और प्रकृति फिर से निष्क्रिय हो जाती है। जब प्रकृति कार्य करना बद कर देती है, तब बुद्धि के परिवर्तन भी बद हो जाते है और पुरुष अपने स्वाभाविक रूप मे आ जाता है।[7] मुक्त हो जाने पर पर पुरुष के साथ कोई नही रहता। वह अपने अतिरिक्त किसी को नही देखता तथा किसी प्रकार के विजातीय विचारो को भी प्रश्रय नही देता।[8] यथार्थ मे बद्ध और मुक्त के अन्दर कोई भेद नही, क्योकि मुक्ति का अर्थ हे उन बाधाओ का दूर हो जाना जो पुरुष के पूर्ण वेभव के अभिव्यक्त होने मे अडचन डालती है। मोक्ष प्राप्तकर लेने पर पुरुष अविचलित और आत्मसयमी रूप मे एक दर्शक की भाति उस प्रकृति के विषय मे चिनन करता है, जिसने अपना कार्य करना बन्द कर दिया है।[9] साख्य के मुक्ति सम्बन्धी आदर्श को वौद्धो के शून्यता परक आदर्श आत्मा के लोप[10] अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म मे विलीन होने के भाव[11] और योग दर्शन की अलौकिक सिद्धियो[12] के साथ न मिलना देना चाहिए और न ही यह समझना चाहिए कि मुक्ति आनन्द की अभिव्यक्ति है। पुरुष सर्वगुणातीत हे।[13] उसमे आनन्द के अस्तित्व का प्रश्न ही नही उठता।

योगदर्शन मे मोक्ष परम स्वातन्त्रय की अवस्था है यह पुरुष का नित्य जीवन है, जो प्रकृति के बन्धनो से मुक्त होने पर

---

1 डॉ राधा कृष्णन- भारतीय दर्शन (भाग-2), पृष्ठ- 232
2 न्यायकन्दली- 5/2/18
3 साख्यप्रवचन सूत्र- 3/75
4 साख्यकारिका- 62
5. साख्यकारिका- 3/64, योग सूत्र- 2/22
6 सांख्यकारिका- 61
7 साख्य प्रवचन सूत्र- 3/72
8 हरिभद्र- षडदर्शन समुच्चय, पृष्ठ- 41
9 साख्याकारिका- 65
10 साख्यप्रवचन सूत्र- 5/77—79
11 वही, 5/81
12 वही, 5/82
13 वही, 5/74

मिलती है। यह गुणो को पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाना है, क्योकि उस समय आत्मा का कोई प्रयोजन नही रह जाता और बुद्धि की शक्ति अपने आप मे स्थिर हो जाती है।[1] इस अवस्था मे पुरुष अपने यथार्थ रूप मे रहता है। जब तक अविद्या का अस्तित्व है। मनुष्य अपने बोझ-शरीर चित्त और उसके सासारिक सुखोपभोग को उतारकर नही फेक सकता हे।[2] विवेकज्ञान द्वारा अविद्या का विनाश हो जाने पर मनुष्य के सभी प्रकार के मिथ्या विचार विलुप्त हो जाते है, गुण भी अवकाश प्राप्त कर लेते हे और चित्त की अवस्थाओ से अलिप्त हो आत्मा परम पवित्र होकर अपने सारतत्व मे प्रतिष्ठित हो जाती है।[3] आत्मा के इस यथार्थ स्वरूप को जो अनेक प्रकार के आवरण मे मलिन बना रहता हे। जान लेने का नाम ही मोक्ष है। पुरुषार्थ तथा आत्मसयम द्वारा ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।[4]

पूर्वमीमासा दर्शन के सस्थापक जेमिनी ओर शबर ने स्वर्ग के जीवन का मार्ग तो निर्दिष्ट किया, किन्तु ससार से मुक्ति का मार्ग नही निर्दिष्ट किया। उनके अनुयार्यी प्रभाकर और कुमारिल ने मोक्ष का विवेचन किया हे।

प्रभाकर के अनुसार समस्त धर्म ओर अधर्म के लोप हो जाने के फल स्वरूप, जो शरीर की समाप्ति हे, वही मोक्ष हे।[5] मोक्ष केवल आत्मा का प्राकृतिक रूप हे।[6] यह आनन्द स्वरूप भी नही है। इसकी प्राप्ति कर्म की सर्वथा समाप्ति मे ही हो सकती हे। ज्ञान आगे के लिए पुण्य व पाप के सचय को रोकता है।

कुमारिल के अनुसार मोक्ष समस्त दु ख से रहित आत्मा की अपने स्वरूप मे स्थिति हे।[7] कुमारिल के अनुसार आत्मा सब प्रकार की अभिव्यक्ति से रहित अपने विशुद्ध सारतत्व मे रहती है। यह सुख दु ख और वैसे ही अन्य विशिष्ट गुणो स रहित अवस्था है। इसे चेतन्य की ऐसी अवस्था माना जा सकता है जिसमे कोई विषय परक बोध अथवा किसी भी प्रकार की सवेदना नही होती। यह एक अविध्यात्मक अवस्था है और वेदात के समीप है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान द्वारा नहीं अपितु ज्ञानयुक्त कर्मो द्वारा होती हे।[8]

अद्वैत वेदात के प्रतिपादक शकराचार्य के अनुसार मुक्ति तो साक्षात ब्रह्म स्वरूप ही है।[9] वह जो परम अर्थो मे यथार्थ है, निर्विकार हे, नित्य है, आकाश के समान सर्वान्तरयामी प्यामी है, हर प्रकार के परिवर्तन से मुक्त, सर्वसतोपप्रद, अविभक्त, जिसका स्वरूप उसका अपना प्रकाश है, और जिसके अन्दर न भला है न बुरा है, न कोई प्रभाव है, न भूत, न वर्तमान और न

---

1 न्यायसूत्र- 4/34
2 योगभाष्य- 2/27
3 योगभाष्य- 24/33
4 डॉ० राधाकृष्णन- भारतीय दर्शन(भाग- 2), पृष्ठ- 359
5 प्रकरण पजिका- तत्वालोक, पृष्ठ- 156, डॉ० राधाकृष्णन- भारतीय दर्शन(भाग- 2), पृष्ठ- 416
6 प्रकरण पजिका- तत्वालोक, पृष्ठ 157
7 डॉ० राधाकृष्णन- भारतीय दर्शन(भाग- 2), पृष्ठ- 417
8 डॉ० राधाकृष्णन- भारतीय दर्शन(भाग- 2), पृष्ठ- 417
9 "ब्रह्मेव ही मुक्तावस्था"

भविष्यत को कोई स्थान है- इस अलोकिक तत्व को मोक्ष कहा गया है।[1] जिस प्रकार मलिनताओ के दूर हो जाने पर सुवर्ण का अपना सहज चमकीला रूप प्रकट हो जाता हे अथवा सूर्य के अस्त हो जाने पर मेघशून्य रात मे तारे चमकने लगते हैं, उसी प्रकार आत्मा के यथार्थ रूप को आवृत्त करने वाली अविद्या के लोप हो जाने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वत प्रकाशित रूप मे प्रकट हो जाती है।[2] मुक्तात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को धारण कर लेते हे।[3] आत्मा के विलोप का नाम मोक्ष नहीं हे, अपितु चैतन्य के विस्तार तथा प्रकाश के द्वारा अपनी अनन्तता तथा निरपेक्षता का साक्षात्कार कर लेने का नाम मोक्ष हे।[4] चित्सुखाचार्य के अनुसार मोक्ष का वर्णन निषेधात्मक रूप मे ऐसी स्वतन्त्रता की अवस्था के रूप मे किया जाता है, जहॉ दिन है न रात, जहॉ काल की धारा का प्रवाह रुक गया है, और जहॉ सूर्य तथा तारे आकाश से दूर कर दिये गये है। ज्ञान के भेद इसके अन्दर कोई शक्ति नही रखते है।[5] यह ईसाईयो के स्वर्ग के समान है, जो भ्रष्टाचार से शून्य है, अकलुषित है और कभी क्षीण नही होता। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि यह नितान्त अभाव की अवस्था है। मुक्तात्मा किसी अन्य को नहीं देखता, वरन अपने को सबके अन्दर देखता हे।[6] शकर के अनुसार कर्म से मुक्ति सम्भव नही हे। मोक्ष को कर्म का फल मानने पर उसके अनितत्व का प्रसग उपस्थित होगा। शकर के अनुसार कर्म का फल उत्पाद, विकार्य, प्राप्य एवं सस्कार्य होता है। किन्तु मोक्ष न तो उत्पाद हे, न प्राप्य है, न विकार्य हे एव न सस्कार्य है।[7]

रामानुज के विशिष्टाद्वैत दर्शन मे मोक्ष आत्मा का तिरोभाव नही है, अपितु बाधक मर्यादाओ को भग कर स्वतत्रता होना भी क्योकि आत्मा का तिरोभाव यथार्थ आत्मा का विनाश है।[8] एक तत्व दूसरे तत्व मे परिणत नही हो सकता।[9] मुक्तात्मा ईश्वर के शरीर को प्राप्त करता हे किन्तु उसके साथ तद्रुप नही होता है।[10] वह सर्वज्ञ हो जाता है और सदा ही ईश्वर का ज्ञान अर्न्तदृष्टि के द्वारा प्राप्त करता हे।[11] उसे किसी और वस्तु की अभिलाषा नही होती, इसीलिए उसे ससार मे आने की कोई सभावना नही रहती है। जहॉ शकर ने मोक्ष को प्राप्तस्य प्राप्ति कहा है, वही रामानुज ने मोक्ष को अप्राप्ति की प्राप्ति कहा है।

रामानुज के मत मे मुक्त जीवात्मा सर्वदा ईश्वर का प्रत्यक्ष करता रहता है। इस प्रकार आत्म साक्षात्कार नहीं, अपितु ईश्वर साक्षात्कार ही मोक्ष की स्थिति है।[12]रामानुज के अनुसार जीव मोक्ष की अवस्था मे ब्रह्म का सायुज्य लाभ करता है,

---

1 शाकर भाष्य- 1/14
2 शाकर भाष्य- 1/3/19
3 'स्वात्मन्यस्थानम्' - ब्रह्मसूत्र भाष्य- 4/4/13
4 डॉ० राधाकृष्णन- भारतीय दर्शन (भाग-2), पृष्ठ- 637
5 शाकर भाष्य- 1/3/9
6 शाकर भाष्य छान्दोग्योपनिषद्- 8/12/3
7 ब्रह्मसूत्र भाष्य- 1/1/4
8 ब्रह्मसूत्र भाष्य- रामानुज
9 विष्णु पुराण- 2/14/27
10 श्रीभाष्य- 1/1/1
11 'परिपूर्ण परब्रह्मानुभवम्' - श्रीभाष्य
12 श्रीभाष्य- 1/3/7

सारूप्य लाभ नही जैसा कि शंकराचार्य मानते है। शकर के समान रामानुज जीवन मुक्ति मे विश्वास नही करते है। रामानुज की दृष्टि मे जीवनमुक्ति नामक कोई चीज नही है। समस्त कार्यो के क्षीण हो जाने पर तथा भौतिक शरीर के भी त्याग हो जाने पर मनुष्य को ईश्वर का साहचर्य प्राप्त होता है। मोक्ष की अवस्था मे आत्माओ मे केवल दो अंशो को छोड़कर सर्वोपरि ब्रह्म की अन्य सभी पूर्णताये विद्यमान रहती हे। वे आकार मे अणु परमाणु है जबकि सर्वश्रेष्ठ आत्मा विभु-सर्वव्यापी है। अणु आकार की होने पर भी आत्मा अनेकविध शरीरो मे प्रवेश कर सकती है, और प्रभु के रचे हुए भिन्न संसारो का अनुभव कर सकती है।[1] किन्तु जगत की सृजनात्मक गतिविधियो के ऊपर इसका कोई वश नही हे। क्योकि वह केवल ब्रह्म की ही विशेष शक्ति है।[2] रामानुज ने मोक्ष के लिए ईश्वर की अनुकम्पा को आवश्यक माना है। विशिष्टा द्वैत भक्तिमार्ग को ईश्वर की अनुकम्पा प्राप्त करने का अन्यतम् साधन माना हे।

हिन्दू धर्म दर्शन के अनुसार ईश्वरत्व की प्राप्ति कई रूपो मे सम्भव हे। अत मुक्ति चार प्रकार की मानी गयी हे।[3] प्रथम सालोक्य मुक्ति है। इस दशा मे जीव निरन्तर ईश्वर के लोक मे निवास करता हे। वह भगवान के साथ एक ही जगह रहता हे, जहॉ उसे निरन्तर भगवान का दर्शन प्राप्त होता हे। द्वितीय सामीप मुक्ति है। इस अवस्था मे जीव को ईश्वर का नित्य सामीप्य प्राप्त होता हे। वह भगवान की अत्यधिक निकटता प्राप्त करता है। तृतीय सारूप्य मुक्ति है। इसे प्राप्त करने पर जीव ईश्वर जैसा ही रूप धारण करता हे ओर ईश्वर के समान ही व्यवहार करता है। चतुर्थ सायुज्य मुक्ति है। यह ईश्वर के साहचर्य की अवस्था है। इस स्थिति मे मुक्त आत्मा भगवान मे सयुक्त होकर उनके आनन्दपूर्ण जीवन मे सहभागी होती है।[4]

उपरोक्त चारो मुक्तियो मे सायुज्य मुक्ति को सर्वोच्च माना जाता है। सामीप्य, सालोक्य एव सारूप्य इसकी अपेक्षा निम्न स्तर के है।[5] क्योकि सायुज्य मे उक्त तीनो का अन्तर्भाव हो जाता है। निम्बार्क मत में भी मोक्ष तद्भावापत्ति अर्थात् भगवान के स्वरूप के उपभोग-रूप हे।

मोक्ष के प्रकार

हिन्दू धर्म मे मोक्ष के दो भेद मिलते है-जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। इसी जीवन मे ही मोक्ष प्राप्त होना जीवन मुक्ति है। अद्वेती शंकराचार्य का कथन है कि इस जीवन मे सदेह रहते हुए भी जीव मुक्त हो सकता है। जीव ब्रह्मैकत्व की अपरोक्षानुभूति होने पर जीव इसी जीवन मे मुक्त हो जाता है। शरीर पात के अनन्तर प्राप्त होनेवाली मुक्ति विदेहमुक्ति है। जीवन मुक्त के जीवन की दो अवस्थायें है। एक समाधि की अवस्था-इसमे वह अन्तर्मुखी होता है, और स्वय को ब्रह्म मे लीन कर लेता है।

---

1 रामानुज भाष्य- 4/4/17
2 रामानुज भाष्य- 4/4/17
3 डॉ० पी० एन० श्रीनिवासचारी- दी फिलॉस्फी ऑफ विशिष्टाद्वैत, पृष्ठ- 476
4 सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ- 237
5 रामानुज- गीता भाष्य- 16/2

उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व समाप्त होकर ब्रह्म मे लीन हो जाता है। द्वितीय व्युत्थान की अवस्था है। इसमे संसार का मिथ्या गगन उसके सामने होता है, किन्तु वह उससे प्रभावित नही होता। वह संसार मे रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है और सारे क्रियाकलापो को करते हुए भी उनसे दूर रहता है। शकर का कर्मरत जीवन, गोतम बुद्ध का प्रचारक जीवन आदि इसका स्पष्ट प्रमाण हे। जीवन मुक्त न तो स्वार्थ से प्रेरित हो कोई कर्म करता हे और न अन्यो के प्रति कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर। उसके लिए सामाजिक आचार के सामान्य नियम और यज्ञानुष्ठान व्यर्थ हो जाते है। जीवन मुक्त सघर्ष और द्वन्द की अवस्था से परे होता है। उसके जीवन मे इच्छा और आवेग के लिए कोई स्थान नही होता है, फलस्वरूप उसके कर्म अनायास होते रहते हे। जीवनमुक्त की अवस्था गीता के "स्थित प्रश्न" की अवस्था है। सुरेश्वर का कथन है कि जीवन मुक्त को दया आदि का आचरण करने के लिए जान बूझकर प्रयास करने की आवश्यकता नही होती है। सदाचरण तो उसका दूसरा स्वभाव बन जाता है।[1] जिस प्रकार केचुल उतारकर फेक देने पर सर्प को उसमे कोई आसक्ति नहीं होती उसी प्रकार जीवनमुक्त को अपने में कोई आसक्ति नही होती है।[2] जीवन मुक्त जब भौतिक उपाधियो (शरीरादि) से अलग हो जाता है तो उसकी अवस्था को विदेह मुक्ति कहते हैं। शकर के अनुसार ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर सचितकर्म का क्षय हो जाता है, तथा क्रियमाज कर्म बन्धनकारी नहीं होते है। किन्तु प्रारब्ध कर्मो का निवारण इससे नही होता। उनका निवारण केवल उनके भोग से होता है। अत प्रारब्ध कर्मो के भोग के लिए किञ्चित कालपर्यन्त उसकी शरीर बनी रहती है। यह जीवन मुक्ति की स्थिति है। जब जीवन मुक्त के प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त हो जाता हे; तब उसका शरीर नही रहता, क्योकि यह शरीर प्रारब्ध कर्मो का फल है। इस प्रकार स्थूल एव सूक्ष्म शरीरो के अत मे परिणाम स्वरूप जीवन मुक्त की अवस्था को विदेह मुक्ति कहते है।

सर्वाज्ञात्ममुनि एव रामानुजाचार्य केवल विदेहमुक्ति को मानते है। इनके विचार से जीवन मुक्ति सम्भव नही हे। इनके अनुसार मोक्ष कर्मो का आत्यातिक क्षय है। जब तक शरीर हे, तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता, क्योकि जीवात्मा का शरीर धारण कर्म के ही कारण हे। मुक्ति रूपी कर्मो के क्षीण हो जाने पर तथा भौतिक शरीर के पात के अनन्तर ही सम्भव है, और यह विदेह मुक्ति की अवस्था है। रामानुज की विदेह मुक्ति भी अन्य हिन्दू दार्शनिको की मान्यताओ से भिन्न है। अन्य दर्शनो मे विदेह मुक्ति एक अशरीरी अवस्था हे जो देहपात के अनन्तर प्राप्त होती है। रामानुज की मान्यता है कि जीव इस अवस्था मे दोषयुक्त प्राकृतिक शरीर से तो मुक्त हो जाता हे, किन्तु वह एक निर्दोष शरीर को धारण करता है, जो शुद्ध सत्व से निर्मित होता है।

हिन्दू धर्म दर्शन मे एक विवाद सद्य. मुक्ति और क्रममुक्ति को लेकर है। शंकर के अनुयायी सद्यः मुक्ति का प्रतिपादन करते है। ज्ञान होते ही मुक्ति सद्यः मुक्ति है। इसके विपरीत क्रम मुक्ति शनै. शनै· प्राप्त होती है। शंकर के विपरीत रामानुज क्रममुक्ति मे विश्वास करते हैं। क्रममुक्ति मे जीव देवयान मार्ग से ब्रह्म तक पहुँचने मे अनेक आर्यस्थानों, से होते हुए जाते है।

---

1 नैष्कर्मण्यसिद्धि- 4/69

2 वृहदारण्यक उपनिषद- 4/4/7

अर्थात् मुक्तात्मा देहपात के अनन्तर देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक या वैकुण्ठ या गोलोक जाता है।[+] वैकुण्ठ मे वह ईश्वर का सानिध्य प्राप्त करता हे, तथा परम आनन्द का अनुभव करता हे। रामानुज का मोक्ष एक भावात्मक अवस्था हे। इसमें मुक्त जीव को अनन्तज्ञान तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है। किन्तु शकराचार्य ऐसी मुक्ति को अस्वीकार करते हैं, क्योकि यह नित्यमुक्ति नही है। क्रममुक्ति समय की अवधि मे पड़ी हुई मुक्ति है, अर्थात् वह केवल प्रलय पर्यन्त रहती है। यह सापेक्षिक मुक्ति है। वास्तविक मुक्ति सद्य मुक्ति है जो ज्ञानोदय के साथ ही हो जाती है। शकर की जीवन मुक्ति की अवधारणा सद्य मुक्ति के साथ ही ठीक बैठती है। सद्य मुक्ति को प्राप्त करने वाला पुन भवचक्र मे नही पडता है।

मोक्ष प्राप्ति के साधन

हिन्दू धर्म साधना मूलक है। जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष हे। इसे प्राप्त करने के लिए साधना की आवश्यकता होती है। सम्पूर्ण जीवन इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही साधनारत होना चाहिए। हिन्दू धर्म मे साधना के मुख्यत चार मार्गो का उल्लेख मिलता हे।

(1) ज्ञानमार्ग (2) भक्तिमार्ग (3) कर्म मार्ग (4) योगमार्ग। इसी को ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग तथा राजयोग भी कहा जाता हे। सामान्य रूप मे योग का अर्थ ढग या मार्ग से लिया जाना हे।[1] मनुष्य के अन्दर तीन प्रकार की प्रवृत्तिया है- सात्विक, राजसिक और तामसिक। मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार किसी मार्ग का अनुसरण करके भगवान से युक्त हो सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व मे ज्ञान, भावना तथा सकल्प का समावेश है। जिस व्यक्ति मे ज्ञान की प्रधानता है, वह ज्ञानमार्ग का जो भक्ति भावना प्रधान है, वह भक्तिमार्ग का तथा जिसमे सकल्प की प्रधानता है वह कर्म मार्ग का अनुसरण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

ज्ञानमार्ग

हिन्दू धर्म मे यह मान्यता है कि अज्ञान के कारण ही आत्मा को शरीर रूप मे समझ लेती है, यह बन्धन का कारण है। अतः ज्ञान से ही अज्ञान को हटाया जा सकता है। जिस प्रकार प्रकाश से अधकार विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है। इसीलिए कहा गया है- ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नही है।[2] मोक्ष के लिए ज्ञान के अलावा कोई दूसरा मार्ग नही है।[3] विद्या से ही अमरत्व की प्राप्ति सम्भव हे।[4] श्वेताश्वेतर उपनिषद में कहा गया है "जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाश स्वरूप आत्म लाभ से ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार करता है, उस समय वह उस अजन्मा निश्चल और समस्त

\+ पाद टिप्पणी- विशिष्टाद्वैत दर्शन मे दिव्यलोक गोलोक या ब्रह्मलोक का मनोहारी वर्णन मिलता है। यह धार्मिक व्यक्ति को अत्यत लुभाता है। जेसे- दिव्यलोक सुद्धसत्व से निर्मित है। यहाँ जीवनप्रद स्वच्छ जल की नदिया है, सुस्वादु फलो से लदे वृक्ष है। यहाँ शीतल मंद वायु चलती हे तथा स्वर्गवासियों को प्रसन्न रखने के लिए स्वर्ण रंग का सूर्य चमकता है। देवलोक वासी उस आनन्दमय क्षेत्र मे सुख लाभ करते है, उत्तम भोजन करते है तथा दिव्य सगति का आनन्द उठाते है।

1 योग शब्द 'युज' धातु से बना है, जिसका अर्थ युक्त होना, जोडना या मिलाना होता है। अर्थात् योग का अर्थ आत्मा का परमात्मा से मिलन, भक्त क ा भगवान से संयोग है।

2 'ऋते ज्ञानात् न मुक्ति.' - शकराचार्य

3 नान्या पन्था: विद्यतेऽयनाय' -श्वेताश्वतर उपनिषद- 6 / 11

4 वही- 6 / 11

तत्वो से विशुद्ध देव को जानकर सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[1] ज्ञानमार्ग को मुख्य रूप से गीता तथा शकराचार्य के अद्वैत वेदान्त मे महत्व दिया गया है गीता के अनुसार ज्ञान मार्ग समस्त मार्गो से श्रेष्ठ है, कर्म भी अन्त मे ज्ञान के रूप मे प्रकट होता है।[2]

अब प्रश्न उठता है कि ज्ञान क्या है? ज्ञान किसे कहते है? ज्ञान का अर्थ सासारिक पदार्थो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने से नही है, बल्कि ज्ञान का अर्थ तात्विक या आध्यात्मिक ज्ञान से है। आत्मज्ञान ही तात्विक ज्ञान है। आत्मा का साक्षात्कार

दिव्य दृष्टि से होता है और यही दिव्य दृष्टि ही तत्व ज्ञान है।[3] भलेही कोई व्यक्ति विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओ के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त कर ले, किन्तु जब तक उसको आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, तब तक वह मोक्ष की प्राप्ति नही कर सकता है। सासारिक वस्तुओ का ज्ञान तुच्छ है। हेय है, अनात्म है आदि।

पुन प्रश्न यह विचारणीय है कि आत्म ज्ञान क्या है? मै इन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्त-अहकार या स्थूल जड देह नही हूँ, बल्कि मे शुद्ध निर्विकार चैतन्य सत्ता हूँ। जन्म-मृत्यु से परे हूँ, तथा ब्रह्म और मुझमें अभेद है।[4] यही आत्म ज्ञान है। इसलिए जो व्यक्ति इस तत्व को जान लेता है, वह आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है। इसीलिए छादोग्य उपनिषद मे कहा गया है- "आत्म ज्ञानी शोक के पार हो जाता है।"[5]

ब्रह्म ज्ञान ही तत्वज्ञान है। आत्म ज्ञान के द्वारा ही ब्रह्म ज्ञान होता है। इसीलिए वृहदराण्यक उपनिषद मे कहा गया है- व्यक्ति को आत्म विषयक बातो को सुनना चाहिए आत्मा का मनन तथा ध्यान करना चाहिए।[6] ब्रह्म ज्ञान के द्वारा ब्रह्म और जीव का पार्थक्य मिट जाता है। दोनो एक हो जाते है। जीव ब्रह्म हो जाता है।[7] ईशावाष्योपनिषद मे भी कहा गया है कि आत्मा और ब्रह्म मे अभेद देखने वाले पुरुष को शोक और मोह नही हो सकता है।[8]

अब प्रश्न यह है कि ज्ञान मार्ग का अधिकारी कौन है? शकर के मतानुसार ज्ञानमार्ग के वही अधिकारी है जो साधन चतुष्ट्य को अपनाते है।[9] साधन चतुष्ट्य निम्नलिखित हे-

1-नित्यानित्य वस्तुविवेक- जो साधक नित्य और अनित्य पदार्थो मे भेद करने मे समर्थ है, वही ज्ञान मार्ग का अधिकारी है।

2- इहामूत्रार्थ भोग विराग- लौकिक और पारलोकिक समस्त भोगो की कामना का परित्याग करने वाला ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी है।

---

1 श्वेताश्वेतर उपनिषद- 2/15
2 गीता- 4/33
3 आत्मा वा अरे दृष्टव्यो., श्रोतव्यो , मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यो- वृहद उप०- 2/3
4 'जीवो ब्रह्मैव नापर '- शाकर भाष्य
5 छादोग्योपनिषद - 4/1/3
6 वृहद उप० - 2/3
7 ब्रह्मविद ब्रह्मैवभवति- शाकर भाष्य
8 ईशा० उप०- 7/1
9 विवेक चूडामणि- 16–17

3- शमदमादि साधन सम्पत : शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति ओर तितिक्षा इन छ. साधनो से युक्त मनुष्य ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी है।

4- मुमुक्षुत्व : मोक्ष के प्रति सत्संकल्पी मनुष्य ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी हे। मोक्षहेतु दृढ़ व्रत या दृढ निश्चय ही मुमुक्षुत्व है।

साधन चतुष्ट्य के साथ-साथ शकराचार्य ने गुरुकृपा को अधिक महत्त्व दिया हे। गुरु कैसा होना चाहिए ओर उस गुरु के क्या लक्षण है? इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है- "जो निष्पाप हो, कामनाओ से शून्य हो, ब्रह्म वेत्ताओ मे श्रेष्ठ हो, ब्रह्मनिष्ठ हो, ईधन रहित अग्नि के समान शान्त हो, अकारण दया सिन्धु हो, शरण मे आये हुए की रक्षा करे तथा सज्जनो का हितैपी हो।[1]

हिन्दू धर्म मे ज्ञानमार्ग की तीन विधियों की चर्चा मिलती है, वे है- श्रवण, मनन ओर निदिध्यासन। गुरु के उपदेशो को सुनने को श्रवण कहा जाता हे। उपदेशो पर तात्विक दृष्टि से विचार करने को मनन कहा जाता है। सत्य पर निरन्तर ध्यान रखना निदिध्यासन है। उक्त प्रणाली का पालन करने से साधक का मन सभी प्रकार के गलत धारणाओ से मुक्त हो जाता है। ईश्वर और आत्मा के सम्वन्ध मे अज्ञान का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार आत्मा मोक्ष को प्राप्त करती है।

भक्तिमार्ग

हिन्दूधर्म मे मोक्ष का दूसरा मार्ग हे-भक्ति मार्ग। ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग सहज मार्ग है जो सभी सवेदनशील मनुष्यो के लिए सुलभ है।

भक्ति शब्द "भज्" धातु से निष्पन्न है, जिसका धात्वर्थ है सेवा करना। सेवा सुश्रुषा द्वारा ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना ही भक्ति है। भक्तो का यह सहज विश्वास है कि प्रेमभाव से आराधना करने पर ईश्वर दर्शन सम्भव है-प्रेम ते प्रकट होई भगवन्ता।[2] इसी लिए भक्ति मार्ग को प्रेम मार्ग भी कहते हे। सभी धर्म इस बात मे एकमत है कि प्रेम ही ईश्वर है। कबीर ने प्रेम के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा है- 'ढाई आखर प्रेम का पढे सो पण्डित होय।' नारद, शाण्डिल्य, रामानुजाचार्य आदि मुनियो और दार्शनिको ने विशेष रूप से भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया है। गीता तथा भागवत् पुराण मे भक्ति की महिमा बतलायी गयी है। सूर, तुलसी, मीरा, महाप्रभु चैतन्य, रैदास, तुकाराम आदि सन्तो-भक्तो तथा आधुनिक युग के महानतम् भक्त श्री रामकृष्ण की भक्ति-धारा से भक्ति-साहित्य समृद्ध हुआ है।

भगवान के चरण-कमलो मे उत्कट प्रेम होना ही भक्ति है। जिस प्रकार जल से अलग होने पर मछली छटपटाने लगती है, उसी प्रकार भक्त का जव भगवान से वियोग हो जाता है तो वह तडपने लगता है। इसीलिए महर्षि शाण्डिल्य कहते है-'भगवान

1 विवेक चूड़ामणि- 34—37

2 डॉ० डी० डी० पाण्डेय- धर्मदर्शन का सर्वेक्षण, पृष्ठ- 435

3- शमदमादि साधन सम्पत : शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति ओर तितिक्षा इन छ· साधनो से युक्त मनुष्य ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी है।

4- मुमुक्षुत्व · मोक्ष के प्रति सत्सकल्पी मनुष्य ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी है। मोक्षहेतु दृढ़ व्रत या दृढ़ निश्चय ही मुमुक्षुत्व है।

साधन चतुष्ट्य के साथ-साथ शकराचार्य ने गुरुकृपा को अधिक महत्व दिया हे। गुरु कैसा होना चाहिए और उस गुरु के क्या लक्षण है? इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है- "जो निष्पाप हो, कामनाओ से शून्य हो, ब्रह्म वेत्ताओ मे श्रेष्ठ हो, ब्रह्मनिष्ठ हो, ईधन रहित अग्नि के समान शान्त हो, अकारण दया सिन्धु हो, शरण मे आये हुए की रक्षा करे तथा सज्जनो का हितैपी हो।[1]

हिन्दू धर्म मे ज्ञानमार्ग की तीन विधियों की चर्चा मिलती हैं, वे हैं- श्रवण, मनन और निदिध्यासन। गुरु के उपदेशो को सुनने को श्रवण कहा जाता है। उपदेशों पर तात्विक दृष्टि से विचार करने को मनन कहा जाता है। सत्य पर निरन्तर ध्यान रखना निदिध्यासन है। उक्त प्रणाली का पालन करने से साधक का मन सभी प्रकार के गलत धारणाओ से मुक्त हो जाता है। ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध मे अज्ञान का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार आत्मा मोक्ष को प्राप्त करती है।

भक्तिमार्ग

हिन्दूधर्म मे मोक्ष का दूसरा मार्ग हे-भक्ति मार्ग। ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग सहज मार्ग है जो सभी सवेदनशील मनुष्यो के लिए सुलभ है।

भक्ति शब्द "भज्" धातु से निष्पन्न है, जिसका धात्वर्थ है सेवा करना। सेवा सुश्रुषा द्वारा ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना ही भक्ति है। भक्तों का यह सहज विश्वास है कि प्रेमभाव से आराधना करने पर ईश्वर दर्शन सम्भव है-प्रेम ते प्रकट होई भगवन्ता।[2] इसी लिए भक्ति मार्ग को प्रेम मार्ग भी कहते हे। सभी धर्म इस बात मे एकमत हैं कि प्रेम ही ईश्वर है। कबीर ने प्रेम के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा है- 'ढाई आखर प्रेम का पढे सो पण्डित होय।' नारद, शाण्डिल्य, रामानुजाचार्य आदि मुनियो और दार्शनिको ने विशेष रूप से भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया है। गीता तथा भागवत् पुराण मे भक्ति की महिमा बतलायी गयी है। सूर, तुलसी, मीरा, महाप्रभु चैतन्य, रैदास, तुकाराम आदि सन्तो-भक्तो तथा आधुनिक युग के महानतम् भक्त श्री रामकृष्ण की भक्ति-धारा से भक्ति-साहित्य समृद्ध हुआ है।

भगवान के चरण-कमलो मे उत्कट प्रेम होना ही भक्ति है। जिस प्रकार जल से अलग होने पर मछली छटपटाने लगती है, उसी प्रकार भक्त का जब भगवान से वियोग हो जाता है तो वह तड़पने लगता है। इसीलिए महर्षि शाण्डिल्य कहते है-'भगवान

1 विवेक चूड़ामणि- 34—37

2 डॉ० डी० डी० पाण्डेय- धर्मदर्शन का सर्वेक्षण, पृष्ठ- 435

मे परम अनुरक्ति परमप्रेम भक्ति है।'[1] स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने कहा है 'राग द्वेष', संसार के माया मोह आदि को रोक देना- अपने चित्त से हटा देना भक्ति है।[2] फिर से बतलाया गया है- भजन करना भक्ति है। भजन का अर्थ है-रस लेना।[3] जिस प्रकार पशु घास-भूसा खा लेता है और फिर बैठकर खाये हुए पदार्थो को मुख मे लाकर जुगाली करता है, उसका रस लेता है, उसी प्रकार भगवान की लीला, गुण, महिमा, रूप कथा, अर्चना-वंदना इत्यादि को स्मृति मे लाकर बार-बार उसका मनमे रसास्वादन करना भजन है। गोस्वामी तुलसीदास भी कहते है-"सभीप्रकार के आशाओ को छोड़कर जो व्यक्ति प्रेमपूर्वक भगवान का गुण गान करता है, वह अवश्य ही ससार सागर को पार कर जाता है, इसमे सदेह नही।[4]

भगवान प्रेम का भूखा है। गीता मे स्वयं भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-पत्र-पुष्प, फल-जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से अर्पण करता है, उस प्रेमी भक्त का प्रेम पूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादिक मै सगुण रूप से प्रकट होकर प्रीति सहित खाता हूँ।[5]

भक्ति के मुख्यतया दो भेद है- (1) हैतुकी या गौजी भक्ति (2) अहैतुकी या पराभक्ति। हैतुकी भक्ति सकाम भक्ति है। यह भक्ति ईश्वर के लिए न होकर सासारिक विषयो को प्राप्त करने के लिए होती है। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्त की भक्ति हैतुकी भक्ति है। सासारिक उपलब्धियो के लिए ईश्वरोपासना करनेवाला अर्थार्थी है, सकट से उबरने के लिए ईश्वर का भजन करनेवाला आर्त है और ईश्वर के व्यक्तित्व को अपनी इच्छा के अनुसार देखने वाला भक्त जिज्ञासु है।

अहेतुकी भक्ति सर्वोच्च भक्ति है, जिसे गीता मे अनन्या भक्ति या निष्काम भक्ति कहा गया है।[6] अहैतुकी भक्ति की पराकाष्ठा ही प्रपत्ति है। यह निष्प्रयोजन भक्ति है। जब भक्त सर्वार्पण भाव से ईश्वर के लिए ईश्वर की आराधना करता है तब उसकी भक्ति को अहैतुकी भक्ति कहते है। ऐसे भक्त को भगवान की कृपा वैसे ही मिलती रहती है, जैसे बिल्ली के बच्चे को बिल्ली की कृपा सदैव मिलती रहती है। जैसे बिल्ली अपने बच्चे को मुख मे रखती है, वैसे भगवान अपने भक्त को अपनी गोद मे रखता है। यही 'मार्जार न्याय' है। रामानुज इस शरणागत की अवस्था को प्रपत्ति कहते है। गीता मे इसे पराभक्ति कहा गया है।[7]

प्रपत्ति शरणागति भक्ति है। सब कुछ त्यागकर ईश्वर की शरण मे जाकर निश्चिन्त हो जाना ही प्रपत्ति है। प्रपन्न या शरणागत उस असहाय शिशु के समान है, जो सब कुछ त्यागकर अपने पिता पर पूर्ण रूप से निर्भर रहता है। भक्ति उपासना की प्रारम्भिक अवस्था है और प्रपत्ति उसकी पराकाष्ठा है। भक्ति साधन है, प्रपत्ति साध्य है। रामानुज ने प्रपत्ति के लिए छः

---

1 सापरानुरक्तिरीश्वरे-शाण्डिल्य सूत्र- 2

2 भञ्जनम् भक्तिः - स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, नारद भक्ति दर्शन- पृष्ठ 31

3 "भजनम्नाम रसनम्" - स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, नारद भक्ति दर्शन- पृष्ठ 31

4 रामचरित मानस उत्तरकाण्ड- 102/6—7
सब भरोस तजि जो भज समहि। प्रेम समेत गान गुन ग्रामहि।
सोई भवतर कछु संसय नाही। नाम प्रताप प्रगट कलि माही।।

5. पत्रं पुष्पम् फल तोय यो में भक्तया प्रयच्छति।
तदहँ भक्त्युप हृतमश्नामि प्रपतात्मन् ।। - गीता

6 गीता - 7/16

7. गीता- 7/16

बातों को आवश्यक माना है-

(1) आनुकूलस्य सकल्प- ईश्वरेच्छा के अनुसार सत्कर्म करने का सकल्प आवश्यक है।

(2) प्रातिकूलस्य वर्जनम्- ऐसे सभी कर्म वर्जित है, जो ईश्वर की इच्छा के विपरीत हैं।

(3) रक्षिष्यतीति विश्वास- ऐसा विश्वास हो की ईश्वर अवश्य रक्षा करेगे।

(4) गोप्तृत्वे वरणम्- शरणागत केवल ईश्वर को ही आराध्य मानता है।

(5) कार्पण्य- ईश्वर के समक्ष दैन्यभाव का प्रदर्शन करना ओर उसकी शरण मे जाना ही प्रपत्ति हे।

(6) आत्मनिक्षेप- दृढ विश्वास के साथ ईश्वर के प्रति आत्मनिक्षेप करना प्रपत्ति का प्रधान रूप है।

सामान्यत. भक्ति के नौ साधन माने गये है- अर्चना, वन्दना, दासता, सेवा, स्मरण, कीर्तन, श्रवण, सख्य भाव तथा आत्म-निवेदन।[1]

श्रद्धा भक्त का आभूषण है। श्रद्धा विहीन हृदय मे भक्ति का उदय असम्भव है। श्रद्धा-सरलता, निष्पटता तथा शुद्ध हृदयवाला व्यक्ति ही भक्ति मार्ग का अधिकारी है। भक्तो मे अमीर-गरीब का भेद नही है। ईश्वर अनाथो का नाथ है। दुर्योधन का राजसी स्वागत त्यागकर कृष्ण ने विदुर के घर साग खाना पसन्द किया था।

भक्ति के लिए कर्मकाण्ड, मिथ्याडम्बर, विद्वता और पाण्डित्य प्रदर्शन आवश्यक नहीं है। प्रेम का ढाई अक्षर ही भक्ति का सार है। व्याध मूर्ख था, गज पशु था, ध्रुव बालक था, कुवरी कुरूपा थी, सुदामा निर्धन था, फिर भी भगवान ने उन पर कृपा की। भक्त के लिए यह आवश्यक हे कि वह नैतिक गुणो से युक्त हो। क्षमा, दया, करुणा, मैत्री, त्याग, विनय और परोपकार में निरत व्यक्ति ही भक्ति के मार्ग पर चल सकता है। राजा जनक का विचार है- "अनन्त सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी मेरा कुछ नही है। यदि पूरी मिथिला नगरी जलकर राख हो जाय तो इसका मुझे तनिक भी क्लेश न होगा।[2]

भक्ति के लिए विशेप आयु, जाति, लिग की बाध्यता नही है। प्रहलाद और ध्रुव बाल्यकाल मे ही श्रेष्ठ भक्त हो गये थे। गरुडपुराण मे कहा गया है कि यदि भक्ति म्लेच्छ मे आ जाय तो वह उसे द्विज, श्रेष्ठ, मुनि, सन्यासी तथा विवेकी बना देता है।[3] नारद की दृष्टि मे भक्ति का प्रमुख बाधक कुसंगति हे।[4] दूषित ग्रथ, वासनात्मक दृश्य, अनर्गल शब्द और उत्तेजक सगति मनुष्य को कुपन्थ पर जाने की प्रेरणा देते हे। कुपन्थ पर चलने वाला व्यक्ति स्वास्थ्य, बुद्धि और विवेक सब कुछ खो देता है।[5] कुसगति से काम, क्रोध, मोह आदि उत्पन्न होते है, और अन्त मे व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है।[6]

---

1 अर्चनम् वन्दनम् दास्यम् सेवनम् स्मरणम् तथा।
कीर्तनम् श्रवणम् सख्यम् तथेवात्म निवेदनम।।

2 अनन्तवत् मे वित्त यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलाया प्रदीप्ताया न मे दहयति किञ्चन।। महाभारत- शातिपर्व

3 गरुड पुराण- 1/9—10

4 नारद भक्ति सूत्र- 43

5 जिमि कुपन्थ पग देत खगेसा।
रहत न तन, बुधि, वल, लवलेसा।।- तुलसीकृत रामचरित मानस

6 नारद भक्ति सूत्र- 44

भक्ति को चाहिए की वह क्रोधादि पर नियन्त्रण रखे। उसे स्त्री, धन, नास्तिक और शत्रु के विषय मे की जाने वाली बातों को नही सुनना चाहिए।[1]

उपर्युक्त वर्णित योग्यताये सच्चे भक्त के लिए आवश्यक है, अन्यथा वह सर्वार्पण भाव से ईश्वर की भक्ति नही कर सकता है।

कर्ममार्ग

हिन्दू धर्म मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य को घर-द्वार छोड़ने के लिए परामर्श नही देता है। हिन्दू धर्म हमे बतलाता हे कि मनुष्य अपने कर्मो को ईश्वर के चरण-कमलो मे श्रद्धाप्रेम के साथ समर्पित कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। श्रीकृष्ण भगवान जीवो के उद्धार हेतु मोक्ष प्राप्ति के अत्यन्त सरल मार्ग पर प्रकाश डालते हुए कहते है- 'तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो, जो कुछ स्वधर्माचरण रूप तप करते हो वह सब मुझको अर्पण करो।'[2]

सामान्यत कर्म हमें बन्धन मे डालते है। किन्तु सभी कर्मो को बन्धन का कारण नही माना जा सकता है। आसक्ति मे किया गया कर्म बन्धन को जन्म देता है। आसक्ति के त्याग से कर्म का बन्धन नष्ट हो जाता है। अनासक्त कर्म मुक्ति प्रदान करते है। इनके द्वारा ही ईश्वर की वास्तविक पूजा होती है। गीता मे अकर्मण्यता तथा सन्यासवाद का विरोध किया गया है। कर्मयोग के बिना कोई भी व्यक्ति परमार्थ को प्राप्ति नहीं प्राप्त कर सकता। परमार्थ की शुद्धि पर निर्भर है, वाह्य वेष आवरण अथवा कर्मो के त्याग पर नही।[3] कर्म का त्याग करनेवाला पुरुष निन्दनीय है।[4]

गीता के अनुसार मनुष्य स्वकर्मो के द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। स्वकर्म वे कर्म है, जिन्हे मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार स्वधर्म समझकर करता है। इन्हें स्वधर्म, सहजकर्म, नियतकर्म, स्वभावजकर्म, स्वभावनियत कर्म आदि कहा जाता है। स्वकर्म करते रहने से व्यक्ति पाप का भागी नही होता। जो मनुष्य स्वकर्म को करता है, तथा उसके फल को प्राप्त करने के लिए आसक्त नही रहता है, वह कर्म बन्धन मे नहीं पड़ता हे। गीता इस सन्दर्भ मे बतलाती हे- "मनुष्य अपने स्वधर्म पालन रूपी कर्म को भगवान को समर्पित कर सिद्धि की प्राप्ति कर लेता है, अर्थात् वह मानव जीवन धारण करने के उद्देश्य-मोक्ष को प्राप्त कर लेता हे।[5]

जैसे पतिव्रता स्त्री पति को प्रसन्न करने के लिए ही कर्म करती है, उसकी सम्पूर्ण क्रियाये मात्र पतिदेव को प्रसन्न करने हेतु होती है, उसी प्रकार एक भक्त की समस्त क्रियाये अपने आराध्यदेव को प्रसन्न करने के लिए होती है। पतिव्रता नारी पति को ही सर्वस्व मानती है, उसी प्रकार भक्त ईश्वर को अपना सर्वस्व मानता हे।

1. नारदभक्ति सूत्र- 63
2 गीता- 9/27
3 गीता - 3/4
4. गीता - 3/6
5 गीता - 18/46

कर्मयोग के अनुसार कर्म का फल ईश्वर पर छोड देना चाहिए। फलेच्छा-रहित होकर कर्म करना कर्तव्य है। फल के प्रति आसक्त होना, उसके लिए चिन्ता करना मनको अशान्त एव उदिग्न करना है। इसीलिए गीता बतलाती है-तुम्हारा कर्म करने मात्र मे अधिकार है, कर्म के त्याग अथवा फल प्राप्ति मे नहीं।[1] फल प्राप्ति की कामना से कर्म न करके फल की इच्छा छोडकर कर्म करना चाहिए। अत· मनुष्य को स्वकर्मरूपी धर्मपालन का अनुष्ठान कर मोक्ष की प्राप्ति करना चाहिए।

योगमार्ग

हिन्दू धर्म मे मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न मार्गो मे योग मार्ग का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका महत्व इससे भी प्रकट होता है कि मोक्ष के विभिन्न साधनो मे योग शब्द जुडा रहता है।

योग शब्द 'युज' धातु से बना है, जिसका धात्वार्थ है। जोडना सत्कर्म के माध्यम से ईश्वर के साथ जुडना कर्मयोग है। ईश्वर के साथ रागात्मक सम्बन्ध भक्तियोग है। ज्ञान के सहारे ब्रह्ममयता की अवस्था ज्ञानयोग है। फिर भी योगमार्ग मोक्ष के साधन के रूप मे एक स्वतन्त्र मार्ग है।

पातञ्जल दर्शन मे चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।[2] जब चित्तवृत्तियो का निरोध हो जाता है तब चित्त शात और स्थिर हो जाता है ओर समाधि के योग्य वन जाता है। समाधि की अवस्था मे साधक ईश्वर से सम्वन्ध स्थापित करता हे। चित्त की एकाग्रता यो योग के बिना कर्म के सम्पादन मे दक्षता नही प्राप्त होती है।[3] साधना के क्षेत्र मे राजयोग समत्वयोग मनोयोग, कर्मयोग, तन्त्रयोग, नादयोग, जपयोग, हठ्योग, शब्दयोग, सिद्धयोग, समाधियोग, ध्यानयोग, प्रेमयोग आदि रूपो में योग शब्द का प्रयोग देखा जाता हे। मुख्यता योग के दो रूप है- राजयोग और हठ्योग।

पतञ्जलि की आध्यात्मिक साधना का नाम राजयोग है। मोक्ष के लिए राजयोग ने आठ अगो का निर्धारण किया है। यही आठमार्ग योग की अवस्था को प्राप्त करने के साधन है। इसे अष्टाग मार्ग भी कहा जाता है। राजयोग के अष्टाग मार्ग इस प्रकार है- (1) यम (2) नियम (3) आसन (4) प्राणायाम (5) प्रत्याहार (6) धारणा (7) ध्यान (8) समाधि[4]

बाह्य ओर आतरिक सयम ओर नियमन को यम कहा जाता है। यह शरीर और मन दोनो का संयम है। पतञ्जलि ने अहिसा सत्य अस्तेय चोरी का अभाव) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सग्रहका अभाव) पाच प्रकार के यम बतलाये है।[5] योग का दूसरा अग नियम है। नियम का अर्थ है सदाचार को अपनाना। पतञ्जलि के अनुसार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये पाच नियम है।[6]

निश्चत होकर सुख के साथ देर तक बैठने का नाम आसन है। आसन से शरीर और मन दोनो पर नियन्त्रण हो जाता है।

1 गीता - 2/47

2 योगश्चित्त वृत्ति निरोध - पातञ्जल सूत्र

3 योग कर्मसु कौशलम्-गीता

4 यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोअष्टावङ्गानि" - योगसूत्र- 21

5 अहिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा - योगसूत्र- 30

6 शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानिनियमा योगसूत्र- 32

प्राण का सयम और नियमन प्राणायाम है।[1] योगसूत्र मे प्राणायाम के तीन भेद बतलाये गये हे। रेचक (वाह्यवृत्ति) पूरक (आभ्यान्तर वृत्ति) और कुम्भक (स्तम्भवृत्ति)। इन्द्रियो को वाह्य विषयो से हटाकर मन के अधीन करना प्रत्याहार है।

किसी अभीष्ट ध्येय पर चित्त को स्थिर करना ही धारणा है। पतञ्जलि के अनुसार वाहर या शरीर के भीतर कही भी किसी एक देश मे चित्त को ठहराना धारणा हे।[2]

ध्येय का निरन्तर मनन करना ही ध्यान हे। ध्यान का लक्षण एकाग्रता है। योगसूत्र मे कहा गया है कि जहॉ चित्त को लगाया जाय, उसी मे वृत्ति का एक तार चलना ही ध्यान हे।

समाधि ध्यान की पूर्णावस्था हे। यह योग का अतिम चरण है। इसमे सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता हे। योगसूत्र मे समाधि की दो अवस्थाये वतलायी गयी हे-सम्प्रज्ञात समाधि ओर असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता से युक्त होती है, इसलिए इसे सबीज समाधि भी कहते है। असम्प्रज्ञात या निर्जीव समाधि ज्ञानातीत अवस्था हे। इसमे साधक ब्रह्म से पूर्णतः समागम स्थापित कर लेता है। यह अवस्था शुद्ध ब्रह्म की चेतन अवस्था है।

हठ्योग भी एक प्रकार से अप्टागिक योग का ही रूप है।[3] हठ मे 'ह' का अर्थ सूर्य-पिंगला दाहिनी ओर की वायु ओर 'ठ' का अर्थ चन्द्र-इडा बाई ओर की वायु है। वायु को अन्दर खीचना 'ह' है और वाहर छोडना 'ठ' हे। हठ्योग के बिना प्राणायाम सम्भव नहीं है। राजयोग के लिए हठ्योग आवश्यक है। भगवान शकर स्वय हठ्योग के जन्मदाता माने जाते है। नाथ तथा सिद्ध सम्प्रदायो मे हठ्योग का विशेप प्रचलन है।

शरीर ईश्वर का मदिर है। शरीर का सदुपयोग यही है कि उसको प्रवृत्ति रूपी शत्रु से छुड़ाकर स्वामी को सौप दिया जाय। शरीर मे नौ नाड़ी, बहत्तर कोटे, चौसठ सधि, पटचक्र, षोडपाधार, दशवायु, कुण्डलिनी आदि हैं। ब्रह्मरन्ध्र मे अमृतकूप है, यही चन्द्र तत्व हे। इसमे निरन्तर अमृत झडता रहता है। जिसका पान करके योगी अमर हो जाता है। योगी उर्ध्वरेता होकर अमृतपान के लिए विपरीत करणी मुद्रा मे तालू मूल मे जिह्वा को ले जाता है। इस प्रकार शरीर मे जब प्राण व्याप्त हो जाता है तो विन्दू स्थिर होकर अमृत का रसास्वादन, अनहद नाद का श्रवण और आत्मा का साक्षात्कार होता है। यही मोक्ष की अवस्था हे।

---

1 श्वास प्रश्वास योर्गतिविच्छेद - योगसूत्र- 34

2 देशवन्धाश्चित्तस्य धारणा- योगसूत्र

3 डा० लक्ष्मीनिधि शर्मा- धर्मदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ- 277

द्वितीय भाग- ईसाई धर्म के संदर्भ मे

मौलिक पाप की अवधारणा

ईसाई धर्म मे मौलिक पाप की अवधारणआ से मतलव यह नही है कि आदि पिता ने पाप किया ओर उसका फल आज भी समस्त मानव जाति को भोगना पड रहा है, वल्कि आदि पिता ने स्वर्ग की वाटिका के उस वृक्ष का फल प्रलोभन मे पडकर चखा जिसको खाने के लिए ईश्वर ने उमको मन किया था। मानव जाति के आदि पिता ने शैतान के बहकावे मे पड़कर ईश्वरीय आज्ञा का उल्लघन किया। फलत वह स्वर्ग के राज्य से भ्रष्ट होकर नीचे भूतल पर आ गया तथा स्वर्गीय आनन्द से वाञ्चित होकर आज उसकी संतान दु.ख की ज्वाला मे जल रही है।[1]

मौलिक पाप की अवधारणा से तात्पर्य यह है कि मानव के अन्दर जन्म जन्मान्तरो की पाप प्रवृत्ति ने इतने गहरे रूप से अपनी जड़ जमा ली है कि मनुष्य उससे छुटकारा पाने के लिए कितना भी प्रयास क्यो न करे, वह उससे छुटकारा नही पाता है। मनुष्य पाप-पक को धोने मे सर्वथा असमर्थ है। वह पाप विमोचन कर विशुद्ध नहीं हो पाता है। उसकी प्रवृत्ति इतनी दूषित हो गयी है, उसकी आदत इतनी बिगड गयी है कि वह ईश्वरीय नियमो का पालन करना चाहता है, किन्तु अपनी दुर्बलता के कारण उनका पालन नही कर पाता है। इससे उसको आत्म ग्लानि होती है। उसकी आत्मा को धक्का पहुँचता है कि उसने ईश्वर कृत नियमो का उल्लघन किया। इस सदर्भ मे सत पॉल का कथन अवलोकनीय है- मे चाहता हूँ कि जो उचित है वही करूँपर कर नही पाता, जो मे नही चाहता हूँ ओर जिससे मे घृणा करता हूँ वही मै करता हूँ, मै चाहता हूँ कि अच्छा काम करूँ और कर नही पाता।[2]

धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन जो दुष्प्रवृत्ति का साक्षात् विग्रह है, इसी बात को कहता है-धर्म क्या है? इसको मैं अच्छी तरह जानता हूँ, किन्तु उसका पालन करने मे मेरी रूचि नही है तथा यह भी जानता हूँ कि अधर्म क्या है, किन्तु उससे मै अपने को विरत नही कर पाता हूँ।"[3] यह बात मानव मात्र के लिए है। सत पॉल एव दुर्योधन दोनो के कथन से मानव की मूल प्रवृत्ति पर यथेस्ट प्रकाश पडता है। वह अच्छा कार्य चाहकर भी नही कर पाता तथा बुरा कार्य नही चाहते हुए भी कर लेता है। परिणाम स्वरूप वह अपने आप को पाप के दलदल मे सर्वदा फॅसा हुआ पाता है तथा प्रायश्चित की आग मे जलता रहता है।

ईश्वर बुरे कार्य करने के कारण मानव को दण्डित करता है, क्योकि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी छवि मे ढाला। उसने मानव को सकल्प स्वातन्त्र प्रदान किया। उसे अच्छे-बुरे का ज्ञान दिया। ईश्वर की हार्दिक कामना थी कि मानव इच्छा स्वातन्त्र के आधार पर बुराई को त्यागकर अच्छाई को अपनावे, तथा अन्त मे वह उसके सान्निध्य को प्राप्त करे। मनुष्य ईश्वर के अनुरूप शुभ सकल्पी एव शुभकर्मी हो। वह विवेक से काम ले। वह वासनाओ के कारण अन्धा न हो जाय क्योकि उसके पास ज्ञान नेत्र

---

1 उत्पत्ति ग्रथ - 3 / 5

2 रोमियो- 7 / 15

3 महाभारत- जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति ।
जानामि अधर्म न च मे निवृत्ति ।।

है। भले बुरे का विचार करने के लिए परमात्मा ने उसको सामर्थ्य प्रदान किया है। यदि ऑख रहते हुए भी वह कुएँ में गिरता है तो उसको कष्ट भोगना ही पडेगा। इसमे परमपिता परमेश्वर का क्या दोष है?

मानव का हृदय पवित्र मेमना के समान धवल होना चाहिए, जो अपने मालिक गडेरियें के सकेत पर कटक-रहित मार्ग पर चलता है, तथा बिना कष्ट की जिदगी बिताता है। उसको न तो आत्मग्लानि की आग मे जलना पडता है और नहीं पाप पक मे फॅसना पडता है क्योकि वह अपने स्वामी की इच्छा के अनुरूप कार्य करता है।

ईश्वर का सानिध्य मानव के लिए तभी सभव है, जब वह मेमना के समान अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा के अधीन कर दे। वह प्रभु की आज्ञा का पालन करे, किन्तु ईश्वरीय आज्ञा का उल्लघन करना उसके लिए एक आदत सी बन गयी है। उसके चरित्र की एक सहज क्रिया हो गयी है। ईश्वरीय नियमो के विपरीत आचरण करना उसका सहज स्वभाव हो गया है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य मे पाप-प्रवृत्ति दिनो-दिन घनघोर रूप से गहरी होती गयी। पाप प्रवृत्ति के कारण वह ईश्वर से इतना दूर हो गया कि भले-बुरे का विचार करने की क्षमता उसके अन्दर नहीं रह गयी। यहॉ तक कि उसने इस धरती के गौरव तथा ईश्वर के प्रकाश ईसामसीह तक को बलि देने मे जरा भी नही हिचका। वासना तृप्ति की मानव की उत्कृष्टि इच्छा ने महान विभूति ही हत्या की। इसके सम्बन्ध मे यशायह पैगम्बर ने कहा है- मानव जाति के पाप विमोचनार्थ यीशु मसीह के अपनी बलि दी। जिस प्रकार बलि का पशु पाप वहन कर अपने यजमान को उसके पापो से छुट कारा दिला देता है, उसी प्रकार मसीह भी अपनी बलिकर समस्त मानव जाति को उनके आदि पाप से विमुक्त कर देगा।[1]

मानव जितनी बुराई करता है, वह ईश्वर से क्षमा याचना के द्वारा ही उससे अपना उद्धार कर सकता है। विश्व मे जो अशुभ दिखलाई पड़ता है उसका कारण मानव है। जिस प्रकार एक पिता आचरण भ्रष्ट अपनी सतान को दण्डित करता है, उसी प्रकार ईश्वर मानव जाति को अशुभ कर्म करने के लिए दण्डित करता है। अशुभ के द्वारा मानव जाति का विशुद्धीकरण होता है। जिसप्रकार अग्नि मे तपकर सोना विमल हो जाता है, उसी प्रकार प्रायश्चित और दु.ख की अग्नि मे तप कर मानव विशुद्ध हो जाता है। इससे उसकी पाप राशि धुल जाती है। यातना सहना ईसाई धर्म मे सौभाग्य की बात है। उसके सदर्भ मे कहा गया है- "यातनाओ के द्वारा मानव (जैसा मसीह के जीवन मे देखा जाता है) पूर्णता की ओर प्रगति करता है।"[2]

मानव जीवन मे जो कष्ट उत्पीडन आते है, वे सभी ईश्वर की महिमा को प्रकट करते है। ईश्वर इतना महिमा-मण्डित है कि वह मनुष्य को चेतावनी के रूप मे कष्ट देता है कि वह अब भी सम्भल जाय। मानव ईश्वर द्वारा दी गयी इच्छा स्वातन्त्र्य का दुरूपयोग न करे। मनुष्य सद्‌गुणो से अपने आप को विभूषित करे जिससे वह ईश्वर का प्यारा बन सके। ईसाई धर्म मे कई स्थलो पर यह बतलाया गया है कि केवल शुभ कर्म करनेवाला व्यक्ति ही ईश्वरीय प्रेम को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जीवमात्र से प्रेम कर। ऊँच-नीच, धनी-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित का भेदभाव व उसके हृदय मे न रहे। वह अपने शत्रु से भी प्रेम करे तभी मोक्ष का दरवाजा उसके लिए खुला मिलेगा।

---

1 यशायह- 53/3—5

2 इब्रानियो- 5/8

इस प्रकार हम देखते है कि ईसाई धर्म मे मौलिक पाप की अवधारणा से तातपर्य मानव के अन्दर गहरी पाप की प्रवृत्ति है, जिसको जड मे उखाडने के लिए मनुष्य प्रयत्न करता आ रहा है, किन्तु वह सफल नहीं हुआ है क्योकि वह स्वयं साध्य नहीं है। यह ईश्वरीय अनुग्रह पर आधारित है। बिना ईश्वर कृपा के मोक्ष असम्भव है।

ईसाई धर्म के अनुसार मानव जाति पाप को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करती है। चूँकि सम्पूर्ण मानव जाति आदि पिता का वशज है, इसलिए वह पाप से ग्रसित है। ईसाई धर्म के अनुसार पाप सार्वभौम है। इस्लाम धर्म के अनुसार मानव जाति पाप को उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त नही कर सकती है। इस्लाम आदम के द्वारा की गयी ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना को पाप के बजाय साधारण अपराध मानता है। यदि आदम ने स्वर्ग मे रहना पसद किया होता तब मानव जाति की सृष्टि नही हो पाती। अत इस्लाम धर्म के अनुसार आदम ने निषिद्ध फल खाकर कोई पाप नहीं किया है, बल्कि ईश्वरीय इच्छा का अनुसरण किया है।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य

मनुष्य के चरम उद्देश्य अथवा अंतिम लक्ष्य पर प्राय. सभी धर्मो के समान ईसाई धर्म भी विचार करता है। ईसाई परम्परा के अनुसार मनुष्य स्वभावत पापी है। पाप उसे उत्तराधिकार मे प्राप्त है। आदमी आदम की सतान है और आदम ने निषिद्ध फल को खाकर पाप किया। परन्तु इस पाप से मुक्ति भी सम्भव है। यही मानव की नियति है अथवा मानव का चरम उद्देश्य है। मानव पहले शाश्वत जीवन व्यतीत करता था, परन्तु संकल्प की स्वतन्त्रता के कारण आदम ने इसे खो दिया और मरण-धर्मा हो गया, नरक का अधिकारी हो गया। ईसाई धर्म के अनुसार आत्मा नित्य है, परन्तु स्वर्ग ओर ईश्वर से विमुख होकर शाश्वत मृत्यु को प्राप्त करता है, अधकार का सामना करता रहता है। परन्तु इस अवस्था से त्राण सम्भव है, शाश्वत जीवन को मनुष्य पुनः प्राप्त कर सकता है। अतः शाश्वत जीवन (स्वर्ग सुख) को प्राप्त करना ही मानव का परम भविष्य है। प्रश्न यह है कि क्या शाश्वत जीवन मानव को प्राप्त हो सकता है? ईसाई मान्यता के अनुसार सभी लोग शाश्वत जीवन के अधिकारी नही है। ईसाई धर्म के अनुसार कुछो लोग ही इसके अधिकारी हो सकते है। तात्पर्य यह है कि ईसाई धर्म के अनुसार वेयक्तिक अमरता ही मान्य है।

ईसाई मान्यता के अनुसार शाश्वत जीवन एक पुरस्कार है, जो कुछ लोगो को प्राप्त होता है। इसे धार्मिक व्यक्ति ही प्राप्त करते हे। दूसरी ओर अधार्मिक व्यक्ति नरक का अधिकारी होता है। इससे स्पष्ट है कि शाश्वत जीवन (अमरता) उत्तराधिकार और उपहार होते हुए भी धार्मिक कृत्यों द्वारा अर्जित किया जाता है। यह ईश्वर का स्वतन्त्र उपहार अवश्य है, परन्तु धार्मिक आचरण से प्राप्त है तात्पर्य यह हे कि सकल्प और श्रद्धा से युक्त व्यक्ति ही शाश्वत जीवन के अधिकारी है।

अतः ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य का उद्देश्य वैयक्तिक अमरता को प्राप्त करना है। मनुष्य का भविष्य जीवन उसके वर्तमान जीवन के कर्मों के अनुसार ही निश्चित होता हे। उसी व्यक्ति का भविष्य जीवन सुखमय होता है, जिसने पृथ्वी पर नैतिक जीवन व्यतीत किया है तथा अपने बुरे कर्मो के लिए ईश्वर से क्षमा प्राप्त की है। यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन काल में अशुभ रहा है तो वह दुःखमय जीवन का भागी है। यहाँ पर ईसाई धर्म का अमरत्व विचार वेदान्त दर्शन के अमरत्व विचार से

भिन्न हे। वेदान्त दर्शन मे जीव ब्रह्म मे तदाकार हो जाता है, परन्तु ईसाई धर्म मे मनुष्य ईश्वर मे एकाकार नही हो सकता है। ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य ईश्वर को नही प्राप्त कर सकता हे। वह ईश्वर से पृथक अपनी सत्ता कायम रखता हे।

बपतिस्मा

बपतिस्मा को शरीर शुद्ध करन का सस्कार माना जाता है।[1] ईसाई धर्म मे भूत को अशुभ माना गया हे ओर शरीर का निर्माण भूत तत्वो से ही होता है। यही कारण हे कि ईसाइयो ने शरीर की शुद्धि पर जोर दिया हे। ईसाई धर्म के पूर्व भी बपतिस्मा का प्रचलन था। प्रारम्भिक ईसाइयो ने बपतिस्मा को पाप के उन्मूलन के लिए आवश्यक माना हे। तरतलियन के मत मे बपतिस्मा शाश्वत जीवन का सूचक है। जॉन ने बपतिस्मा को आध्यात्मिक जीवन का प्रतीक माना हे। सत थामस एक्वीनस का मत हे बपतिस्मा के बिना मानव ईसा के प्रेम का पात्र नही हो सकता है।[2]

जल के द्वारा मानव पवित्रता को अपना सकता है। जल की तरह अग्नि को भी शुद्धि का माध्यम माना गया हे। जिस प्रकार भौतिक अपवित्रता का नाश अग्नि से होता है, उसी प्रकार पाप की शुद्धि अग्नि से सम्भव है। इसका कारण यह हे कि पाप भौतिक अपवित्रता का दूसरा नाम हे। ईसाई धर्म मे बपतिस्मा के महत्व का अदाज इसी से लगाया जा सकता हे। कि स्वय ईसा मसीह ने ज्ञान द बैपतिस्ट से यह दीक्षा प्राप्त किया था। इस साधु ने ही भविष्यवाणी की थी कि ऐसा महान पुरुष आने वाला है जो अग्नि के द्वारा ईश्वरीय शक्ति से लोगो को शुद्ध करेगा।[3] स्वर्ग का साम्राज्य निकट है। इसकी अनिवार्यता बतलाते हुए स्वय ईसा मसीह ने बतलाया हे कि बेपतिस्मा सस्कार से सम्पन्न होने से ही पाप से उद्धार होगा।

ईसाई धर्म के समान इस्लाम धर्म ओर हिन्दू धर्म मे भी वाह्य शुद्धि पर जोर दिया गया हे। इस्लाम धर्म मे नमाज मे दाखिल होने के पूर्व व्यक्ति को जल से मुख धोना, दोनो कलाई धोना, नाक का भीतरी भाग धोना आवश्यक माना गया है। हिन्दू धर्म मे भी शरीर की शुद्धि पर बल दिया गया है। किसी प्रकार के धार्मिक कार्य करने के पूर्व स्नान करना आवश्यक माना जाता है। पवित्र जल से स्नान करने के फलस्वरूप मानव का पाप दूर होता है। ईसाई धर्म के समान हिन्दू धर्म मे भी अग्नि को शुद्धि का साधन माना गया हे। शमशान मे लौटने के पश्चात् अग्नि का स्पर्श शुद्धि के लिए अपेक्षित माना जाता है।

ईश्वर साक्षात्कार और उसके साधन

ईसाई धर्म मे यह मान्यता हे कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया। मनुष्य को स्वतन्त्र इच्छा शक्ति दी। उसको ऐसा विवेक दिया जिसके आधार पर वह भले बुरे का ज्ञान कर सकता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह बुराई का त्याग करके भलाई का कार्य करे। मनुष्य भला तभी हो सकता हे, जब वह ईश्वर को समर्पित हो जाय अपनी इच्छाओ को ईश्वर के अधीन कर दे। ईश्वर के आदेशो का पालन करे। परन्तु जब मनुष्य ने दुराचार से अपने आप को कलकित कर लिया तो उसकी ईश्वरीय छवि विकृत हो गयी। ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य को इस पाप से मुक्त होना है। इस पाप वृत्ति से मुक्त होने पर ही

1 डॉ० बी० एन० सिंह- विश्व धर्म दर्शन की समस्याये, पृष्ठ- 174

2 डॉ० एच० पी० सिन्हा- धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 86

3 डॉ० बी० एन० सिंह- विश्व धर्म दर्शन की समस्याये, पृष्ठ- 174

मनुष्य ईश्वर की छवि को प्राप्त कर सकता है। यही पाप बन्धन का कारण है। सतपॉल कहते है यदि मे वही करता हूँ, जिसकी इच्छा नही करता तो उसका करने वाला मै न रहा परन्तु पाप जो मुझमे बसा हुआ है। मे कैसा अभागा मनुष्य हूँ। मुझे इस मृत्यु के देह से कौन छुडायेगा।[1]

सत पॉल के कथन से यही सिद्ध होता है कि पाप के कारण ही बन्धन है और इससे छुटकारा ही मुक्ति है। इस मुक्ति के उपायो पर ईसाई धर्म मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। हिन्दू धर्म की तरह ईसाई धर्म मे भी यह स्वीकार किया गया है कि आत्मिक जीवन जीना ही मुक्ति है। शरीर मे जीना पाप मे जीना है। सत पॉल कहते है-शरीर पर मन लगाया तो मृत्यु है, परन्तु आत्मा पर मन लगाना जीवन और शान्ति है। ईसामसीह ही जीवन है। उनका निवास जिसमे है वही जीवित है अर्थात् मुक्त है। उसे शान्ति है। कितना भी पापी हो यदि ईसा की शरण मे जाय तो वह शाति देगे, क्षमा करेगे। इसीलिए कहा गया है कि यदि किसी मे मसीह का आत्मा नही तो वह उसका जन नही और यदि मसीह तुममे है तो देह पाप के कारण मरी हुई है, परन्तु आत्मा धर्म के कारण जीवित है।[2]

सतपॉल के उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट होता है कि मुक्ति या ईश्वर साक्षात्कार के विभिन्न उपाय ओर मार्ग है जिन पर चलकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। वे मार्ग निम्नोक्त हैं-

(क) विश्वास

(ख) अनुग्रह

(ग) ईश-प्रेम ओर भ्रातृ प्रेम

(घ) ईश्वर कृपा क्षमा एव हृदय की पवित्रता

(ड) नैतिक आचरण

विश्वास

ईसाई धर्म मे मुक्ति के लिए पहला मार्ग है- मनुष्य ईसा-मसीह मे विश्वास करे। वही उद्धारकर्ता हैं। उनके उपदेशो मे विश्वास करना मनुष्य का कर्तव्य है। स्वय ईसा मसीह ने कहा भी है कि द्वार मै हूँ। यदि कोई मेरे द्वारा भीतर प्रवेश करे तो उद्धार पायेगा। जो मुझे देखता है, वह मेरे भेजने वाले को देखता है। मैं जगत मे ज्योति बनकर आया हूँ, ताकि जो कोई मुझपर विश्वास करे वह अधकार मे न रहे।[3]

ईसाई धर्म मे विश्वास या आस्था का विशेष महत्व है। इस आस्था मे मुक्ति सम्बन्धी निश्चय और मुक्तिदाता ईश्वर के प्रति श्रद्धा, ये दोनो निहित है। अर्थात् विश्वास का तात्पर्य है-ईसा भक्त की ओर से मुक्तिकर्ता स्वरूप ईसा मसीह को आत्म समर्पण या प्रापत्ति। इस मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण एक दो उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। विश्वास (ईसा भक्तो का

---

1 रोमियो - 71/20

2 रोमियो - 8/16

3 यूहन्ना - 10/1, 12/45—46

मूल सद्‌गुण) का आदर्श ईसा की माता सत मरियम का माना जाता है। बाइविल मे उनकी प्रशसा इस प्रकार की गयी है धन्य है आप जिन्होने यह विश्वास किया है कि प्रभु ने जो कुछ आप से कहा, वह पूरा हो जायेगा।[1]

जिस ईश-वचन की चर्चा यहॉ पर है, उसके अनुसार सत मरियम की अलौकिक रूप से भावी मसीह की माता बनना आवश्यक था। इस ईश-बचन को ज्योहि सत मरियम ने स्वीकार किया, उसी क्षण ईश-शब्द के मानव स्वरूप मे मूर्त होने के फलस्वरूप मुक्तिकार्य प्रारम्भ हुआ। इस उदाहरण से विश्वास का मुक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट है। विश्वास की दूसरी प्रशसा ईसा मसीह के मुख से ही सुनाई पडती है-धन्य है वे, जो बिना देखे ही विश्वास करते है।[2]

संत पौलुस विश्वास को मुक्ति प्राप्ति की आवश्यक शर्त मानते है। ईसा की मृत्यु पर विजय से प्रमाणित हुआ कि वह मृत्यु के वाद फिर से जी उठे, साथ ही उनका ईश्वरत्व भी व्यक्त रूप से दिखाई पडा। ये दो बाते अर्थात् ईसा का प्रभुत्व और पुनरुत्थान मुक्ति का आधार ही है। इसलिए "यदि आप लोग मुख से स्वीकार करते है कि ईसा प्रभु हैं और हृदय से विश्वास करते है कि ईश्वर (पिता परमेश्वर) ने उन्हे (ईसामसीह) मृतको में से जिलाया है, तो आप को मुक्ति प्राप्त होगी।'[3] विश्वास को ईसाई इसीलिए मुक्ति की शर्त्त मानते है, क्योकि मुक्ति परमेश्वर की ओर अनुग्रह का दान ही है। फिर वरदान को प्राप्त करने की उपर्युक्त मनोवृत्ति विश्वास जैसी ग्रहणशील भवना ही हो सकती है।

अव यहॉ एक प्रश्न यह उठना है कि क्या विश्वास और कर्म मे विरोध है? यदि वास्तव मे मुक्ति ईश्वर के अनुग्रह का फल है तो मानव कठोर परिश्रम करने पर भी उसे प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। ईसा के मुक्ति कार्य के अभाव में मानव साधना की सिद्धि प्राप्त करने मे असफलता अनिवार्य है। इसी व्यर्थ मे कर्म अर्थ है, विश्वास ही मुक्ति दायक हो सकता है, "जो कर्म नही करता, किन्तु उसमे विश्वास रखता है, जो अर्धर्मी को धार्मिक बनाता है, तो वह अपने विश्वास के कारण धार्मिक माना जाता है।[4] सत पोलुस का कथन है कि हम सहिता के कर्मकाण्ड के द्वारा नही बल्कि विश्वास द्वारा पाप मुक्त होते है[5] पर कहने की आश्यकता नही है कि कार्य रहित विश्वास भी निष्फल ही है। इसीलिए एक दूसरे आदि चेले का कहना है कि कर्मो के अभाव मे विश्वास अपने आपमे निर्जीव है।[6] यहॉ कर्म का तात्पर्य भ्रातृ प्रेम के कार्य है।

अनुग्रह

विश्वास मानव की ओर से मुक्ति दान प्राप्त करने के लिए ग्रहणशीलता है। परमेश्वर की ओर से मुक्ति असीम अनुग्रह का फल है। यूनानी मूल शब्द 'खारिस' अर्थात् अनुग्रह मे दयालुता, कृपालुता, उपकार, सद्‌भाव, सदिच्छा ये सब सन्निहित है। अनुग्रह शाति से भी सम्बन्ध रखता है जेसे-सत पोलुस रोम नगर मे रहनेवाले ईसा भक्तो को इस प्रकार सम्बोधित करते है-

---

1 लूकस - 1/45
2 योहन- 20/29
3 रोमियो के नाम पत्र- 10/9
4 वही, 4/5
5 वही, 3/28
6 याकूब का पत्र- 2/17

हमारा पिता ईश्वर और प्रभु ईसामसीह आप लोगो को अनुग्रह तथा शांति प्रदान करें।[1] ईश्वर का अनुग्रह मुक्ति का स्रोत है। इन्ही को (अनुग्रह) प्राप्त कर ईसा भक्तो को सब कुछ प्राप्त करने का आश्वासन मिलता है। सत पौलुस के शब्दो मे उन्होंने (पिता परमेश्वर ने) हम सबो के लिए उन्हे (ईसा, अपने नीजी पुत्र को) समर्पित कर दिया, तो इतना देने के बाद क्या वह हमे सब कुछ (जीवन का परमलक्ष्य नही देगा?[2]

मुक्ति के परिणाम स्वरूप मानव की परमेश्वर से एकता स्थापित की जाती है। इसलिए अनुग्रह के फलस्वरूप, जो मुक्ति का स्रोत है, मानव परमेश्वर को स्वीकार्य भी बन जाता है। सत मरियम (ईसा की माता) जिस प्रकार विश्वास का आदर्श है, उसी प्रकार दूसरो से बढ़कर परमेश्वर को सुग्राहय भी है। इसका कारण यह है कि उनका विश्वास इतना गहरा था कि वह मुक्तिकर्त्ता को ही गोद मे ग्रहण करने के योग्य सिद्ध हुई। इसलिए-उन्हे प्रभु की कृपापात्री भी कहा जाता है। अर्थात् उन्हे अनुग्रह की पूर्णता मुक्तिकर्त्ता के रूप मे मिली। दिव्य अनुग्रह की ओर से ही सभी ईसा-भक्तो को मुक्ति प्राप्त होती है। फिर भी विश्वास और कर्म के विरोध के सदर्भ मे हमने यह भी देखा है कि मानव को साधना करके मुक्ति प्राप्त करनी पड़ती है। मुक्तिकार्य का एक दूसरा विरोधाभास यह है कि मानव की साधना ही अनुग्रह का दान है। अपनी ईसा मसीह की सेवा के विषय मे सत पौलुस लिखते है- मैने उन सबसे अधिक परिश्रम किया है, मैने नही बल्कि ईश्वर की कृपा ने, जो मुझमे विद्यमान है।[3] इसलिए अन्तत न केवल मुक्ति, बल्कि साधना और सिद्धि भी अनुग्रह का फल है। वास्तव मे मुक्तिप्राप्त करने मे मानव जितना अधिक असमर्थ है, उतना अधिक उसमे परमेश्वर अनुग्रह के रूप मे क्रियाशील है। ईश्वर का सत पौलुस से कहना इस प्रकार है- मेरी कृपा तुम्हारे लिए पर्याप्त है, क्योकि तुम्हारी दुर्बलता मे मेरी सामर्थ्य पूर्ण रूप से प्रकट हो जाती है।[4]

विश्वास द्वारा मानव मुक्ति का अनुग्रह ग्रहण करता है तथा प्रार्थना द्वारा वह उसकी प्राप्ति के लिए अपना निवेदन प्रकट करता है। ईसा गुरु ने स्वय ही अपने चेलो को प्रार्थना करना सिखाया था। उनकी शिक्षा के अनुसार ईसा भक्त परमेश्वर को अपना पिता कहकर सम्बोधित करते है, उनकी आर से वे ईश-राज्य की स्थापना की प्रतीक्षा करते है। भौतिक आवश्यकताओ के अतिरिक्त उनसे पाप क्षमा प्राप्त करने की भी आशा करते है। ईसा मसीह से प्राप्त ईसाइयो की प्रार्थना इस प्रकार है- ' हे स्वर्ग मे विराजमान हमारे पिता . . . तेरा राज्य आये . हमारा प्रतिदिन का आहार हमे दे। हमारे अपराध क्षमा कर, जैसे हमने भी अपने अपराधियो को क्षमा किया है।"[5] अतिम शब्दो से स्पष्ट है कि भ्रातृ प्रेम के अभाव मे हमारी प्रार्थना पिता परमेश्वर को अग्राह्य ही होगी।

---

1 रोमियो के नाम पत्र- 1/7

2 वही, 8/32

3 कुरीथियों के नाम पहला पत्र- 15/10

4 कुरीथियो के नाम दूसरा पत्र- 12/9

5 मत्ती- 6/9/12

ईश प्रेम और भ्रातृ प्रेम

सत योहन द्वारा दी गयी परमेश्वर के सारतत्व की परिभाषा है- 'ईश्वर प्रेम हे' । फलत ईश्वर का ज्ञान शुद्ध बोद्धिक रूप से नही प्राप्त किया जा सकता हे, वल्कि प्रेम के स्वभाव को अपनाने से ही इस बात का अनुभव मिलता है कि ईश्वर क्या हे। प्रेम को प्रेम के द्वारा ही जाना जा सकता हे। इसलिए "जो प्यार करता है वह ईश्वर की संतान हे और ईश्वर को जानता हे।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सत योहन की दृष्टि मे प्रेम ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता हे। प्रेम के फलस्वरूप ईश्वर भक्त ईश-जीवन का सहभागी भी वन जाता हे, या सत योहन के शब्दो मे कहे तो वह परमेश्वर मे निवास करने लगता हे। "ईश्वर प्रेम है और जो प्रेम मे बना रहता है, वह ईश्वर मे और ईश्वर उसमे निवास करता है।[2] इस परस्पर अन्तर्यामिता का आधार प्रेम ही हे।

ईसाई धर्म मे प्रेम द्विविध है- वह ईशप्रेम भी है और भ्रातृप्रेम भी है। इन दोनो को ईशा एक ही स्तर पर मोलिक धर्म मानते है। जब किसी शास्त्री ने उनसे पूछा था कि मूसा सहिता मे सवसे महत्वपूर्ण आज्ञा कौन सी है, ईसा ने सहिता मे उद्धृत करके उससे कहा-अपने प्रभु ईश्वर को अपने सम्पूर्ण हृदय, अपनी समपूर्ण बुद्धि से प्यार करो। यह सबसे बड़ी आर पहली आज्ञा है। दूसरी आज्ञा उसी के सदृश है-अपने पडोसी को अपने समान प्यार करो।[3] ईसाई धर्म मे प्रेम का आदेश वास्तव मे इब्रानी परम्परा से ही प्रचलित था। फिर ईसा, इसे एक नया आदेश कैसे कह सकते हैं? ईसा मसीह का कथन है- मैं तुम लोगो को एक नयी आज्ञा देता हूँ। तुम एक दूसरे को प्यार करो? यह इस अर्थ मे एक नया आदेश है कि प्रेम का आदर्श ईसा-मसीह ही प्रस्तुत करते हे- "जिस प्रकार मैंने तुम लोगो को प्यार किया, उसी प्रकार तुम भी एक दूसरे को प्यार करो।[4] ईसा ने अपने भाइयो के लिए आत्म बलिदान किया था-"हमप्रेम का मर्म इसी से पहचान गये कि ईसा ने हमारे लिए अपना जीवन अर्पित किया हे ओर हमे भी अपने भाइयो के लिए अपना जीवन अर्पित करना चाहिए।[5]

ईश प्रेम ओर भ्रातृप्रेम एक दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं। भ्रातृप्रेम के अभव मे ईश-प्रेम की कल्पना तक नही हो सकती। यदि कोई यह कहे कि मै ईश्वर को प्यार करता हूँ और वह अपने भाई से बैर करे, तो वह झूठ है। यदि कोई अपने भाई को, जिसे वह देखता है, प्यार नही करता, तो वह ईश्वर को जिसे, उसने कभी देखा नही, प्यार नही कर सकता हे।[6] अधिक सहज बात को जो नही कर सकता, अधिक कठिन बात को करने का दावा वह कैसे कर सकेगा? फिर ईसा इस प्रकार वर्णितप्रेम को अपने चेलो का विशिष्ट लक्षण मानते है। कारण-चेलो को अपने गुरु का अनुसरण करना चाहिए। ईसा का अपने चेलो से कहना है-यदि तुम एक दूसरे को प्यार करोगे, तो उसी से सव लोग यह जान जायेगे कि तुम मेरे शिष्य हो।[7]

---

1 सत योहन का पहला पत्र- 4 / 8
2 वही - 4 / 16
3 मत्ती- 22 / 37–39, विधि विवरण- 6 / 5, लेवी ग्रथ- 19 / 18
4 संत योहन का पहला पत्र- 13 / 34
5 सत योहन का पहला पत्र- 3 / 16
6 वही, 4 / 20
7 योहन- 13 / 45

ईसा से प्रेरित इस प्रेम की विलक्षणता यह है कि यह सहजातियो तक सीमित न रहकर सभी को चाहे वे किसी भी वर्ण या जाति क क्यो न हो-अपना भाई मानता हे। ईसाई धर्म को प्रेम मार्ग भी कहा जा सकता है, इसका कारण यह हे कि ईसाई धर्म प्रेम मार्ग भी कहा जा सकता है, इसका कारण यह है कि ईसाई कार्य प्रेम पर अत्यधिक बल देता है। अपने विख्यात प्रेम के गुणगान मे सत पौलुस उसे सर्वोत्तम मार्ग कहते है । विश्वास, भरोसा और प्रेम इन तीन आधारभूत धर्मो मे प्रेम ही सबसे महान् हे।[1]

ईश्वर कृपा, क्षमा एवं हृदय की पवित्रता

ईसाई धर्म मे मुक्ति की प्राप्ति के लिए ईश्वर की कृपा आवश्यक है। ईश्वर के समक्ष बालकवत् सरल बनकर जाने से क्षमा किया जायेगा। ईश्वर की कृपा उसी पर होगी जिसका विश्वास ईसा मे, उनके उपदेशो मे है। जिनका अन्तकरण शुद्ध है, जो नम्र है, जो आत्मिक जीवन जीना चाहते है, वे ही क्षमा के पात्र हे। ईसा मसीह कहते हे यदि तुम न फिरो ओर बालको के समान न बनो तो स्वर्ग के राज्य मे प्रवेश करने नहीं पाओगे । मनुष्य के सब प्रकार के पाप और निन्दा क्षमा की जायेगी, पर आत्मा की निन्दा क्षमा न की जायेगी।[2]

इस प्रसग मे यह कहना आवश्यक हे कि ईसाई धर्म मे जहॉ मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा पर निर्भर रहना आवश्यक बतलाया गया है, वहॉ हिन्दू धर्म या बोद्ध धर्म मे मनुष्य का प्रयास अधिक आवश्यक है। परन्तु डा० राधाकृष्णन का कहना हे कि ईसाई धर्म मे भी मनुष्य के प्रयास ओर उसके कर्मो के आधार पर ही मुक्ति निर्भर हे। उनके शब्दो मे ईसा को भी मान्य है कि आध्यात्म जगत के भी नियम हे। तुच्छ तृण चारे, गुप्त धन, मोती, पथ भ्रष्ट भेड़, मुद्रा, दश कुमारियो एव वैवाहिक वस्त्रो की दृष्टांत कथाओं का यही संकेत है कि हमारी मुक्ति अपने ही कर्मों से हो सकती है।[3]

नैतिक आचरण

ईसाई धर्म मे मुक्ति के मार्ग के रूप मे नैतिक आचरण की शुद्धता पर भी वल दिया गया है, क्यो कि मानव का भावी जीवन वर्तमान के कर्मो पर निर्भर होता है। वही व्यक्ति दैवी साम्राज्य का अधिकारी होगा जिसका नैतिक आचरण शुद्ध रहा है अर्थात् जिसने नैतिक जीवन व्यतीत किया है तथा बुरे आचरण के लिए ईश्वर से क्षमा की प्रार्थना की है। पाप से क्षमा होने पर ही उसे मुक्ति मिलेगी। इसी से यह भी प्रकट होता है कि ईसाई धर्म वैयक्ति अमरता में विश्वास रखता है। अन्य धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म नैतिकता पर इतना अधिक बल देता है कि व्यावहारिक दृष्टि से कुछ लोग इसे संभव नहीं मानते परन्तु इतना सत्य है कि मानव जीवन के लिए नैतिकता का अतिवादी रूप बहुत चौकाने वाला भी नही है, क्योकि नैतिकता का प्रश्न पशु जीवन के लिए नही मनुष्य के लिए ही उठाया जा सकता है। ईसा का यह उपदेश मनुष्य को ही दिया जा सकता है कि मै तुमसे कहता हूँ कि अपने बैरियो से प्रेम रखो और अपने सताने वालो के लिए प्रार्थना करो।[4]

---

1 कुरीथियों के नाम पहला पत्र- 13 / 31, 13 / 13

2 यूहन्ना- 12 / 45

3 डा० राधाकृष्णन- भारत की अन्तरात्मा, पृष्ठ- 90, मैथ्यू - 13 / 24—30, 13 / 45—46

4 डा० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्मदर्शन - पृष्ठ - 176—177

ईसाई धर्म मे नैतिकता का सर्वोच्च स्थान हे। नैतिकता इस धर्म का केन्द्र बिन्दू है। दया, न्याय, सहानुभूति, मित्रता, परोपकार, क्षमा, दान, नम्रता, आत्म बलिदान आदि सद्‌गुणो को इस धर्म मे प्रधानता दी गयी है। धर्म और नैतिकता का गहरा सम्बन्ध तो प्राय सभी धर्मो मे है परन्तु ईसाई धर्म मे जितना बल नैतिकता पर दिया गया है, उतना अन्य किसी धर्म मे नहीं मिलता है। नैतिकता के बिना धार्मिक आचरण ओर व्यवहार की व्याख्या ही सम्भव नही है। ईसाई धर्म मे प्रचलित कुछ नैनिक नियम इस प्रकार हे-[1]

(क) दीन भाव से सम्पन्न व्यक्ति धन्य हे, उन्हे ही ईश्वरीय साम्राज्य की नागरिकता प्राप्त होगी।

(ख) विनय युक्त पुरुष धन्य हे, वे ही पृथ्वी पर विजयीं होगे।

(ग) दयायुक्त पुरुष धन्य है, क्योकि वे ही भगवान की दया के पात्र बनेगे।

(घ) जिनका अन्त करण शुद्ध हे, वे धन्य हैं, उन्हे ही ईश्वर का साक्षात्कार होगा।

(ड) शान्ति के प्रचारक धन्य है, वे ही ईश्वर के पुत्र कहे जायेगे।

उपरोक्त वचनो से नेतिकता का महत्व स्पष्ट है। इन उपदेशो मे दीन, अमृत, दया, नियम, अन्त करण की पवित्रता और शाति भाव का महत्व स्वीकार किया गया हे।

ईसाई धर्म की नैतिकता का आधार यहूदी नेतिक नियम ही है। परन्तु ईसाई नैतिकता यहूदी नेतिकता से भिन्न है। ईसा मसीह ने नैतिकता को एक नयी दिशा दी हे।[2] ईसामसीह की नैतिकता मे आन्तरिकता पर अधिक बल दिया गया है। इसीलिए ईसाई धर्म मे नेतिक नियम वाह्य विधान ही नही वरन् आतरिक आचरण है। आतरिक पवित्रता के साधन माने गये है। नैतिक नियम आतरिक प्रेम और व्यवहार के साधन है। उदाहरणर्थ-यहूदी धर्म मे पैगम्बर ने चोरी, व्यभिचार से बचने के नियम बनाये है। इनका पालन करना धर्म माना गया है। परन्तु इन नियमो का पालन वाह्य है, आन्तरिक नही । ईसामसीह के द्वारा ये नियम विधानवाद का रूप न लेकर अध्यात्मवाद का रूप ले लेते है, क्योकि इनके पालन मे आतरिकता पर बल हे। ईसामसीह का कहना हे कि मानव को आंतरिक क्रोध पर, द्वेष भाव पर विजय प्राप्त करना चाहिए।[3] इसी प्रकार पर-स्त्रीगमन को यहूदी धर्म मे व्यभिचार माना गया है तथा मनुष्य को इससे बचने की सलाह दी गयी हे। ईसामसीह के अनुसार व्यभिचार तो वासनापूर्ण दृष्टि है। अत व्यभिचार से बचने के लिए आवश्यक है कि हम स्त्री को वासना की दृष्टि से न देखे। अत वासना ही व्यभिचार है।[4]

ईसामसीह की नैतिकता सर्वव्यापी ओर मानवतावादी हे। उनकी दृष्टि मे कोई शत्रु नही। यदि कोई शत्रु है तो उसे मित्र वनाने मे ही कल्याण है। यह व्यक्ति और समाज दोनो के लिए कल्याणकारी है। ईसामसीह की यह शिक्षा भगवान बुद्ध की

1 डा० बी० एन० सिह- विश्वधर्म दर्शन की समस्याये, पृष्ठ - 170

2 वही, पृष्ठ - 170

3 वही, पृष्ठ - 170

4 वही, पृष्ठ - 170

शिक्षा के अत्यन्त निकट है। भगवान बुद्ध का कहना है कि-शत्रुता से शत्रुता का शमन नही हो सकता, शत्रुता तो मित्रता से समाप्त हो सकती है। विश्व के दोनो महात्मा तथा महा पुरुष शत्रुता का अन्त मित्रता मे ही मानते है। द्वेष पर प्रेम की विजय वतलाते है।[1] ईसा मसीह का यह उपदेश मानवता के लिए अत्यन्त मूल्यवान है। यही विश्वबन्धुत्व नथा सुख शाति का मार्ग है।

कुछ लोग ईसा मसीह की नैतिक शिक्षा का यथार्थ तात्पर्य नही समझने के कारण उनकी आलोचना करते है। नीत्शे ने ईसामसीह के क्षमा और सहनशीलता को स्त्रैण नैतिकता माना है। नीत्शे के अनुसार यह अपुरुषत्व है। परन्तु यह आलोचना भ्रात है। क्षमा और दया, ईश्वरीय गुण है। अपराध करना तो मानव का स्वभाव है, परन्तु अपराधो को क्षमा करना ईश्वरीय गुण है। क्षमा और दया करने वाला व्यक्ति क्षमाधाम और दया सागर परमात्मा का प्रियहोता है। ईसा मसीह की नैतिकता मे महात्मा गॉधी अत्यन्त प्रभावित थे तथा उन्होने इसे अपने जीवन मे चरितार्थ करने का प्रयास भी किया है।

साराश यह है कि ईमाई धर्म के अनुसार मानव जीवन का चरम उद्देश्य पाप से मुक्त होना और वैयक्ति अमरता को प्राप्त करना है, परन्तु इसकी अमरत्व की धारणा हिन्दू धर्म मे वेदान्त की धारणा से भिन्न है। वेदान्त मे ब्रह्म और जीव मे एकाकारता हो जाती है, परन्तु ईसाई धर्म मे एकाकारता नही होती, इस धर्म मे मनुष्य ईश्वरत्व को नही प्राप्त करता, वरन वह ईश्वर मे अलग अपनी सत्ता वनाये रखता है।

समीक्षात्मक रूप मे हम कह सकते है कि इसाई धर्म के अनुसार पाप से निवृत्ति होने के बाद ही मुक्ति सभव है। ईश्वर के प्रतिरूप मे मनुष्य ने झूठे ओर अनित्य रूप को चाहा तथा अपने सच्चे रूप अर्थात् ईश्वर से दूर भागता रहा है, जिसके कारण उसमे पाप का उदय हो गया, परन्तु मनुष्य मे ईश्वर ने स्वतन्त्र ईच्छा शक्ति दी है, उसका वह उपयोग कर सकता है। उस पर उसका अधिकार है। उसे कोईछीन नही सकता, कुछ समय के लिए टल जरूर सकता है। डा० राधा कृष्णन का कहना है- 'वह सिद्धान्त जो मनुष्य को स्वभावत पापी समझता है, मुझे भय है सत्य नही सिद्ध किया जा सकता । हमारी प्रकृति तो दैवी है। जो पुरुष ससार मे आता है वह ईश्वरीय ज्योति से युक्त रहता है। यदि मै तुममे न होता तो तुम हमारी खोज नही कर सकते थे इस दृष्टि से पाप-वृत्ति-त्याग किसी नवीन वृत्ति का आविर्भाव नही है। मुक्ति अपने भीतर के देवत्व के क्रमिक विकास का परिणाम है, ईश्वरीय करुणा का फल नही।[2] इस प्रकार यदि ईसाई धर्म मे पाप पर अधिक बल न दिया जाय तो मुक्त आत्मा के लक्षण हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म मे समान ही है। मुक्ति का फल ज्ञान, प्रेम तथा आनन्द है। मुक्त पुरुष के पास केवल ज्ञान तथा प्रेम ही नही होता वरन उसके पास तो वह शांति भी होती है जो मनुष्य तथा परिस्थितियो की शक्ति से परे होती है और जिसका वर्णन हिन्दू किया करते हैं। यही वह आनन्द है, जिसकी और ईसा ने संकेत किया था-अपना आनन्द मैं तुम्हे देता हूँ और तुम्हारा आनन्द तुमसे कोई छीन नही सकता है। इस प्रकार ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म के मुक्ति सिद्धान्त मे पर्याप्त साम्य है। डा० राधाकृष्णन ने दो वातो पर विशेष वल दिया है। एक है अपने त्याग से दूसरे के पापो का प्रायश्चित

---

1 वही, पृष्ठ - 170

2 डा० राधाकृष्णन- भारत की अन्तरात्मा, पृष्ठ- 96

करने का सिद्धान्त और दूसरा ईसा के बलिदान के फल स्वरूप ईश्वर द्वारा मनुष्यों को फिर से अपना लेने का सिद्धान्त। उनका कहना है कि यदि इन दो बातो मे विश्वास न करे तो हिन्दू धर्म ओर ईसाई धर्म मे मुक्ति के स्वरूप तथा साधन के सम्बन्ध मे भेद नही रह जाता। उनका कहना है कि यह बात तो निर्विवाद हे कि सभी साधुओ की तरह ईसा भी किसी हद तक हमे पापो से बचाकर ईश्वर की ओर ले जाता है, किन्तु ईसा का बलिदान लोगो के पापो का प्रायश्चित करे, यह अनर्गल बात हे।[1]

तृतीय भाग - इस्लाम धर्म के संदर्भ में

मानव की महत्ता तथा पाप विहीनता

मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना है। मानव की सुख-सुविधा के लिए ही ईश्वर ने सृष्टि एवं सृष्टि की सारी वस्तुओ की रचना की है। मानव का इस्लाम धर्म मे कितना महत्व है, वह इस बात से प्रकट होता है कि उसकी रचना के बाद अल्लाह ने फरिश्तो से कहा "आदम के आगे झुक जाओ"।[2] मानवो मे विचार करने की शक्ति थी, इसलिए अल्लाह ने उसे स्वर्गदूतो से श्रेष्ठ माना है। ईश्वर या अल्लाह ने मनुष्यो मे अपनी सत्ता को डालकर उसे सृष्टि का मुकुट बनाया है। मानव इस धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। कुरान मे अल्लाह ने फरिश्तो से कहा है-

"मै जमीन पर खलीफा बनाने वाला हूँ अर्थात् पृथ्वी पर जाओ और मेरे द्वारा दिए गये अधिकारो का प्रयोग तुम मेरे आदेशो के अनुसार करो"[3]। ईश्वर ने स्वय कहा है 'हे इब्लिश (मनुष्य को) मैने दोनो हाथो से बनाया है[4] एव मनुष्य को खून के कतरो से बनाया हे।[5]

अल्लाह का कहना हे कि वस्तुत. उन्होने मनुष्य को श्रेष्ठ एव सर्वोच्च बनाया है, फिर भी मनष्यो मे तीन श्रेणिया हैं - हीन, मध्यम एव उत्तम। कुछ लोग ऐसे है जो स्वय पर अत्याचार करने वाले है और कुछ उनमे से मध्यम गति वाले हैं, और कुछ उनमे ईश्वर की सतकृतियो मे सबसे आगे बढ़ जाने वाले है।[6] अब यहॉ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि मनुष्य के जन्म का क्या कारण है? इसके उत्तर मे यह कहा जाता हे कि मनुष्य के जन्म का कारण आध्यात्मिक हे। ईश्वर ने मनुष्य को अपनी भक्ति के लिए उत्पन्न किया है।

कुरान मे स्पष्टत. कहा गया हे "मैने 'जीन' और मनुष्यो को इसलिए उत्पन्न किया है कि वे मेरी भक्ति करे, मैं उनसे कोई जीविका नही चाहता हूँ कि वे मुझे खिलाये, ईश्वर ही सबको जीविका देने वाला, बलशाली एव सर्वशक्तिमान है"।[7]

---

1 वही, पृष्ठ- 99—00
2 कुरान- 2 1
3 कुरान- 2 27—28
4 कुरान- 38 75
5 कुरान- 96 1
6 कुरान- 95 4—5
7 कुरान- 51 56—58

उपरोक्त कथनो से यह प्रतीत होता है कि इस्लाम मे मनुष्य का अपना अलग अस्तित्व है, परन्तु मानव ईश्वर की रचना है। ईश्वर से महान और उसके तुल्य मनुष्य नही माना जा सकता है। मनुष्य ईश्वर का दास है, ईश्वर स्वामी है।

इच्छा स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध मे इस्लाम मे कही तो मनुष्य को अपनी इच्छा से किये गये कर्मो के प्रति उत्तरदायी माना गया है और कही यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि क्रियाये तथा उसका भाग्य ईश्वर द्वारा पहले से ही निर्धारित कर दिया गया है। कुरान का यह पद मनुष्य के उत्तरदायित्व और ईश्वरतन्त्रता दोनो की पुष्टि करता है- तेरा जो कल्याण होता है, वह ईश्वर की ओर से होता है ओर जो कष्ट तुझे पहुँचता है, वहे तेरी वासना की ओर से"।[1] इसलिए कुछ विचारक इस्लाम मे मनुष्य की इच्छा को न तो पूर्णतया स्वतत्र ही मानते हे ओर न ही पूर्णतया नियत ही मानते है।

मु० जमाली ने पूर्ण नियतिवाद ओर पूर्ण स्वतन्त्रता वाद का खण्डन किया है।[2] ईश्वर ने मनुष्य मे यह योग्यता भर दी है कि वह उसके इशारे को समझे। कुरान में कहा गया है "निश्चित रूप से हमने उसे मार्ग दिखा दिया है। वह कृतज्ञ हो या कृतघ्न।[3] पवित्र कुरान मे ही पुन: कहा गया है हमने उसे दो ऑखे, जिह्वा, दो ओठ नही दिया है और दो मार्गो के लिए संकेत नही किया हे।[4] वहॉ यद्यपि यह भी कहा गया है मनुष्य ने भौतिक प्रगति कर ली है, लेकिन अभी उसे दैवी निर्देशन सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति करनी है[5]। ईश्वर सम्पूर्ण शुभत्व, दया तथा प्रेम का स्रोत है। आवश्यकता है ईश्वर द्वारा दी गयी बुद्धि तथा समझ से उसके निर्देश को पहचानना, समझना ओर उसके अनुसार कार्य करना, जिससे शुभ की प्राप्ति हो, अब यह मनुष्य का उत्तरदायित्व है कि वह क्या करे और क्या न करे।[6] मनुष्य अपने कृत्यो द्वारा देव और दानव दोनो बन सकता है।

मानव की दुर्बलता ने ईश्वरीय इच्छा का उल्लघन करने के लिये उसे बाध्य किया जिसके दुष्परिणाम स्वरूप उसे पृथ्वी पर भेज दिया गया। अल्लाह ने कहा- हे आदम, तुम और तुम्हारी पत्नी दोनो जन्नत मे रहो, और जहॉ चाहो, इच्छापूर्वक खाओ, परन्तु वृक्ष (निषिद्ध वृक्ष) के निकट न जाना नही तो तुम जालिम ठहरोगे"। किन्तु मनुष्य ने शैतान के फेर मे पडकर ईश्वर की आज्ञा को ठुकरा दिया, जिससे उसे स्वर्गीय सुख से वाचित कर दिया गया। ईश्वर की आज्ञा के उल्लघन के दण्डस्वरूप उसे धरती पर भेज दिया गया है। यहॉ उसे अवसर दिया गया है कि वह अपने शुभ कर्म के द्वारा जन्नत मे किये गये पापो को धो डाले। मानव के पाप-पक प्रक्षालन हेतु ही मुहम्मद साहब को पैगम्बर के रूप में इस पृथ्वी पर भेजा गया है, जिससे कि मानव उनके सदु-पदेशो के अनुरूप अपने जीवन को सरलता पूर्वक ढाल सके। इस सन्दर्भ मे कुरान मे वर्णन मिलता है - " लोगो को जबकि उनके पास मार्गदर्शक आ गया तो वे इमान लावे ओर अपने 'रब' से क्षमा प्रार्थना करे"।[7]

---

1 कुरान- 4 79
2 डा० एच० एन० मिश्र- विश्वधर्म, पृष्ठ- 130
3 कुरान- 76 3
4 कुरान- 76 3
5 कुरान- 8 10
6 मु० जमाली- लेटर्स ऑन इस्लाम- पृष्ठ- 94-95
7 कुरान- 18 15

इस्लाम मे पाप कुरान, ईश्वर तथा पैगम्बर मे अविश्वास से होता है। इसलिए कुरान मे बार-बार यह दोहराया गया है "ईश्वर मे, पवित्र ग्रथ मे, विश्वास करो। यह वह ग्रथ है जिसमे कोई संदेह नही। कल्याण मागियों का मार्गदर्शक है। जो लोग इन वचनो को सुनते है ओर उनमे से सर्वोत्तम पर चलते है, उन्ही को परमात्मा ने मार्ग दिखाया है ओर वे ही लोग बुद्धिमान है"।[1]

मानव की परमागति से जो प्रश्न जुडा हुआ हे वह यह हे कि मनुष्य को पाप से मुक्ति केसे मिलेगी या पाप विमाचन किस प्रकार होगा? यदि पाप से छुटकारा नही मिला तो दोजख (नरक) की प्राप्ति होगी तो क्या यही मानव जीवन की सार्थकता हे? इस्लाम मे इस प्रश्न पर पवित्र कुरान की घोपणा हे कि यदि गलती से अनजान मे कोई पाप हो जाता हे तो पश्चाताप करते हुए ईश्वर से क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करने पर पाप से मुक्ति मिल जाती हे। पाप से मुक्ति के लिए इस्लाम मे कुछ कर्मकाण्ड का विधान है, जिन्हे धार्मिक कर्तव्य कहा जाता हे। जैसे - नमाज पढ़ना, जकात देना, रोजा रहना, हज करना इत्यादि।

सर्वोपरि धर्म परायण होना पाप से मुक्ति का साधन माना गया है। पवित्र कुरान मे कहा गया है- " आगे से वह बचाया जाएगा, जो बहुत धर्म परायण हो, जो अपना धन ईश्वर के मार्ग मे देता है, जिससे कि वह विशुद्ध हो जाए।" इस्लाम धर्म मे ईश्वर ही सबकुछ माना गया है। ईश्वर के प्रसन्न होने पर सारे पाप नष्ट हो जाते हे। प्रभु के चरणो मे अपने को समर्पित कर भक्ति के द्वारा मनुष्य मानव देह धारण करने की सार्थकता सिद्ध कर सकता है। ईश्वर की मर्जी पर अपने को पूर्णत छोड़ दे। इस्लाम का अर्थ ही है- शरण लेना। इस्लाम की भावना है-राजी है हम उसी मे जिसमे तेरी रजा है, "यो भी वाहवा है औ वो भी वाहवा है।"[2]

मानव जीवन का चरम लक्ष्य

मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है, ऐसा इस्लाम धर्म मे बतलाया गया है, तथा कुरान मे इसी अवस्था को जन्नत मे प्रवेश कहा गया है। कुरान मे कहा गया है "मनुष्य को जो सबसे बडा आनन्द प्राप्त होगा वह ईश्वर साक्षात्कार होगा।"[3] इस्लाम धर्म के अनुसार जगत तथा जगत की समस्त वस्तुए सत्य है, तथा एक निश्चित सत्ता को धारण करती है। ईश्वर ने जगत का निर्माण मात्र क्रीडा या मनोरजन के लिए नही किया हे, अपितु एक सत्य उद्देश्य के लिए किया है।[4] यद्यपि की जगत की सत्ता यथार्थ हे, तथापि यहाँ की समस्त चीज ईश्वराश्रित हे। जगत ओर जीव सत्ता मे आने के लिए ईश्वर पर आश्रित हे।[5] जगत यथार्थ होने के साथ-साथ नाशवान हे। इसका अत सुनिश्चित हे। अत. जगत की अवस्था और इस अवस्था मे प्राप्त इन्द्रिय या भोतिक सुख की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य नही बनाया जा सकता है, क्योकि इन विषयो से प्राप्त सुख मनुष्य को पूर्ण सतोष

---

1 कुरान - 3 7, 39 18

2 कुरान - 92 1 21

3 मु० उमरूद्दीन- दी इथिकल फिलॉस्फी ऑफ अलगजाली, पृष्ठ - 130

4 कुरान - 44 38 39, 3 191, 38 27

5 कुरान - 7, 54

नही दे सकते है।"पूर्ण आनन्द और सतोष की प्राप्ति तो ईश्वर साक्षात्कार या मोक्षावस्था में ही हो सकती है" ।[1] अतएव मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य इस जगत के मोह-माया का परित्याग करके अमरत्व की प्राप्ति मे है, जो मरणापरान्त जन्नत मे प्रवेश पाने पर ही हो सकता है।[2]

प्रसिद्ध सूफी सत शेख निजामुद्दीन ओलिया के अनुसार यदि सभी पापो को एक कोठरी मे रखा जाए तब जगत क प्रति प्रेम या आसक्ति उस कोठरी के लिए कुजी का कार्य करता है, जबकि इसके विपरीत यदि सभी आज्ञा पालन दूसरी कोठरी मे रख दिया जाए तब सतो के प्रति प्रेम उस कोठरी का द्वार खोल देता है।[3] लेकिन जगत का परित्याग इस बात का परिचायक नही है कि मनुष्य मानवता की सेवा से मुख मोड ले और सन्यासी का जीवन व्यतीत करे। मानवीय जीवन की सार्थकता मानवता की सेवा है, जो जागतिक लालसाओ और लालचो से रहित होने पर ही हो सकता है।[4] जो मनुष्य जागतिक प्रपचो मे अपने आप को लिप्त कर लेता है, वह अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाता है। वह जगत के सुखो को ही वास्तविक सुख समझने लगता है। ऐसे मनुष्य का अखिरत मे उद्धार असम्भव है। जागतिक विषयो मे आसक्ति एक अप्रमाणिक या अमान्य दुःख है।[5]

वह मनुष्य निम्न कोटि का है जो अपने आप को मात्र बढिया भोजन करने और सुन्दर वस्त्र पहनने मे ही लिप्त रखता है। दु.ख जागतिक इच्छाओ का परिणाम है। अत. मनुष्य को भोतिक अभिलाषाओ पर अधिक ध्यान नही देना चाहिए, क्योंकि इन इच्छाओ की जितनी ही पूर्ति होती है, वे उतनी ही प्रबल से प्रबलतर होती जाती है। प्रायः यह देखा जाता है कि जो मनुष्य इस लौकिक जगत को वास्तविक मानने लगता है उसका चित्त ईश्वर मनन पर नही लग पाता है, और जागतिक सुख मे ही वह अपने आप को व्यस्त रखता है। ऐसा मनुष्य श्रेष्ठ मनुष्य नहीं कहा जा सकता है।[6] प्रशंसनीय मनुष्य वह है, जो जागतिक सुखो और कष्टो के बीच अपने प्रिय लक्ष्य ईश्वर का दीदार (दर्शन) और प्रेम को प्राप्त करने का प्रयास करता है।[7] ईश्वर ने सुख और दु ख को इस जगत मे उत्पन्न किया है, लेकिन इसका यह मतलब नही है कि मनुष्य मात्र सुखो तक ही अपने आप को सीमित कर ले, अपितु सुख और दु ख का निर्माण ईश्वर ने मनुष्य की परीक्षा लेने के लिए किया है। ईश्वर इस बात की परीक्षा लेना चाहता है कि कौन कितना उसके आदेशो का पालन कर रहा है।[8] अतःइस जीवन-मरण का उद्देश्य है ईश्वरीय परीक्षा मे सफल होना। जब मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि सुख और दु ख क्षणिक है और मात्र ईश्वरीय परीक्षण के लिए बनाए गये है, वास्तविक सुख या आनन्द इसमे निहित नही है तब उसे अपने भ्रम का ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार वह स्वय को ईश्वर पर आश्रित महसूस करता है तथा देवी आनन्द का अनुभव करता है।

---

1 मु० उमरुद्दीन- दी इथिकल फिलॉस्फी ऑफ अलगजाली, पृष्ठ - 131
2 मु० उमरुद्दीन- दी इथिकल फिलॉस्फी ऑफ अलगजाली, पृष्ठ - 130
3 डॉ० नबी- डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ 75
4 वही, पृष्ठ - 76
5 वही, पृष्ठ - 49
6 वही, पृष्ठ - 49
7 वही, पृष्ठ - 77
8 कुरान - 672

इस प्रकार हम कह सकते हे कि इस्लाम धर्म के अनुसार मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर साक्षात्कार है और इसी अवस्था को नजात या मोक्ष या मुक्ति कहते हे। इस अवस्था मे मनुष्य को दु खों से पूर्ण छुटकारा मिल जाता हे ओर वह नित्य रूप से सर्वोपरि ईश्वर के साक्षात्कार का आनन्द लेते हुए उसका सामीप्य प्राप्त करता हे।

ईश्वर साक्षात्कार

ईश्वर का दर्शन मनुष्य के लिए अति आनन्द का विषय है। इस्लाम धर्मानुयायियो ने यह आशा व्यक्त की है कि कम से कम कुछ विश्वासी व्यक्ति ईश्वर का दर्शन अवश्य करेगे।[1] मुस्लिम विचारकों जेसे शेख शरफुद्दीन यहया मुनैरी, शेख हमीमुद्दीन, इमाम अल गजाली, निजामुद्दीन ओलिया, शेख नसिरुद्दीन, इब्न तिमैया आदि ने कुरान एव इस्लाम के सिध्दान्तो के अनुसार इस मत की स्थापना की है कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वरीय दीदार (साक्षात्कार) है, ओर यह अवस्था मृत्यु के पश्चात ही सम्भव हो सकती हे।[2]

परन्तु उपरोक्त मत के विपरीत मुअताजिला सम्प्रदाय ने ईश्वर साक्षात्कार की सम्भावना का निषेध किया है। इस सम्बन्ध मे वे तर्क भी देते है। उनका तर्क हे कि ईश्वर-साक्षात्कार मे देखने वाले की ऑखो का एक ओर केन्द्रित या निर्देशित होना और दिखलाई पडने वाले की स्थिति सम्मिलित है।[3] जबकि हम जानते है कि ईश्वर देश-काल की सीमा से परे हे, अत उसके लिए कोई विशेष दिशा और कोई विशेष स्थान नही निश्चित किया जा सकता है। यदि ईश्वर का हमे साक्षात्कार होता है तो इसका मतलब है कि वह देश-काल मे स्थित है। देश और काल मे स्थित ईश्वर सीमित होता है। मुअतजिला सप्रदाय के विपरीत अशअरी सप्रदाय ने ईश्वर साक्षात्कार मे विश्वास व्यक्त किया है। उनका कहना है कि ईश्वर का साक्षात्कार दूसरे जगत मे होता है, और यह हमारी इन्द्रियो की सीमा से परे है।[4]

इस्लामिक धर्म दार्शनिक इमाम अल गजाली ईश्वर साक्षात्कार के विरोध मे दी गयी युक्तियो का निराकरण करते हुए कहते है कि ईश्वर साक्षात्कार को ऑख या किसी इन्द्रिय विशेष के सन्दर्भ में नहीं ग्रहण करना चाहिए।[5] ईश्वर साक्षात्कार का साक्षात् सम्बन्ध हमारी ऑखो से नही होता है। यह अपने आप मे एक पूर्णज्ञान है, जिसे ईश्वर मनुष्यों मे बिना किसी माध्यम के उत्पन्न करता है। जिस प्रकार ईश्वर सम्वन्धी अवधारणा देश काल की सीमाओ से परे होती है उसी प्रकार ईश्वर का साक्षात्कार भी देश-काल की सीमा से परे हे। अल गजाली ईश्वर साक्षात्कार के स्वरूप का वर्णन ईश्वर के साक्षात् और दोषरहित ज्ञान के रूप मे करते है, जो प्राप्त कर्ता के लिए सर्वोच्च आनन्द की स्थापना करता है।[5]

---

1 डी० वी० मेकडोनाल्ड- ऑस्पेक्ट्स ऑफ इस्लाम, पृष्ठ - 186—187

2 डा० नबी- डेवेलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ - 35

3 वही, पृष्ठ - 36

4 वही, पृष्ठ - 36

5 डा० नबी- डेवेलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ - 69

6 मु० उमरुद्दीन- दी इथिकल फिलॉस्फी ऑफ अलगजाली, पृष्ठ - 131

ईश्वरीय दीदार (दर्शन) और ईश्वर की अवधारणा एक दूसरे भिन्न हे, क्योकि ईश्वर का साक्षात्कार ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा की अपेक्षा पूर्ण स्पष्ट एव साक्षात् अनुभव हे।[1] दीदार द्वारा प्राप्त ईश्वर का ज्ञान इन शब्दो द्वारा प्रकट किया जाता हे-जेसे ख्या (स्वप्न), लिका (दर्शन), मुशाहदा (निरीक्षण), वजह (मुखाकृति), नजर (दृष्टि)।[2] कोई भी मनुष्य ईश्वर के विषय म सोच सकता है, उसके विषय मे कुछ ज्ञान भी रख सकता हे किन्तु उसको अपनी ऑखो मे देख नही सकता हे। अत हम कह सकत हे ईश्वर का सर्वोच्च ज्ञान साक्षात् ओर पूर्ण नही हे।[3] अल्लाह ने भी इस इहलौकिक जगत क विषय मे मूसा से कहा था 'त् मुझको नही देख सकता है, न तो मुहम्मद ही"।[4] पैगम्बर ईश्वर का दीदार मात्र एक पर्दे की आड द्वारा ही पा सकते हे।[5] कुरान मे ही इस बात का भी उल्लेख है कि हमारी ऑखे उसे प्राप्त नही कर सकती है।[6] हमे यथार्थ ज्ञान (ईश्वर के विषय मे) की प्राप्ति इस नश्वर शरीर के विनाश के बाद ही प्राप्त हो सकती है।

ईश्वरीय प्रेम के कारण ईश्वर को प्राप्त करने वाला सर्वोच्च आनन्द का अनुभव करता हे। मनुष्य को प्राप्त सभी आनन्दो मे ईश्वरीय दर्शन का आनन्द पूर्ण और स्थायित्व है। महत्व की दृष्टि से ईश्वरीय आनन्द सर्वोपरि है।[7] बुद्धि से प्राप्त ज्ञान इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा अधिक उच्च और स्थायी होता है। बौद्धिक सुखो मे भी ईश्वर के ज्ञान से प्राप्त सुख सर्वोच्च आनन्ददायी है। अन्य ज्ञान से प्राप्त सुख गोण या हीन है। ईश्वरीय दीदार मे दुःख रहित आनन्द, दरिद्रता रहित समृद्धि, दोष रहित पवित्रता, कष्ट रहित खुशी, अपमान रहित सम्मान और अज्ञानता रहित ज्ञान की प्राप्ति होती है।[8]

ईश्वर साक्षात्कार के उपाय

सामाजिक कर्तव्यों से विमुख होकर सन्यास लेने की बात इस्लामी जीवन के लिए श्रेयस्कर नहीं कही गयी है। प्रायः ससार के सभी धर्मो मे ऐसे कर्म काण्डो का विधान किया गया है, जिनके पालन करने से व्यक्ति लौकिक तथा पारलौकिक दोनो प्रकार के सुखो का अनुभव कर सकता है। जीवन के श्रेय पक्ष को उजागर करने के उद्देश्य से इस्लाम धर्म भी पॉच प्रकार के धार्मिक कर्तव्यो पर जोर देता है। ये धार्मिक कर्तव्य इस्लाम धर्म के स्तम्भ बतलाये गये हैं।[9] इन्ही पर इस्लाम धर्म आधारित हे-

1 शहादा या मत का उच्चारण

2 सलात या नमाज

3 जकात या खरात

4 सोम या रोजा

---

1 वही, पृष्ठ 131

2 वही, पृष्ठ 131

3 वही, पृष्ठ 131

4 कुरान - 7 143

5 मु० उमरुद्दीन- दी इथिकल फिलॉस्फी ऑफ अल्गजाली, पृष्ठ 131

6 कुरान- 6 103

7 मु० उमरुद्दीन- दी इथिकल फिलॉस्फी ऑफ अल्गजाली, पृष्ठ 131

8 वही, पृष्ठ 131

9 डॉ० याकूब मसीह- तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ 194

5 हज

1- शहादा या मत का उच्चारण

कुरान मे वर्णित ईश्वर के स्वरूप से सम्बन्धित सूत्र का जप करना 'शहादा' कहलाता है। यह सूत्र है- "ला-इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदन्रसूल्लाहि" अर्थात अल्लाह के अलावा कोई दूसरा ईश्वर नही है तथा मुहम्मद उसके देवदूत है। इस सूत्र मे ईश्वर की महानता का वर्णन है। उपासक को सर्वप्रथम अपने उपास्य देव की महानता को हृदयगम करना पडता है, तब उसके मन मे उनके प्रति भक्ति भावना जागृत होती है। इस्लाम धर्म के अनुयायी को दिन मे कम से कम एक बार इस सूत्र का उच्चारण करना अनिवार्य है। यदि एक से अधिक बार भी उच्चारण करता है तो ओर भी अच्छा है। ऐसा करने से आराध्य की महानता का भाव उसके मन मे आयेगा। उपर्युक्त कथन मे दो वाक्य प्रधान रूप से सन्निहित है। पहले वाक्य के अनुसार ईश्वर एक है तथा दूसरे वाक्य के अनुसार मुहम्मद उसके देवदूत है। पहला वाक्य इस्लाम के एकेश्वरवाद का प्रतिनिधित्व करता है तथा दूसरा वाक्य इस्लाम का देवदूतो मे विश्वास प्रमाणित करता है।

2- सलात या नमाज

जिस प्रकार हिन्दू धर्म 'सध्योपासना' का विधान करता है, उसी प्रकार इस्लाम प्रत्येक मुसलमान के लिए 'नमाज' का विधान करता है। दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि संध्या वन्दन केवल द्विज वर्ण के लिए है, जबकि नमाज सभी मुसलमानो का नित्य कर्म माना गया है।[1] जैसे हिन्दू धर्म त्रिकाल वंदना का व्यवहार प्रत्येक द्विज के लिए करता है, उसी प्रकार इस्लाम भी पॉच बार दिन मे नमाज पढना मुसलमान के लिए अनिवार्य मानता है। नमाज पढ़ने का विधान इस प्रकार है- सूर्योदय के पूर्व उषाकाल मे प्रथम नमाज, दोपहर मे दूसरी नमाज, दोपहर के बार तीसरी नमाज, सायंकाल चौथी नमाज, तथा सोने के पूर्व पॉचवी नमाज पढी जाती है। प्रत्येक नमाज के लिए अपने-अपने आसन निर्धारित किये गये हैं।

पवित्र ग्रथ कुरान मे 'नमाज' के लिए 'सलात' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] 'सलात' शब्द का अर्थ है किसी चीज की ओर बढना, उसमे प्रवेश करना अथवा किसी वस्तु विशेष की ओर ध्यान एकाग्र करना।[3] यह शब्द झुकने, दीनता प्रदर्शित करने और प्रार्थना करने के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। 'सलात' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से सामीप्य तथा उपासना के लिए भी होता रहा है।

ईश्वर पवित्रता का धाम है। 'नमाज' पूर्ण अभिरुचि के साथ ईश्वर की ओर आकृष्ट होने के कर्म का नाम है। अल्लाह के प्रति मन का झुकाव ही नमाज का वास्तविक स्वरूप है। नमाज वन्दा और ईश्वर के बीच सम्बन्ध एव सम्पर्क स्थापित करने का साधन है।[4] वास्तविकता की दृष्टि से नमाज एक चेतना सम्बन्धित कर्म है तथा भय, प्रेम और विनीत भाव से अल्लाह की ओर

1 डॉ० भगवान मिश्र- विश्व के प्रमुख धर्म, पृष्ठ- 86

2 कुरान- 2 3, 4.43, 7.31

3. कुरान मजीद, पृष्ठ- 18

4 कुरान- 24 56 , 87 14—15

आकृष्ट होना, अल्लाह के समीप होना इसका स्वरूप है। नमाज के द्वारा व्यक्ति ईश्वर का स्मरण करता है। ईश्वर उसे शक्ति प्रदान करता है, जिसके द्वारा वह ईश्वर की राह मे चलते हुए भार का बोझ वहन कर सके। नमाज के द्वारा व्यक्ति को इस चीज का अवसर मिलता है कि वह अपने सूक्ष्मतम और पवित्रतम आन्तरिक भावो को ईश्वर की सेवा मे प्रस्तुत कर और उसकी कृपाओ का इच्छुक बने।[1]

मुहम्मद साहब का कथन है कि मेरी ऑख की ठण्डक नमाज मे है।[2] नमाज से लगाव इस बात का पहचान है कि बन्दे ने अल्लाह को अपनी सारी आवश्यकताओ ओर कामनाओ का केन्द्र बना लिया है। नमाज अदा करने वाला व्यक्ति बिल्कुल ईश्वर के समीप होता है। अत. ऐसे व्यक्ति को जिसका मन मस्जिद से निकलने के बाद भी मस्जिद मे लगा रहता है के द्वारा इस बात की शुभ सूचना दी गयी है कि ईश्वर उसे अपनी छाया मे जगह देगा।[3]

ईश्वर को पवित्र होने के कारण नमाजी को भी नमाज पढने के पूर्व पवित्र होना पड़ता है। उसे अपने हाथ, पैर, मुँह, सिर तथा कान को शुद्ध जल से धोना होता है। इस क्रिया को 'वुजु' कहते हैं। यदि कहीं ऐसी जगह नमाज पढ़नी पड़े जहॉ जल का अभव हो तो नमाजी को सूखी मिट्टी से अपने अगो को पवित्र कर लेना चाहिए। इस क्रिया को 'तयम्मुख' कहा जाता है। रोगी, यात्री तथा अत्यावश्यक कार्य मे व्यस्त व्यक्ति के लिए नमाज पढने की छूट दी गयी है। कुरान मे विशेष परिस्थितियो मे विभिन्न प्रकार के नमाज अदा करने की हिदायत दी गयी है।[4] जैसे यदि खड़ा होकर नमाज न अदा की जा सके तो बैठकर ही अदा करे, मुँह से न बोल सके तो संकेतो मे ही अदा करे इत्यादि। नमाज पॉच बार अदा करना अनिवार्य है।[5]

इस प्रकार नमाज से मनुष्य को घेर दिया गया है, ताकि वह ईश्वर से किसी समय भी गाफिल न हो और उसका सम्पूर्ण जीवन ईश्वर की याद बन जाए। नमाज दो प्रकार की मानी गयी है- 1 फर्द (वैयक्तिक नमाज)

2 सुन्नत (सामूहिक नमाज)

फर्द मे केवल एक व्यक्ति नमाज पढता है जबकि सुन्नत मे बहुत से लोग एक साथ नमाज पढ़ते है। नमाज शुरू होने से पहले एक व्यक्ति जिसको 'मुआज्जिन' कहते है, सर्वप्रथम 'काबे' की ओर मुँह करके ऊँचे स्वर मे कहता है-

I अल्लाहहू अकबर (परमेश्वर अति महान है)

II उस्हदु अनलाह इलाह इल्लहल्ला (मे साक्षी देता हूँ कि परमेश्वर के अलावा कोई पूज्य नहीं है)

III अरहदु अन्न मुहम्मदर रसूल्लाह (मैं साक्षी देता हूँ कि मुहम्मद ईश्वर के दूत है)

IV हया अलस सलाह (नमाज मे आओ)

V ला इलाह इल्लाहल्लाह (अल्लाह के अतिरिक्त दूसरा ईश्वर नही है।)

---

1 टुवाइर्स अण्डर स्टेण्डिग इस्लाम, पृष्ठ 133—134

2 हदीस सौरभ, पृष्ठ 354

3 कुरान- 24 56, 87 14—15

4 कुरान - 2 149—150, 4 43, 5 6

5 टुवाइर्स अण्डर स्टेण्डिग इस्लाम, पृष्ठ 132

इस्लाम धर्म मे सामूहिक नमाज का काफी महत्व है। सामूहिक नमाज प्रत्येक जुम्मा (शुक्रवार) को तथा ईद एव बकरीद के अवसर पर भी पढी जाती है। कुरान मे वार-वार नमाज पढने का आदेश दिया गया है। लिखा है-"नमाजो की रक्षा करो" '।[1] कुरान मे ही कहा गया है- "अल्लाह को याद रखने वाले और नमाज पढने वाले के लिए सफलता हे नमाज की ओर से गाफिल रहने वालो के लिए खरावी है "।[2] सामूहिक नमाज से सघ-शक्ति बढती हे। सामूहिक नमाज मे ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, युवा-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित का भेदभाव छोड़कर वे एक साथ खडा होकर बता देते है कि ईश्वर के सामने सभी समान है। सामूहिक नमाज से भ्रातृत्व भाव की बढोत्तरी होती हे। इसका सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह है कि मनुष्य सकीर्ण जीवन से बहुत ऊपर उठकर अपरिमित ईश्वर के सम्पर्क मे आता हे, जिससे उसके जीवन की सकीर्णता दूर हो जाती है। वैयक्तिक प्रार्थना, उपासना तथा ध्यान का स्थायी महत्व उन लोगो के लिए हे, जो इसका रसास्वादन कर चुके है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'नमाज' अल्लाह की इबादत और उसकी उपासना का पूर्ण रूप है। नमाज का मूल उद्देश्य अल्लाह का स्मरण और उसकी याद है। इसका सम्पादन मनुष्य को मात्र ईश्वर से मिलना नही है, बल्कि मनुष्य के आपसी सम्बन्धो को भी ठीक रखता है, परन्तु शर्त यह है कि 'नमाज' वास्तव में नमाज हो और वह अपने वाह्य एवं आन्तरिक पहलू मे ठीक से क्रियान्वित होती हो।[3] नमाज प्रत्येक मुसलमान की नेतिक, आध्यात्मिक और वास्तविक जीवन का प्रतीक हे। नमाज की इसी मौलिक विशेषता के कारण कुरान सभी अच्छे कर्मो मे केवल नमाज का नाम लेने को काफी समझता है।[4]

3- ज़कात या ख़रात

मूल रूप अरबी भाषा मे जकात का अर्थ पाक् (शुद्ध) होना, बढ़ना (अग्रसर) होना है।[5] परन्तु इस शब्द का प्रायः पारिभाषिक अर्थ 'दान' से होता है। यह वह धन या माल है, जिसे अपनी कमाई में से निकाल कर उसे अल्लाह के बतलाये गये शुभ कार्यो में व्यय करना है, जैसे मुसाफिरो (यात्रियो) मुहताजो (पराश्रितों) और ग़रीनो (दीन-दुखियो) की सेवा करना, कर्ज के बोझ से दवे हुए लोगो को छुटकारा दिलाना है, अल्लाह के दीन (धर्म) के लिए की जाने वाले कार्यों में खर्च करना। इसे जकात इसलिए कहा जाता है क्योकि इसके द्वारा व्यक्ति धर्म के मार्ग पर बढता या अग्रसर होता है।[6]

नमाज के साथ ही इस्लाम धर्म जकात पर भी वल देता है।[7] इस्लाम धर्म मे जकात को मूल धर्म कहा गया है।[8] दान देने की महत्ता कुरान मे वार-वार वतलायी गयी है। जकात मे आत्म शुद्धि होती है तथा इससे सम्पत्ति मे वृद्धि होती है। जकात मन के शुद्धिकरण का एक साधन है तथा जकात देने से माल बढ़ता है।[9] ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए तथा उसके चरणो मे

1 कुरान- 2 238
2 कुरान- 107 4—5
3 हदीस सारभ, पृष्ठ - 368
4 कुरान - 7 170
5 डॉ० बी० एन० सिह - विश्व धर्म दर्शन की समस्याये, पृष्ठ - 237
6 डॉ० बी० एन० सिह - विश्व धर्म दर्शन की समस्याये, पृष्ठ - 238
7 कुरान- 2 43, 24 56
8 कुरान- 98 5
9 कुरान- 9 103, 30 39

अनुराग होने के लिए जितने भी साधन बतलाये गये है उन सभी साधनों मे ज़कात का महत्वपूर्ण स्थान है। यह धर्म का व्यावहारिक पक्ष है, सैद्धान्तिक नही क्रियात्मक है। प्रत्येक मुसलमान को अपनी सम्पत्ति का ढाई प्रतिशत तथा फसल का दस प्रतिशत दान के रूप मे देना अनिवार्य है। कुरान मे कहा गया है कि जकात की राशि स्वय मुहम्मद साहब ने तय की है। माता-पिता, अनाथ, मुहताज, विकलांग, तथा मुसाफिर इस धन को प्राप्त करने के अधिकारी है।[1] यदि किसी व्यक्ति के पास जकात देने की सामर्थ्य नही है तो उससे जो कुछ भी स्वेच्छा से देना बन रहा है वही उसके लिए जकात है।[2] अल्लाह से मिलने के लिए जिसने अपनी आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ कर दी है, उसको मजिल तक पहुँचने के लिए जकात सुदृढ सोपान है। मुहताजो और काफिरों की आवश्यकताओ की पूर्ति करने से ईश्वरीय कृपा की प्राप्ति होती है। जकात देना अल्लाह की दयालुता का कारण है।[3]

जकात एक प्रकार का धार्मिक कर है। यही ईश्वर की प्राप्ति का सरल साधन है। अपने पेट को पालना, दीन-दुखियो की तरफ न देखना तथा अपने मे ही मस्त रहना, पशु आचरण है। मानव आचरण तो दीन-दुखियों की सेवा है। बॉटकर खाना ईमानदारी की निशानी है। कुरान मे कहा गया है-जकात देना ईमान लाने की अनिवार्य विशेषता है।[4] गरीबो और मुहताजो की आवश्यकताओ को पूरी करना ईमान वालो की पहचान है।[5] स्वय तो जकात देना ही चाहिए अन्य लोगो को भी जकात देने के लिए प्रेरित करना चाहिए। कुरान मे कहा गया है- यतियो को धक्के देना और फकीरो को खाना खिलाने के लिए लोगो को न उकसाना बड़ा दुर्भाग्य है।[6] जकात देने से आदमी स्वार्थ-परता, तंगदिली और धन के लोभ से छुटकारा पाता है उसकी आत्मा शुद्ध एव विकसित होती है।[7] जकात के मोलिक उद्देश्य की प्राप्ति उसी समय हो सकती है जब जकात देने के समय इस उद्देश्य की सच्ची तलब हो। जकात केवल ईश्वर की प्रसन्नता के लिए देना चाहिए। इसके पीछे कोई अन्य ध्येय नही होना चाहिए।[8] जिस प्रकार नमाज मनुष्य का नाता ईश्वर से जोड़ता है, उसी प्रकार जकात उसे सासारिक लोभ और मोह से छुटकारा दिलाता है। ईश्वर की नेमतो का शुक्र अदा करने के लिए जकात देना आवश्यक है।[9]

जकात कब और कैसे प्रारम्भ हुआ? इस्लाम मे इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है- ऐसे लोग जिन्होने इस धर्म का झण्डा उठाया, लडाई मे मार दिये गये, उनकी पत्नियॉ विधवा हो गयी, उनके बच्चे अनाथ हो गये, उनके सरक्षण मे रहने वाले व्यक्ति निराश्रित हो गये। अत उनकी आजीविका निर्वाह के लिए मुहम्मद साहब ने धनिको पर टैक्स लगाया तथा उससे प्राप्त धन को अभाव ग्रस्त लोगो मे वितरित किया। तभी से इस प्रकार का कर धार्मिक आचरण बन गया, जिसको बाद मे

1 कुरान- 2 215
2 कुरान- 2 219
3 कुरान- 7 156
4 कुरान- 27 3
5 कुरान- 76 8
6 कुरान- 107 2—3
7 कुरान- 9 103—104
8 कुरान- 2 261
9 कुरान- 14 31

जकात की सज्ञा दी गयी।[1]

जिस प्रकार मुस्लिम धर्म मे जकात देना एक पुनीत कर्त्तव्य माना गया है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म भी दान की भूरि-भूरि प्रशसा करता है। स्वय भगवान कृष्ण का आदेश है - हे अर्जुन दरिद्रों का भरण पोषण करो।[2] दान मे सामाजिक विषमता दूर होती है। जो व्यक्ति मागने वालो को झिडकता है उसका व्यवहार निदनीय है। कुरान मे कहा गया है-मागने वालो को झिडको मत।[3] अल्लाह की सच्ची सेवा तो पडोसी की सेवा है। वह कत्तई मोमिन नही है[4], जो स्वयं पेट भर के खाता है जबकि उसका पडोसी भूखा हो।[5]

इस प्रकार हम कह सकते है कि जकात देकर मनुष्य इस बात का प्रमाण इकट्ठा करता है कि वह जीवन के वास्तविक उद्देश्य से बेखबर नही है, अन्तत. उसे अखिरत मे ईश्वर के सम्मुख उपस्थित होना है। जकात देना अखिरत को याद रखने का सर्वोत्तम उपाय बतलाया गया है। जकात के द्वारा व्यक्ति को सदैव इस बात की स्मृति बनी रहती है कि मुझे ईश्वर के द्वारा जो कुछ भी मिला है, उसे उसी रूप मे वापस करना है। जिस प्रकार उसका दिया हुआ धन उसे अर्पित किया जा रहा है उसी प्रकार यह तन मन और प्राण सभी कुछ उसके सम्मुख प्रस्तुत है, उसे सादर समर्पित है। समर्पण मे विनम्रता का भाव रहना आवश्यक है।

4- सोम या रोजा

पवित्र कुरान मे रोजा के लिए 'सियाम' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका मौलिक अर्थ रूक जाना है। इस्लामी मान्यता के अनुसार रोजे मे प्रात सूर्य की किरणो के निकलने के पूर्व और सध्या या सूर्य के अस्त होने तक खाने-पीने तथा स्त्री प्रसंग आदि रूका रहता है, अत यह 'सियाम' या 'रोजा' कहलाता है।[6] सियाम से ही सोम बना है। कुरान मे सच्चे ईमान वाले व्यक्तियो के लिए रोजा अनिवार्य बतलाया गया है।[7] रोजे का वास्तविक उद्देश्य यह है कि मनुष्य का मन शुद्धता को प्राप्त करे, उसमे सयम पैदा हो सके और वह अल्लाह से डरता रहे।[8] रोजा इस बात का क्रियात्मक प्रदर्शन है कि खाना-पीना और स्त्री प्रसंग के अतिरिक्त भी कोई चीज है, जिसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

जिस महीने मे रोजा रखा जाता है उसे रमजान का महीना कहते है। धर्म की दृष्टि से यह सबसे पवित्र महीना है। इस महीने मे इस्लाम के अनुयायी व्रत या उपवास कर कुरान के प्रति अपनी गहरी आस्था प्रदर्शित करते है। इस्लामी नवा महीना रमजान का महीना कहलाता है। रमजान के महीने मे मुसलमान दिन भर रोजा रखते हैं और रात मे 'तराबीह' (रमजान के

---

1 डा० भगवान मिश्र- विश्व के प्रमुख धर्म, पृष्ठ - 89
2 डा० भगवान मिश्र- विश्व के प्रमुख धर्म, पृष्ठ - 89
3 कुरान- 93 10
4 मोमिन कुरान मे उसे कहा गया है, जो भगवान मे विश्वास करता है।
5 डा० भगवान मिश्र- विश्व के प्रमुख धर्म, पृष्ठ - 89
6 डा० बी० एन० सिह- विश्व धर्म दर्शन की समस्याये, पृष्ठ - 239
7 कुरान- 2 183
8 कुरान- 2 183—187

महीने की नमाज जो रात मे पढी जाती है) पढ़ते हे। इसमे महीने भर मे सम्पूर्ण कुरान सुनी जाती है। रोजा बन्दे को ईश्वर की ओर और जीवन के उन महत्वपूर्ण मूल्यो की ओर आकृष्ट करता हे, जो मानव जीवन की वास्तविक निधि हे। यह बन्दे को ऐसे स्थान पर पहुँचाता है जहाँ बन्दा अपने ईश्वर मे अत्यत समीप हो जाता हे। रोजा का व्यावहारिक रूप यह हे कि मनुष्य उषाकाल से लेकर सूर्यास्त तक खाने-पीने और विषय-भोग से अपने को रोके रहे।[1] किन्तु सैद्धान्तिक रूप मे रोजा अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण प्राप्त करना हे, अल्लाह से डरना ओर उसकी उपेक्षा से बचना हे।[2]

कुरान मे रोजे के लिए सोम शब्द आया हे ओर सोम का अर्थ है बचना, पार्थक्य और मौन।[3] कुरान मे आया सोम के आधार पर हमाम रागिब का कहना हे - सोम का वास्तविक अर्थ है-किसी काम से रूक जाना चाहे उसका सम्बन्ध खाने-पीने मे हो या बातचीत करने या चलने-फिरने से हो।[4] इस व्याख्या से स्पष्ट है कि वास्तव मे किसी चीज मे रुक जाने की स्थिति का नाम सोम या रोजा है। रोजा वास्तव मे उसी व्यक्ति का है जो रोजे की हालत मे अपनी खाने-पीने और विषय भोग की इच्छा और प्रवृत्ति पर रोक लगा देता है। रोजे के द्वारा मनुष्य मे सहानुभूति की भावना जागृत होती है।[5] साधारण अवस्था मे मनुष्य दूसरो की तकलीफ और भूख-प्यास का एहसास नही कर पाता है। रोजे मे भूख-प्यास का तजुर्बा मनुष्य मे स्वभावतः यह एहसास उभारता है कि वह दीन-दुखियो ओर जरूरतमदो के साथ सहानुभूति का व्यवहार करे ओर उन्हे परेशानी की हालत मे न रहने दे। इसलिए रमजान के महीने को 'मवासत का महीना' (भाईचारा एव सहानुभूति का मास) कहा गया है।[6]

उपवास संयम का एक सूत्र है। उपवास रखने से इन्द्रिया शिथिल हो जाती है, और विषय भोग के पीछे नही भागती है। फलत व्यक्ति सदाचारी और नैतिक बना रहता है। ऐसा जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी होता है।

कुरान मे कहा गया है जो अपनी विषय वासनाओ को रोकता है निश्चय ही उसे बिहिश्त मिलेगा।[7] रमजान के महीने मे धूम्रपान, असत्य भाषण, पर निन्दा एव अन्य अनैतिक कार्यों का निषेध किया गया है। गर्भवती स्त्रियो एव रोगियो तथा यात्रियो को उपवास नही रहने की छूट दी गयी है। रमजान के महीने के पवित्र होने का कारण यह है कि इसी महीने मे परम पवित्र कुरान का अवतरण मुहम्मद साहब के पास जिब्रील के द्वारा ईश्वरीय संदेश के रूप में हुआ था। इसलिए जो कोई रमजान महीने मे उपवास कर सके अवश्य करे।[8] एक महीना रोजा रखने के बाद ईद की खुशी मनायी जाती है।

अत. रोजा एक पवित्रतम् इबादत (उपासना) है और साथ ही अल्लाह की बडाई का प्रदर्शक और बन्दे की कृतज्ञता की विज्ञप्ति भी है। रोजे की क्रिया से आत्मा और हृदय की शुद्धि होती है तथा बन्दे का आध्यात्मिक विकास होता है।

---

1 टुवार्डस अण्डर स्टैण्डिंग इस्लाम, पृष्ठ - 136

2 मु० उमरद्दीन- दी इथिकल फिलॉस्फी ऑफ अलगजाली, पृष्ठ - 220

3 कुरान- 19 26, 2 187

4 मु० अली- दी रीलिजन ऑफ इस्लाम, पृष्ठ - 477

5 वही, पृष्ठ - 501

6 हदीस सौरभ, पृष्ठ - 428

7 कुरान- 79 41

8 कुरान- 2 189

5- हज

जिस प्रकार अन्य धर्मो मे तीर्थयात्रा का विधान किया गया है, उसी प्रकार इस्लाम धर्म मे भी 'हज' करने का प्रावधान है। कावा मुसलमानो का प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। यहाँ पर अरव का प्राचीन देवालय है, जो मक्का शहर मे है। मुहम्मद साहब के जन्म के पूर्व भी अनेक तीर्थयात्री यहाँ दर्शनार्थ आया-जाया करते थ। कुरान मे वर्णन मिलता है कि 'कावा' अल्लाह की इवादत (उपासना) का केन्द्र बन गया है।[1]

हज भी इवादत का एक रूप है। हज का अर्थ है- इरादा करना, जियारत करना (तीर्थ दर्शन का निश्चय करना)।[3] हज मे हर तरफ से लोग काबा की 'जियारत का इरादा करते है।[3] इसलिए इसका नाम हज रखा गया है। हज से सम्बन्धित नियमो और कार्यो पर कुरान मे विस्तृत प्रकाश डाला गया है।[4] हज के लिए 'जिल्हिज्ज' की महीने की नवी तारीख उपयुक्त बतलायी गयी है। जो लोग हज करने का सामर्थ्य रखते है उनके लिए हज अनिवार्य है।[5] जो लोग हज करने का सामर्थ्य रखकर भी हज नही करते वे वस्तुत. अल्लाह से मुख मोडे हुए है। अल्लाह से मुख मोड़कर मनुष्य स्वयं अपने साथ अन्याय करता है, उसका अखिरत मे उद्धार असम्भव है।[6] हज के द्वारा मनुष्य के मन मे ईश्वर की वडाई और उसका प्रेम स्थायी रूप से वैठ जाता है। ईश्वर के प्रेम मे मनुष्य अपना घर-द्वार, मित्र एव सहयोगियो तथा व्यवसाय को छोड़कर लम्बी यात्रा पर निकल जाता है। यह मात्रा कोई साधारण यात्रा नही है। हज मे मनुष्य सब कामो को छोडकर ईश्वर की ओर दौडता है और ईश्वर को ही अपना स्वामी और पूज्य मानता है। बन्दे की ओर से हज इस बात की घोषणा है कि उसका प्रेम, श्रद्धा, उसकी पूजा ओर वन्दगी सब कुछ ईश्वर के लिए ही है। हज का मूल उद्देश्य यही है कि मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति की इच्छा से उन्मुक्त होकर अपना सर्वस्व उसकी राह मे लगा दे।[7] हज करने से मनुष्य में तौहीद (एकेश्वरवाद) की भावना जाग्रत होती है, जो कि कुरान का मूल है। काबा को तौहीद का केन्द्र माना जाता है और इस घर का निर्माण स्वय अल्लाह के आदेश पर हुआ है।[8]

कुरान का कहना है कि कावा अल्लाह की इबादत (उपासना) का केन्द्र है, याद करो कि हमने इस काबा को लोगो के लिए खीच-खीच कर आने की जगह (तीर्थ) और शान्ति का केन्द्र ठहराया और हुक्म दिया कि इबराहिम के खड़े होने के स्थान को नमाज की एक जगह वना लो और इबराहिम तथा इस्माइल को ताकीद की कि इस घर को परिक्रमा करने वालो के लिए पाक रखना,[9] नि.संदेह सवसे पहले इबादत का घर मक्का है, जो बरकत वाले है और दुनिया के लिए मार्गदर्शन का केन्द्र

---

1 कुरान- 2 125
2 मु० अली०- दी रिलिजन ऑफ इस्लाम, पृष्ठ - 507
3 कुरान- 28 57, 27 91
4 कुरान- 2 158, 22 25—29
5 कुरान- 3 96—97
6 टुवार्ड्स अण्डर स्टैण्डिग इस्लाम, पृष्ठ- 139
7 मु० अली- दी रिलिजन ऑफ इस्लाम, पृष्ठ 507
8 कुरान- 28 57
9 कुरान- 2 125

है।[1] इस प्रकार काबा की तीर्थ यात्रा कुरान के अनुसार ईश्वर की आज्ञा का पालन है। हज करने मे यदि किसी प्रकार की बाधा पहुँचती है तो उसके प्रतिकार के रूप में कुर्बानी करनी पड़ती है। कुरान म कहा गया है कि अल्लाह [illegible] और यदि किसी प्रकार रोके गये तो यथाशक्ति कुर्बानी करो। जब तक बलि ठिकाने पर न पहुँच जाए, सिर की हजामत मत बनवाओ।[2] कुर्बानी अल्लाह तक व्यक्ति का तकवा (भक्ति भावना) पहुँचाती है।[3] इस्लाम मे कुर्बानी को दास्य भावना तथा आत्म समर्पण की सफल अभिव्यक्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है। कुर्बानी के द्वारा मनुष्य यह घोषणा करता है कि ईश्वर की राह मे यदि उसे प्राण भी देना पडे तो वह तैयार है। हज करने के कुछ नियम है।[4]

मक्का पहुँचने के पहले एक निश्चित स्थान पर स्नान किया जाता है। एक फकीराना वस्त्र धारण किया जाता है जिसे 'तबलीय' कहते है। यही 'इहराम' है। इसके अनुसार एक तहबन और चादर से ही शरीर को ढका जाता है। यही 'इहराम बॉधना' कहा जाता है। जहाँ पर इहराम बॉधा जाता है उसे 'मीकात' कहा जाता है। इसके बाद काबा मे जाकर परिक्रमा और पत्थर का चुम्बन करना पडता है। इसके बाद कुरान की कुछ आयतो का पाठ भी करना पड़ता है। इसमे सामूहिक नमाज अदा करने की भी प्रथा है। काबा का दर्शन कर प्रत्येक मुसलमान 'हाजी' कहलाता है।

'हज के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के समस्त मुसलमानो का सम्मेलन होता है, जिसके द्वारा रगभेद, अमीर-गरीब आदि सभी भेदो से ऊपर उठकर विश्व सौहार्द्र के सिद्धान्त का पालन किया जाता है।[5] शुद्ध इस्लाम में जाति अथवा वर्णभेद नही स्वीकार किया जाता है। यहूदियो के समान मुसलमानों मे भी धर्म को ही राष्ट्रीयता का आधार माना जाता है। अब सिक्ख धर्म मे भी ऐसा माना जाने लगा है। हज करने वाला ईश्वर के यहाँ जन्नत (स्वर्ग) का अधिकारी हो जाता है।[6]

'जिहाद'

कुछ लोग इसे इस्लाम का छठा स्तम्भ स्वीकार करते हैं। 'जिहाद' का अर्थ होता है-धर्म युद्ध। साधारणतः इस शब्द से केवल धर्मों के लिए युद्ध करना समझा जाता है, परन्तु मूल रूप से 'जिहाद' अपनी सम्पूर्ण शक्ति का समर्पण है। तन-मन-धन आदि सभी शक्तियो को अपने विश्वास की बेदी पर न्योछावर करना ही 'जिहाद' है। इस्लाम धर्म में 'जिहाद' का काफी महत्त्व है। कुरान मे कहा गया है कि ईमानवालो को अल्लाह की राह मे जिहाद करना ससार की हर चीज से प्यारा होना है।[7]

कुरान के अनुसार अनावश्यक किसी का कत्ल करना तो हराम है,[8] परन्तु धर्म के मार्ग मे बाधा उत्पन्न करने वाले, गुमराह करने वाले दण्ड के भागी है। उन्हे प्राणदण्ड देना भी धार्मिक कृत्य है। इसलिए कुरान मे कहा गया है कि ईमानवाले अल्लाह

---

1 कुरान- 3 96
2 कुरान- 2 24/8
3 कुरान- 22 37
4 डा० वी० एन० सिंह- विश्व धर्म दर्शन की समस्याये, पृष्ठ 240
5 डॉ० याकू मसीह- तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृष्ठ 197
6 टुवार्डस् अण्डरस्टैण्डिग इस्लाम, पृष्ठ 134
7 कुरान- 47 1—4
8 कुरान- 17 13

की राह मे लडते है।[1] धर्म की सुरक्षा के लिए युद्ध करना अनिवार्य है।[2] अल्लाह के रास्ते मे टोकने वालो के विरुद्ध युद्ध करने की स्वीकृति है।[3]

यद्यपि कि धर्म के लिए युद्ध न्यायोचित है, परन्तु इसके सम्बन्ध मे काफी विवाद भी है। मुसलमानो के एक गिरोह 'खाजियो' ने जिहाद को छठा स्तम्भ स्वीकार किया है, परन्तु 'सबो' ने इसको नकारा है, यद्यपि कि यह सत्य है कि इस्लाम के प्रचार प्रसार मे जिहाद का भी योगदान रहा है। मुहम्मद अली जिहाद का अर्थ प्रचार-प्रसार नही मानते है। उनके अनुसार मक्का मे अवतरित कुरान के अशो मे इस शब्द का प्रयोग परिश्रम, उद्योग और सामान्य सघर्ष के सम्बन्ध मे हुआ है।[4] नबी ने युद्ध करने की आज्ञा मदीने मे आत्म रक्षा के लिए प्रदान की थी, तभी से ये लड़ाईया जिहाद के नाम से लडी जाने लगी। हदीस के अनुसार 'जिहाद' हज है।[5]

नैतिक शिक्षा

उपासना के उपरोक्त रूपो के अतिरिक्त इस्लाम धर्म मे दैवी कृपा और सदाचार को भी साधना का ही अग माना गया है। दैवी कृपा और सदाचार इस्लाम धर्म की नैतिक शिक्षा के अग है।

दैवी कृपा

ईश्वर के आगे स्वय का समर्पण इस बात का सकेत देता है कि मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा प्राप्त करना भी आवश्यक है। ईश्वरीय कृपा पथ प्रदर्शन के रूप मे व्यक्ति की सहायता प्रत्येक कदम पर करती रहती है।[6] मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ईश्वर की कृपा पर आश्रित है,[7] और यहाँ तक की विश्व की व्यवस्था भी ईश्वर की दया या कृपा पर ही आधारित है।[8] अल्लाह ने पैगम्बरो को भी कृपा करके ही इस जहान (जगत) मे भेजा है,[9] और स्वय कुरान भी उसकी दया की अभिव्यक्ति है।[10]

अत. हम कह सकते हैं कि ईश्वर की कृपा से ही अखिरत मे मनुष्य का उद्धार हो सकता है। यद्यपि की ईश्वरीय कृपा सबके लिए है फिर भी जिन्होने अपने तन-मन-धन को ईश्वरार्पित कर दिया है, उन पर उसकी कृपा विशेष रूप मे होती है, और वे उसका दीदार (साक्षात्कार) पाने मे सफल होते है। मनुष्य द्वारा स्वय की मुक्ति हेतु किया गया आत्म-समर्पण भी अखिरत

---

1 कुरान- 4 76
2 कुरान- 2 190—193
3 कुरान- 9 9
4 डॉ० बी० एन० सिंह विश्व धर्मदर्शन की समस्याये, पृष्ठ - 241
5 वही, पृष्ठ - 241
6 डा०नवी- डेवेलमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ - 35
7 एम० ए० के० आजाद- दी तरजुमन अल् कुरान (भाग-1), पृष्ठ - 47
8 वही, पृष्ठ - 47—48
9 कुरान- 21 107
10 कुरान- 10 58, 45 20

मे तभी सफलीभूत हो सकता है, जब उसकी ईश्वर की अनन्त मोक्षदायिनी कृपा मे पूर्ण आस्था होगी। अन्यथा उसकी कृपा मे आस्था के अभाव मे उसका आत्म-समर्पण भी तुच्छ ही साबित होगा।

अत ईश्वर की अनन्त असीम उद्धारक कृपा मे विश्वास लाना प्रत्येक मुसलमान का धर्म हे। वैसे वही मनुष्य उसकी कृपा का प्रिय पात्र है जो स्वय को उसके सम्मुख अर्पण कर देता है। मुस्लिम रहस्यवादी दार्शनिको के अनुसार ईश्वर की कृपा मनुष्य को उसके निजी प्रयासो के ही फलस्वरूप प्राप्त होती है।[1] ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य को मुक्ति नही मिल सकती हे। ईश्वर विवेक पूर्ण सत्ता है।[2] परम न्याय प्रिय है।[3] ईश्वर की कृपा सभी जीवो पर क्रिया शील हे, परन्तु भिन्नता मनुष्यों की भावना और सामर्थ्य की योग्यता के कारण हे। देवी कृपा उन्हे ही मिलती है, जो उसके योग्य होते है। मानवीय प्रयास देवी कृपा के लिए मात्र याचना तक ही सीमित है।

सदाचार

लोक मे सुख और शान्ति का साधन सदाचार है। सदाचार को हम सामाजिक सद्‌गुण कहते हैं। सामाजिक सद्‌गुण है- पवित्रता सयम, शुद्धता, क्षमा, न्याय, प्रेम, दया, दान, सहानुभूति, विनम्रता, कृतज्ञता, परोपकार, भ्रातृभाव आदि। इसी प्रकार अपवित्रता असयम, क्रोध, अहकार, कृतघ्नता, स्वार्थपरता आदि को दुर्गुण माना गया है। कुरान मे कहा गया है- ब्याज लेना महा पाप है।[4] कजूसी पाप है, परन्तु कुरान मे अतिव्यय को भी पाप माना गया है।[5] व्यर्थ रक्तपात मत करो, जुआ शराब से बचने की बात पवित्र कुरान मे कहा गया है।[6] इस प्रकार के अनेक आदेश कुरान में हैं, जिनका पालन किया जाना व्यक्ति के आत्मिक विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास के लिए भी श्रेयस्कर है।[7] सदाचार का पालन किये बिना मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन सफल नहीं हो सकता है, और न ही उसे अखिरत में मोक्ष मिल सकता है।

---

1 डॉ० नदवी- डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया, पृष्ठ 35

2 कुरान- 2 284, 11 111, 21 47

3 कुरान- 24 58, 48 4

4 कुरान- 3 14

5 कुरान- 2 27

6 कुरान- 4 29, 5 90, 6 108, 8 27, 16 90—91

7 कुरान- 2 83, 4 58, 5 48, 13 20

निष्कर्ष

हिन्दू, ईसाई एव इस्लाम धर्म में ईश्वर के स्वरूप सम्वन्धी उपलव्ध सामग्रियों के विश्लेषण विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उक्त तीनों धर्मो मे ईश्वर सम्बन्धी विचारो में समानता है। इन तीनों धर्मो के अनुसार समूचे ब्रह्माण्ड का रचयिता तो एक ही है, वह एक ही नूर है, एक ही प्रकाश है, एक ही चेतना है, एक ही शक्ति है, एक ही सत्ता है। उसकी निराकार रूप में में वंदना करें या साकार स्वरूप की आराधना करे, उसे शून्य रूप में माने, या उसका ध्यान धरें, उसे नाम से स्मरण करें या किसी भी पूजाघर या इवादतगाह मे उस अनाम को प्रणाम करे, चाहे सजदा करें। शुद्ध एवं सच्चे अन्त:करण से जैसी जिसकी मान्यता हो, उसे पुकारे, अर्चना करे या शीश झुकायें, हमारी आराधना, हमारा सजदा पहुँचता उसी एक नूर तक है। जैसे विभिन्न देशों में, विभिन्न समाजों मे पिता को पुकारने के सम्बोधन अलग-अलग होते हैं, बापू, वाबू जी, पापा, डैडी, अव्वा आदि। सम्बोधन भले ही भिन्न-भिन्न है, किन्तु हर सम्बोधन है तो जन्मदाता पिता के प्रति ही। उसी प्रकार इन धर्मो में ईश्वर के स्वरूप की विभिन्न अवधारणा होने से या विभिन्न सम्बोधन तथा विभिन्न पूजाघर तथा पूजा पद्धति होने से ईश्वर अनेक नहीं हो जाते, वह अलौकिक नूर तो एक ही है, विभिन्न धर्म या मत उस तक पहुँचने, या उसे जानने के भिन्न-भिन्न रास्ते भर हैं। जैसे- सारी नदियॉ समुद्र में समाहित होती हैं, उसी प्रकार समस्त धर्म एवं पंथ भी हमें एक ईश्वर की ओर ले जाते हैं।

धार्मिक दृष्टि से तीनो धर्मो में समानता है, क्योंकि तीनों धर्म ईश्वरवादी धर्म हैं। तीनों धर्मो का आधार स्तम्भ ईश्वर ही है। मानव जीवन के लिए धर्म बहुत जरूरी है, और धर्म का केन्द्र बिन्दू है ईश्वर। मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह धर्म के बिना रह नहीं सकता है। धर्म के बिना हम किसी समाज की कल्पना भी नही कर सकते हैं। धर्म ने मनुष्य को वह आध्यात्मिक शक्ति प्रदान की है, जिसके अभाव में वह भौतिक उन्नति नही कर पाता। इस प्रकार ईश्वर धर्म के मूल में है। ईश्वर और धर्म में विश्वास मनुष्य में शक्ति का संचार करते है। मनुष्य पूर्णत समर्थ नही है। जीवन मे वह कभी न कभी स्वयं को अपूर्ण और असहाय पाता है। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्त, आदर्श उसे इस स्थिति से छुटकारा नहीं दिला पाते हैं। ईश्वर और अपने धर्म पर विश्वास रखकर ही मनुष्य पुनः ऊर्जा पाता है।

प्रत्येक धर्म का कोई न कोई धर्म ग्रंथ, धर्म प्रतीक एवं पूजा स्थल होता है। धर्मग्रंथों में प्रवर्तकों की जीवनियॉ, उनकी शिक्षाये तथा उनकी धार्मिक उपलब्धियो का उल्लेख होता हे। धार्मिक प्रतीकों को हर शुभ अवसर पर अपनाया जाता है। इसी प्रकार पूजा-स्थल पर अपने-अपने आराध्य की पूजा या उपासना की जाती है। इस दृष्टि से भी उक्त तीनों धर्मो मे समानता है। तीनों धर्मो के अपने-अपने धर्म ग्रंथ, धर्म प्रतीक एव पूजा स्थल है।

हिन्दू, ईसाई एवं इस्लाम धर्म में सर्वोच्च सत्ता के लिए प्रयुक्त विशेषणों में भी समानता है। हिन्दू धर्म मे परमसत्ता के लिए ईश्वर, ईसाई धर्म में 'गॉड' तथा इस्लाम धर्म में 'अल्लाह' विशेषण का प्रयोग किया गया है। 'ईश्वर' शब्द का शाब्दिक अर्थ है-'शासन करनेवाला' अतः ईश्वर वह है, जो सम्पूर्ण जीव-जगत पर शासन करता है। दूसरी तरफ वाइबिल में प्रयुक्त (God) 'गॉड' शब्द भी समान अर्थपरता है। गॉड (God) तीन अक्षरो के सहयोग से बना है, जिसका अर्थ होता है-उत्पादक, चालक और विध्वसक (G = Generator, O = Operater, D = Destrocter) अतः गॉड वह है जो जीव एवं जगत का उत्पादक, पोषक एव संहारक है। कुरान में भी 'अल्लाह' नाम ऐसी सत्ता का संकेत करता है, जो सम्पूर्ण विश्व का शासक (हाकिम) है। साथ ही साथ वह सर्वथा 'इलाह' (पूज्य) भी है। अतः ईश्वर, गॉड एवं अल्लाह में नाम की दृष्टि से भी समानता है। तीनों ही धर्मों में ईश्वर या गॉड या अल्लाह के अनेक नाम मिलते हैं, जो एकमात्र परमसत्ता के गुण, शक्ति, ऐश्वर्य, कार्य आदि को अभिव्यक्त करते हैं। जिस प्रकार हिन्दू धर्म वेदवाक्य-"एकं सद् विप्रां बहुधा वदन्ति" (अर्थात् उसी को भिन्न-भिन्न विद्वान भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।) को मान्यता देते हैं, उसी प्रकार से बाइबिल में भी एक ईश्वर की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है- मेरे पहले कोई ईश्वर अवस्थित नहीं था, और न कोई मेरे बाद होगा। मै ईश्वर हूॅ, और अन्य कुछ नही है। मैं ईश्वर हूॅ, और मेरे समान कोई दूसरा नहीं है।" ठीक इसी से मिलता जुलता उल्लेख कुरान मे भी मिलता है "सुन्दर नाम उसी के हैं और उसे जिस नाम से चाहो पुकारो।"

जिस सर्वोच्च सत्ता को हिन्दू धर्म मे आदि और अन्त, स्रष्टा और संहर्ता, रुद्र और शिव, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान, अद्वितीय और निराधार, निर्दोष और अति पवित्र, स्वामी और संरक्षक, पुरस्कारदाता और शरणदाता, पालनकर्ता और उद्धारक, मधुर और सर्वगुण सम्पन्न, अव्यक्त और व्यक्त, भव और हर, यम और क्षमादान, नित्य और सत्य, स्नेही और मित्र कहा गया है। उसी सत्ता को बाइबिल में सर्वशक्ति सम्पन्न,

व्यक्तित्वपूर्ण, करूणामय, प्रेममय, क्षमाशील, विश्व का नैतिक शासक, पिता, दुर्बलों एव पीड़ितों का संरक्षक, परोपकारी परमपवित्र, विश्व का सचालक एवं नैतिक स्वामी कहा गया है। हिन्दू धर्म क ईश्वर और ईसाई धर्म के गॉड को इस्लाम धर्म में अल-वसीर, अल-अहद, अल-समद, अल-आखिर, अल-जाहिर, अल-कदीर, अल-अलीम, अल-हयय, अल-समद, अल-सुब्हान, अल रहीम, अल-करीम, अल-रब, अल-हमीद इत्यादि सम्वोधनो से सम्वोधित किया गया है। जिस अर्थ को व्यक्त करने के लिए हिन्दू धर्म में परम या महा, परमेश्वर, महादेव, भगवान, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि शव्दों का प्रयोग हुआ है, उसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए ईसाई धर्म में परमात्मा या परमपिता, प्रभु ईसा और पवित्रात्मा आदि शब्द आये है। ठीक इसी प्रकार इसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए कुरान में अकबर, अल्लाहो-अकबर कादिर आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

तीनों ही धर्मो में ईश्वर को विश्वव्यापी तथा विश्वातीत दोनों माना गया है। साथ ही साथ उसे करुणाकर भी माना गया है, जो करुणा से प्रेरित होकर अपने भक्तों का उद्धार करता है। लोकोपकार भी तीनों धर्मो में ईश्वर का एक आवश्यक गुण माना गया है। हिन्दू धर्म कहता है कि ईश्वर जगत का रचयिता मात्र नहीं है, बल्कि वह अंतरंग मित्र और पथप्रदर्शक भी है। जब निर्बल और आर्त्तप्राणी उसे पुकारते है तो किसी अज्ञात शक्ति का करुणामय सहायक हाथ उन्हें सम्भालने के लिए प्रकट हो जाता है। बाइबिल में कहा गया है कि ईश्वर जीवों की, पापियों की गल्तियों को क्षमा कर देता है। वह पापियों का उद्धारक है। वड़ा से वड़ा अपराधी व्यक्ति भी यदि उसकी शरण में जाकर क्षमा याचना करता है, तो वह (ईश्वर) उसे भी क्षमा कर देता है। जिस प्रकार खाने-पीने और मौज उडाने वाले पुत्र को एक पिता क्षमाकर देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी व्यक्तियो के दोषों को क्षमा कर देता है। इसी प्रकार कुरान का स्वर्गस्थ अल्लाह भी केवल कठोर शासक ही नहीं, अपितु सबका रक्षक, उदार एव दयालु है। अपने भक्तों पर उसकी असीम कृपा होती है।

हिन्दू, ईसाई एव इस्लाम तीनो धर्मो में ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि तीनों ही मतों में जीव और ईश्वर के बीच वैयक्तिक सम्वन्ध है। जीव ईश्वर से प्रेम करता है, उसकी पूजा करता है, उसकी निकटता को प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयास करता है और उसके दीदार (साक्षात्कार) होने पर परम संतोष का अनुभव करता है। तीनो धर्मो में ईश्वर के व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्व इस बात मे है कि ईश्वर अपने प्राणियों की पुकार का उत्तर देता है। ईश्वर भक्त की उपासना को ग्रहण करता है, मानव पुकार को सुनता है तथा मूल्यों

की सुरक्षा एव वृद्धि करता हे। अत. उसमें व्यक्तित्व का आरोपण तर्क संगत हे।

अवतारवाद को लेकर भी तीनों में समानता है। हिन्दू एव ईसाई धर्म स्पष्ट रूप से अवतारवाद का समर्थन करते हे। यद्यपि कि इस्लाम अवतारवाद को प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं मानता, लेकिन अवतार के जो प्रयोजन माने जाते है, उनकी पूर्ति के लिए रसूलो की भूमिका को पर्याप्त मानता है। अवतार के प्रयोजन के विषय मे कहा गया है कि जव-जव धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म वढ़ता है, तव-तव अनाचार को मिटाने और धर्म को उवारने के लिए ईश्वर युग-युग में संसार में अवतार लेता है। क़ुरान में भी इसके समानार्थक वाक्य मिलते हैं, जैसे- 'वले कुल्ले को मिन्हाद', अर्थात् सब कौमो के लिए हिदायत करने वाले भेजे गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्व के लगभग सभी धर्म यह मानते है कि जगत में जब पाप बढने लगता है और पुण्य का क्षय होने लगता है तो परमात्मा की ओर से धर्म को दृढ़ करने के लिए अवतारी पुरुषों (जैसे-राम, कृष्ण, अर्हत बुद्ध, रसूल, मसीह, महावीर आदि) को जगत् में भेजा जाता है। तीनों ही धर्मों की मूल मान्यता एकेश्वरवाद है। तीनों ही यह मानते हैं कि ईश्वर के समान दूसरी कोई सत्ता नहीं है। ईश्वर की सत्ता को तर्कों को द्वारा सिद्ध करने का प्रयास तीनों ही धर्मो में किया गया है।

जीव का स्वरूप एवं ईश्वर के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में भी हिन्दू, ईसाई एवं इस्लाम धर्म में अनेक बिन्दुओ पर समानता है। तीनो ही धर्मों में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है और उसे मानवीय शरीर और विभिन्न इन्द्रियो से भिन्न माना गया है। यही जीवन का सारतत्व है। शरीर एवं इन्द्रियों की समस्त क्रियायों का सचालक है। इसके अभाव मे शरीर अकर्मण्य है। आत्मा के संसर्ग में आने पर मानव शरीर को जीवन प्राप्त होता है, और शरीर से उसके पृथक हो जाने पर मनुष्य निर्जीव हो जाता है।

तीनो ही धर्मो मे आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी माना गया है। यह एक आध्यात्मिक या अभौतिक तत्व है। तीनों धर्म जीवात्मा की अनेकता में विश्वास करते है। प्रति शरीर के भेद से जीवात्मा का भेद भी मान्य है। तीनो ही मतो में आत्मा को निर्विकार और निरवयव कहा गया है। जिस प्रकार से भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष नेत्र से होता है, उस प्रकार का प्रत्यक्ष जीवात्मा का इन्द्रियो के द्वारा सम्भव नहीं है। हिन्दू, ईसाई एवं इस्लाम तीनो ही धर्म यह मानते है कि आत्मा शरीर पर शासन करती है, और वही शरीर का स्वामी है। शरीर में होने वाले समस्त सुख-दु:ख का अनुभव कर्ता आत्मा ही है।

जहॉ तक ईश्वर एवं जीव के सम्वन्ध का प्रश्न है, तीनों में समानता है। तीनो ही धर्मों मे ईश्वर की कृपा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ईश्वर की कृपा व्यक्ति का पथ प्रदर्शन करती है। ईश्वर की कृपा के विना मनुष्य कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। ईश्वर की कृपा एवं संकल्प की स्वतन्त्रता के वीच एक अभूतपूर्व समन्वय है। तीनो ही धर्म यह मानते हैं कि ईश्वर जीव का शासक और नियामक है। ईश्वर के प्रभाव से ही जीव की समस्त क्रियाये परिचालित होती है। जीवात्मा अपनी क्रियाशीलता के लिए ईश्वर पर पूर्णरूपेण निर्भर है। ईश्वर के निर्णय के आधार पर जीव को शरीर प्राप्त होता है। हिन्दू धर्म में जीवात्मा का ईश्वर के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है, जिस प्रकार का सम्बन्ध शरीर और आत्मा के बीच होता है। अतः जीवात्मा का ईश्वर से अविभाज्य सम्बन्ध है। बाइबिल मे भी कहा गया है- महान ईश्वर ने मनुष्य को भूमि की धूलि से रचा और उसके नथूनो में श्वॉस फूॅक दी और मनुष्य जीवित आत्मा वन गया। कुरान में भी जीवात्मा को ईश्वर का अंश वतलाया गया है, क्योकि ईश्वर जीव का सृजन कर उसमें अपनी रूह फूॅक देता है। इस प्रकार सामान्य दृष्टि से तीनों धर्मों में जीव एवं ईश्वर में अंशा-अंशी-भाव-सम्वन्ध पाया जाता है।

ईश्वर-जगत सम्बन्ध मे भी तीनों धर्म समान दृष्टि रखते हैं। तीनों ही धर्मो में जगत को सत्य माना गया है, तथा उक्त धर्मों ने अपने-अपने ढंग से जगत की सत्यता प्रतिपादित की हैं। जगत रचना के विषय में तीनों धर्मों का यह मत है कि जगत ईश्वर की रचना है। बाइबिल में कहा गया है कि ईश्वर ने सात दिनों में सृष्टि की रचना की है। इस्लाम भी मानता है कि जगत सृजित तो है ही, साथ ही साथ जगत और उसकी सभी वस्तुएं यथार्थ है और एक निश्चित सत्ता को धारण करती है। हिन्दू धर्म में भी कहा गया है कि जगत ईश्वर की लीला है और उसी के अश से वना है। अत· जगत ईश्वर के सत् अंश चित् एवं अचित् से बना है। सारा जगत ईश्वर के समान सत्य है। तीनो ही धर्म यह मानते है कि जगत ईश्वर पर आधारित है। ईश्वर के बिना जगत के अस्तित्व की कल्पना असम्भव है। ईश्वर जगत से परे होकर भी जगत से अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। वह जगत का स्रष्टा, रक्षक, पालनकर्ता और सहर्ता है।

पारलौकिक जीवन की कल्पनाये अर्थात् स्वर्ग और नरक (जन्नत और दोजख) की मान्यता तीनों धर्मों में पायी जाती है। मनुष्य को शुभ-अशुभ कर्मों के फल के रूप मे ये प्राप्त होते है। यदि मनुष्य शुभ कर्म करता है तो वह स्वर्ग का भागी होता है, और यदि वह दुष्कर्म करता है तो नरकगामी बनता है। एक तरफ जहाँ तीनो

धर्मो में स्वर्ग का वैभवपूर्ण वर्णन मिलता है, वही दूसरी तरफ तीनों धर्मो मे नरक का भयावह चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

अशुभ की समस्या और दुःखादि के अस्तित्व की व्याख्या के सम्बन्ध मे तीनो धर्मो में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। तीनों मतों में जगत मे व्याप्त दुःख और विषमताओं के लिए ईश्वर को दोषी या उत्तरदायी नही माना गया है। जगत में व्याप्त दुःखों के अस्तित्व से ईश्वर पर किसी प्रकार के वैषम्य और निर्दयत्व के दोष का आरोपण नही किया जा सकता है, क्योंकि ईश्वर जीवों के कर्मानुसार ही फल प्रदान करता है। तीनों ही धर्म यह मानते हैं कि मनुष्य इच्छा-स्वातन्त्र्य से युक्त है, जो स्वयं ईश्वर द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ है, ओर इसके बल पर मनुष्य शुभाशुभ कर्मो का चुनाव स्वयं करता है, क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य को जानने, इच्छा करने और प्रयत्न करने की स्वतन्त्र शक्ति प्रदान की है। अशुभ की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए तीनों धर्मो की मान्यता है कि दुःख, असन्तोष एवं व्याधि जो प्राकृतिक विपत्तियां है, मनुष्य को सर्वोच्च शुभ की ओर अग्रसर होने एवं उसकी खोज करने के लिए प्रेरित करती है। वाह्य दृष्टि से ये भले ही अनिष्ट, दुःखकर एवं कष्टप्रद है, किन्तु आन्तरिक दृष्टि से ये अध्यात्म की ओर ले जाने का मार्ग प्रशस्त करते है।

हिन्दू, ईसाई एवं इस्लाम धर्म मानव जीवन के चरम लक्ष्य के विषय में भी एकमत हैं। तीनों का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष की अवस्था में मनुप्य केवल सांसारिक दुःखों एवं कष्टों से छुटकारा नही प्राप्त करता है, बल्कि वह ईश्वर साक्षात्कार के आनन्द का उपभोग करते हुए पूर्ण संतोष और शाश्वत आनन्द की अनुभूति करता है। तीनों ही धर्म यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य मोक्ष अथवा ईश्वर साक्षात्कार प्राप्त करने मे समर्थ है, क्योकि ईश्वर ने उसे जगत मे सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप में निर्मित किया है, और उसे सर्वोत्तम मानसिक एवं भौतिक प्रकृति प्रदान की है। जब मनुष्य भौतिक जगत के सुख-दुःख का भलि-भॉति अनुभव कर लेता है तव उसे ज्ञात होता है कि यह भोतिक सुख दु ख रहित नही है। अत. इस जीवन का परमलक्ष्य भौतिक सुख नही, अपितु मानसिक सुख है जो ईश्वर साक्षात्कार से ही प्राप्त हो सकता है।

आध्यात्मिक अनुशासन एव नैतिक शुद्धता को मोक्ष प्राप्ति हेतु आवश्यक माना गया है। हिन्दू धर्म में विवेचित मोक्षमार्गो-ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग और योगमार्ग का ईसाई धर्म में वर्णित विश्वास, अनुग्रह, ईश-प्रेम, भ्रातृप्रेम, ईश्वर कृपा, क्षमा एवं हृदय की पवित्रता, नैतिक आचरण तथा इस्लाम धर्म में वर्णित मोक्ष मार्गो

नमाज, रोजा, जकात, और हज मे पर्याप्त साम्य है। तीनों धर्मों में मोक्ष मार्गो का विधान मानव जीवन में नैतिक पवित्रता की स्थापना तथा जीव को अपने वास्तविक स्वरूप के बोध के लिए किया गया है। उक्त सभी साधन जागतिक भ्रमो और समस्त वन्धनो से आत्मा को छुटकारा दिलाने में सहायता करते है, और ईश्वर साक्षात्कार के लिए आत्मा का मार्ग प्रशस्त करते है। उक्त तीनों धर्मो में ईश्वर साक्षात्कार या पाप मुक्ति के समस्त साधनों में दैवी कृपा को विशेष महत्व देते हुए उसे परम साधन स्वीकार किया गया है। अन्य सभी साधन तभी सफलीभूत हो पाते हैं, जव उन्हें ईश्वरीय कृपा मिले।

उपरोक्त समानताओं के बावजूद हिन्दू, ईसाई, एवं इस्लाम धर्म में ईश्वर के स्वरूप को लेकर कुछ मतभेद भी है। लेकिन यदि उन मतभेदो पर गहराई से विचार किया जाय तो वे मतभेद निर्मूल साबित होते हैं।

हिन्दू, ईसाई एवं इस्लाम धर्म में ईश्वर के स्वरूप से सम्वन्धित सामग्रियों का जो संकलन, विश्लेषण एवं विवेचन किया गया है, उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विभिन्न प्राकृतिक एव सामाजिक परिवेश मे विकसित धर्मो के विभिन्न विचारों को एक दूसरे के समीप लाया जा सकता है और एक दूसरे के प्रति विरोध के भाव को दूर किया जा सकता है, क्योंकि हमने इस शोध-प्रबन्ध में देखा है कि हिन्दू, ईसाई एवं इस्लाम तीनों धर्मों के प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश एक दूसरे से नितान्त भिन्न है, फिर भी ईश्वर के स्वरूप के विषय में इनमें बहुत अधिक समानता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

लेखक	पुस्तक का नाम एव प्रकाशक	वर्ष/संस्करण
कृष्णन दूबे	भारत के धर्म और दर्शन, साराश प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली।	1988 ई०, प्रथम स०
डॉ किशोरदास स्वाम	भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमासा, स्वामी रामतीर्थ मिशन, देहरादून।	1989 ई०, प्रथम सं०
डॉ० अशोक कुमार लाड	भारतीय दर्शन में मोक्ष चितन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।	1973 ई०, प्रथम सं०
श्री कृष्ण दत्त भट्ट	धर्मों की फुलवारी, सर्वसेवा संघ प्रकाशक राजघाट, वाराणसी।	1981 ई०, छठॉ स०
डॉ० रणजीत सिंह	धर्म की हिन्दू अवधारणा, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।	1977 ई०
डॉ० भोजराज द्विवेदी	हिन्दू मान्यताओं का वैज्ञानिक आधार, डायमण्ड पॉकेट बुक्स नई दिल्ली।	2002 ई०
डॉ० भूपेन्द्र कुमार मोदी	एक ईश्वर, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, नई दिल्ली।	1999 ई०, प्रथम स०
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	ईश्वर विश्वास और उसकी फल श्रुतियाँ, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा विष्णु पुराण, संस्कृत संस्थान, बरेली।	तृतीय संस्करण
डॉ० कर्ण सिंह	हिन्दू दर्शन, एक समकालीन दृष्टि, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, नई दिल्ली।	1998 ई०, द्वितीय सं०
तनसुख राम गुप्त	हिन्दू धर्म परिचय, सूर्य-भारती प्रकाशन, दिल्ली।	1988 ई०
डॉ० राधाकृष्णन	हमारी सस्कृति, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली	1995 ई०
	धर्म और समाज, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	1962 ई०
	प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, वही	1970 ई०
	सत्य की ओर, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	1969 ई०
	भारतीय दर्शन(दोनो भाग), राजपाल एण्ड सस दिल्ली।	1969 ई०
प्रभाकर माचवे एव सुरेन्द्र नारायण दफ्तुआर	विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना।	1988 ई०, द्वितीय सं०
डॉ० रामनारायण व्यास	धर्म दर्शन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी, भोपाल।	1999ई०, तृतीय सं०

लेखक	पुस्तक का नाम एवं प्रकाशक	वर्ष/संस्करण
डॉ० भगवान मिश्र	विश्व के प्रमुख धर्म, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।	2002 ई०
याकू मसीह	तुलनात्मक धर्मदर्शन, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली। पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली।	1997 ई० 1994 ई, पाँचवा स०
डॉ० हृदय नारायण मिश्र	विश्व धर्म, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद।	1996 ई०
डॉ० बी० एन० सिंह	विश्व धर्म दर्शन की समस्यायें, स्टूडेण्ट्स फ्रेण्डस एण्ड कम्पनी, लंका, वाराणसी।	1994 ई०, प्रथम स०
डॉ० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा	धर्म दर्शन की रूपरेखा, मोती लाल बनारसी दास प्रकाशन, दिल्ली।	1990 ई०
डॉ० लक्ष्मी निधि शर्मा	धर्म दर्शन की रूपरेखा, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद।	1997 ई०
डॉ० डी० डी० पाण्डेय	धर्म दर्शन का सर्वेक्षण, प्रामानिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद।	1989-90 ई०,प्रथम सं०
डॉ० चन्द्रधर शर्मा	भारतीय दर्शन, मोती लाल बनारसी दास प्रकाशन, दिल्ली।	1195 ई०, द्वितीय सं०
डॉ० उमेश मिश्र	भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।	1990 ई०
डॉ० यदुनाथ सिन्हा (अनु०डॉ०गोवर्धन भट्ट)	भारतीय दर्शन, मोती लाल बनारसी दास प्रकाशन, दिल्ली।	2000 ई०, तृतीय सं०
डॉ० नन्द किशोर देवराज	भारतीय दर्शन, उ०प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ।	1983 ई०, तृतीय सं०
डॉ०सुखदेव सिंह शर्मा (सम्पा०)	धर्म दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।	1988 ई०, तृतीय सं०
डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी	मध्यकालीन दर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, इलाहाबाद।	1991 ई०, द्वितीय सं०
राहुल साकृत्यायन	दर्शन दिग्दर्शन, कितान महल, इलाहाबाद। इस्लाम धर्म की रूपरेखा, किताब महल, इलाहाबाद।	1968 ई० 2001 ई०
डॉ० राममूर्ति शर्मा	अद्वैत वेदान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।	

लेखक	पुस्तक का नाम एवं प्रकाशक	वर्ष/संस्करण
योहन फाइस	ईसाई दर्शन, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर।	
एल० फ्रेंकलिन ह्राइट	पुराना नियम का धर्म विज्ञान, मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, बरेली।	1978 ई०
क्लेरेंस एल० वुड	नया नियम की भूमिका, मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, इलाहाबाद।	1969 ई०
सादिक,इम्मानुएल और त्रिहर्न	बाइबिल अध्ययन की सहायक पुस्तिका, हिन्द एस० पी० सी० के० दिल्ली।	1962 ई०
कामिल बुल्के (अनुवादक)	न्यू टेस्टामेण्ट(नया विधान), धार्मिक साहित्य समीति, राँची।	1977 ई०
योहन एच० धुलिया	नया नियम की पृष्ठभूमि, मसीही आध्यात्मिक साहित्य समीति, लखनऊ।	1967 ई०
स्टीफन नील(सम्पादक)	बाइबिल ज्ञानकोश, मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, बरेली।	1971 ई०
शिलानन्द हेमराज (अनुवादक)	बाइबिल (हिन्दी), भुवणवाणी ट्रस्ट, मौसम बाग (सीतापुर रोड) लखनऊ।	1989 ई०, प्रथम सं०
मो० फॉरूख खॉ (अनुवादक)	कुरान मजीद(हिन्दी अनुवादक), मक्तबा अल-हसनात, रामपुर उ०प्र०।	1966 ई०
डॉ० नन्द कुमार अवस्थी (अनुवादक)	कुरान शरीफ(हिन्दी अनुवादक), भुवनवाणी प्रेस, रानी कटरा, लखनऊ।	1969 ई०
डॉ० फारूक खॉ	हदीस सौरभ (अनुवादक व व्याख्या सहित), म०म०ज०,दिल्ली	1970 ई०
डॉ० भगवान दास	सब धर्मों की बुनियादी एकता, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।	सं० 2017
एम० ए० के० आजाद	दी तरजुमन अल-कुरान(भाग-1), ए०पी०एच०, बाम्बे।	1965 ई०
हेनरी कार्बिन	क्रिएटिव इमैजिनेशन इन दी सूफीज्म ऑफ इब्न अरबी, आर० के० पॉल लि०, लंदन।	1969 ई०

लेखक	पुस्तक का नाम एवं प्रकाशक	वर्ष/संस्करण
टी०जे०डी० ब्योर	दी हिस्ट्री ऑफ फिलॉस्फी इन इस्लाम, डी० पब्० लि०, आई०एन०सी०, न्यूयार्क।	1967 ई०
डॉ० मु० इकबाल	दी रिकन्स्ट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थॉट इन इस्लाम अशरफ प्रेस, लाहौर।	1962 ई०
मु० अली	दी होली कुरान, दी इस्लॉमिक रिव्यू आफिस, इग्लैण्ड।	1917 ई०
	दी रिलिजन ऑफ इस्लाम, एस०चन्द एण्ड कम्पनी प्रा० लि० न्यू देलही।	
आर०ए० निकोलसन	स्टडीज इन इस्लामि मिस्टिसिज्म, दिल्ली।	1976 ई०
	दी मिस्टिसिज्म ऑफ इस्लाम, लंदन।	1914 ई०
डॉ० नबी	डेवलपमेण्ट ऑफ मुस्लिम रिलिजियस थॉट इन इण्डिया अलीगढ।	1962 ई०
	अल् गजाली कॉसेप्सन ऑफ तौहीद नूर मंजिल, डिग्गी रोड, अलीगढ।	1977 ई०
पी०एन श्रीनिवासाचारी	दी फिलॉस्फी ऑफ विशिष्टाद्वैत, अडयार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, मद्रास।	1970 ई०
मु० उमरूद्दीन	दी इथिकल फिलॉस्फी ऑफ अल् गजाली, अलीगढ़।	1962 ई०
सुन्दर लाल	गीता एण्ड कुरान, इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डो-मिडिल ईस्ट कल्चरल स्टडीज, हैदराबाद।	1957 ई०
टी०पी० ह्यूज	डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, डब्लू० एच० एलेन एण्ड कम्पनी 13, वाटरलू प्लेस।	1885 ई०
डॉ० वासुदेव अग्रवाल	वेद विद्या, काशीपुरी, वाराणसी।	
डॉ० ए०एच० अल्टेकर	दी सोर्सेज ऑफ हिन्दू धर्म, शोलापुर।	1952 ई०
ए०बी० कीथ	दी रिलिजन एण्ड फिलॉस्फी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषद, हर्बर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।	1925 ई०
डॉ० गोविन्द चन्द पाण्डेय	भारतीय संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।	1962 ई०

लेखक	पुस्तक का नाम एवं प्रकाशक	वर्ष/संस्करण
डॉ० खान बेंजामिन	दी कासेप्ट आफ धर्म इन बाल्मिकी रामायण, मुशीराम मनोहर लाल, नई सडक, नई दिल्ली।	1966 ई०
बाल गगाधर तिलक	गीता रहस्य, माधवराज प्रेस, पूना।	1969 ई०
ए० बार्थ	रिलिजन्स ऑफ इण्डिया, लन्दन।	1882 ई०
जी० एच० मीज	धर्म एण्ड सोसायटी, ग्रेट रसेल स्ट्रीट, लंदन।	1953 ई०
एस०के० मैत्रा	दी इथिक्स ऑफ दी हिन्दू, कलकत्ता यूनिवर्सिटी कलकत्ता।	1925 ई०
डॉ० आर०सी० हाजरा	स्टडीज इन द पुराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, ढाका।	1940 ई०
डॉ० पाण्डुरंग वामनकाणे	भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना।	
	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द- 1	1930 ई०
	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द- 2 , भाग - 1	1941 ई०
	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द- 2	1941 ई०
	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द- 3	1946 ई०
	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द- 4 , भाग - 1	1953 ई०
	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द- 5 , भाग - 1	1958 ई०
	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द- 2 , भाग - 1	1962 ई०
सायण माधव	सर्वदर्शन संग्रह, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना।	1951 ई०
सत्यानन्द	शाकर भाष्य(हिन्दी टीका), सत्यानंदी जी, वाराणसी।	सं० 2035
रामानुजाचार्य	श्री भाष्य (हिन्दी टीका), आचार्य श्री ल० गोस्वामी कृत, श्री निम्बार्काचार्य पीठ, प्रयाग।	सं० 2022
	गीता भाष्य (अनुवादक- हरिकृष्ण गोयनका), गीताप्रेस, गोरखपुर।	1941 ई०
	वेदान्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।	1954 ई०
	वेदान्तदीप, चौखम्बा, प्रकाशन, वाराणसी।	प्रथम सं०
डॉ० शामा शास्त्री	कौटिल्य अर्थशास्त्र, मैसूर।	1924 ई०

पुस्तक का नाम	प्रकाशक	वर्ष/संस्करण
मनुस्मृति	निर्णय सागर प्रेस संस्करण, बम्बई।	1929 ई०
स्वामी राम सुखदास	गीता दर्पण, गीता प्रेस, गोरखपुर।	10वा स०
ऋग्वेद सहिता	पूज्यपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत।	1957 ई०
अथर्ववेद संहिता	पूज्यपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत।	1957 ई०
अग्नि पुराण	बिबोलिथिका, ऐसियाटिक सोसायटी, बंगाल, जिल्द-1,2,3	1876 ई०
अवेस्ता	तारापुर वाला, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, मिशनप्रेस।	1922 ई०
वैदिक इण्डेक्स (हिन्दी संस्करण)	चौखम्बा संस्कृत सेरीज, ग्रंथमाला, 46, जिल्द 1 व 2	1953 ई०
कामसूत्र(वात्सायन कृत)	डॉ० शामा शास्त्री, मैसूर।	1919 ई०
बृहदारण्यक उपनिषद	नवलकिशोर प्रेस(बुक डिपो), लखनऊ।	प्रथम सं०
छांदोग्य उपनिषद	गीता प्रेस, गोरखपुर।	प्रथम सं०
तैत्तरीय उपनिषद	गीता प्रेस, गोरखपुर।	सं० 2034
माण्डूक्य उपनिषद	गीता प्रेस, गोरखपुर।	सं० 2032
मुण्डको उपनिषद	नवलकिशोर प्रेस (बुक डिपो), लखनऊ।	1923 ई०
कठोपनिषद	गीता प्रेस, गोरखपुर।	सं० 2035
केनोपनिषद	मोती लाल, बनारसी दास, वाराणसी।	1963 ई०
श्वेताश्वेतर उपनिषद	गीता प्रेस, गोरखपुर।	सं० 2033
भागवतपुराण (दो भाग)	गीता प्रेस, गोरखपुर।	सं० 2033
शाण्डिल्यभक्ति सूत्र	भारत मनीषा प्रकाशन, जगमबाड़ी, वाराणसी।	प्रथम सं०